कृष्णदास संस्कृत सीरीज २०७

श्रीमन्नीलकण्ठनमूसतविरचितः

मनुष्यालयचन्द्रिका

(प्राचीन भारतीय वास्तु–शिल्पशास्त्र)

सम्पादक एवं अनुवादक

डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू'

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

कृष्णदास संस्कृत सीरीज
२०७
***

श्रीमन्नीलकण्ठनमूसतविरचितः

मनुष्यालयचन्द्रिका

(प्राचीन भारतीय वास्तु-शिल्पशास्त्र)

भूमिका, समीक्षात्मक पाठ एवं सचित्र-सोदाहरण हिन्दी व्याख्या

सम्पादक एवं अनुवादक
डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू'

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी
वाराणसी

प्रकाशक : चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, विक्रम सम्वत् २०६३, सन् २००६

ISBN : 81-218-0200-8

© **चौखम्बा कृष्णदास अकादमी**
के. ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
निकट गोलघर (मैदागिन), पोस्ट बॉक्स नं० १११८,
वाराणसी - २२१००१ (भारत)
दूरभाष : ०५४२-२३३५०२०

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन, गोलघर (मैदागिन) के पास
पोस्ट बॉक्स नं० १००८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : आफिस : ०५४२-२३३३४५८
आवास : ०५४२-२३३४०३२ एवं ०५४२-२३३५०२०
e-mail : cssoffice@satyam.net.in
www.chowkhambasanskritseries.com

Krishnadas Sanskrit Series

207

***

SHRINILAKANTHANMUSAT'S

MANUSHYALAY CHANDRIKA

(An Indian Treatise on the construction of house and allied subject)

With an introduction; notes and Hindi commentary

Editor & Translator

Dr. Shrikrishna " Jugnu"

CHOWKHAMBA KRISHNADAS ACADEMY

VARANASI

Publisher : Chowkhamba Krishnadas Academy, Varanasi
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi

ISBN : 81-218-0200-8

© CHOWKHAMBA KRISHNADAS ACADEMY

K. 37/118, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagin), P.Box No. 1118
Varanasi-221001 (India)
Phone : 0542-2335020

Also can be had from :

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagin)
P.Box No. 1008, Varanasi-221001 (India)
Phone : Office : 0542-2333458,
Res. : 0542-2334032 & 0542-2335020
e-mail : cssoffice@satyarm.net.in
www.chowkhambasanskritseries.com

पुरोवाक्

भारतीय वास्तुशास्त्र विश्व की एक अनमोल धरोहर है। निखिल विश्व में भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है जहाँ पर वास्तु जैसी आवश्यकता के लिए प्रमाणों-सिद्धान्तों को विस्तार से लिखित रूप दिया गया। ऐसा ज्ञान अन्यत्र कदाचित् ही मिलेगा। यह मानव के उस उन्नत ज्ञान का आगार है जिसमें उसके सुखमय जीवन-यापन की लालसा के साथ ही सुखावास की भावना निहित है। यूँ तो जानवरों और पक्षियों तक ने अपने लिए उचित आवासों का निर्माण किया और भटकाव को विराम देने का यत्न किया तो मानव भला क्यों नहीं करें। कृषि के विकास के साथ ही मानवीय जीवन में एक अद्भुत ठहराव आया और उसने आवास की दिशा में अपना ध्यान आकर्षित किया।

भारतीय उपमहाद्वीप में हड़प्पादि के उत्खनन बताते हैं कि मानव ने आवास, नगरादि से अपनी सांस्कृतिक पहचान बनाने का प्रयास भी किया और प्रथमत: पञ्च तत्त्वों को महत्व देते हुए आवासीय सुविधा का विकास किया। इस प्रकार के कुछ नगर गत वर्षों में अरबसागर में भी खोजे गए गए हैं। निश्चय ही मानव ने अपने आवास के लिए बहुत गहन विचार किया और यथावश्यकता आवास को आकार दिया। ये आवास गृह से लेकर देवप्रासादादि भी रहे हैं।

शास्त्रों में कहा गया है कि स्त्री-पुत्र आदि के भोग, सुख, धर्म, अर्थ, काम को देने वाला, प्राणियों के सुख का स्थान और सर्दी, वायु, गर्मी आदि त्रासदियों से रक्षा-सुरक्षा करने वाला आवास ही है। विधिपूर्वक गृह निर्माणकर्ता को बावड़ी, देवालय आदि के निर्माण का पुण्य भी प्राप्त होता है, इसीलिए विश्वकर्मा आदि ने सर्वप्रथम गृहनिर्माण का आदेश प्रदान किया है- *स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्म्मार्थकामप्रदम् जन्तुनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुधर्मापहम्। वापीदेवगृहादिपुण्यखिलं गेहात्समुत्पद्यते गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विबुधा: श्रीविश्वकर्म्मादय:॥* कहा तो यह भी गया है कि पर्णशाला के निर्माण से कोटि गुना, मृण के गृह निर्माण से दस करोड़ गुना, इष्टिका के गृह से शत गुना और पाषाणों का गृह बनाने से अनन्त गुना पुण्य की प्राप्ति होती है- *कोटिघ्नं तृणजे पुण्यं मृण्मये दशसङ्गुणम्। ऐष्टिके शतकोटिघ्नं शैलेऽनन्तं फलं गृहे॥*

इसका सामान्य भाव यह है कि व्यक्ति को अपने के लिए शास्त्र सम्मत सुदृढ़ आवास का निर्माण करना चाहिए। यह आवास चिरस्थायी और सुखद होता है। इसी मान्यता को लेकर प्रत्येक काल में आवासों की सुदृढ़ता, सुन्दरता और स्थायित्व के लिए विविध प्रयास किए जाते रहे तथा इन प्रयासों ने वास्तु विज्ञान को विकास की वीथी से वैभव के विस्तृत व्योम की ओर अग्रसर किया। विविध ग्रन्थों के प्रणयन के लिए यही विचार आधार बना। पूर्व मध्यकाल तक तो राजप्रासाद के निर्माण के विभिन्न नियम तय हो गए तथा दरबारियों के साथ ही सेवकों-भृत्यों, जन सामान्य के लिए यथेष्ट भवनादि के निर्माण तथा स्थानादि के चयन के निर्देश दिए जाने लगे। मयमतम्, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, मानसार, विश्वकर्मीय, शिल्पशास्त्र, मनुष्यालयलक्षण, जयपृच्छा, मनुष्यालयसोपानम्, नारदशिल्पम्, काश्यपशिल्पम्, वास्तुतन्त्रम् अपरनाम विश्वकर्माप्रकाश, अपराजितपृच्छा, समराङ्गणसूत्रधार, प्रयोगमञ्जरी आदि शताधिक ग्रन्थों में इस प्रकार के विविध विचारों को प्रतिपादित किया गया है।

इसी क्रम की एक महत्वपूर्ण कड़ी है 'मनुष्यालयचन्द्रिका' जिसका प्रणयन दक्षिण भारत के सुन्दरतम प्रदेश केरल में राज्याश्रय में हुआ और यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि इस कृति और इसके कृतिकार नीलकण्ठन मूसत का बड़ा ही सम्मान हुआ होगा। तभी तो इसकी कई मातृकाएँ मिलती हैं। केरलादि के शिल्पी इसके सिद्धान्तों, निर्देशों के अनुसार गृहों और गृहावयवों का निर्माण करते रहे हैं। इस कृति के अध्ययन के बाद यह कहा जा सकता है कि इसका कृतिकार अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों, मतों का सुधी जानकार था और विविध मतों के शोधन, मनन के उपरान्त उसने इस कृति के प्रणयन की आवश्यता समझी होगी। वस्तुतः वह सुधी सम्पादक था। इस ग्रन्थ में अधिकांश श्लोक उसके मौलिक नहीं होकर नारायण नम्बूदिरीपाद कृत तन्त्रसमुच्चय, मानववास्तुलक्षण, देवालयचन्द्रिका आदि से लिए गए हैं। प्रस्तुत संस्करण में यथास्थान इसका सङ्केत किया गया है। इस प्रकार आकार में यह लघुकाय ग्रन्थ एक श्रेष्ठ सम्पादित ग्रन्थ है। इसमें विषय की गम्भीरता पूरी तरह लक्षित है। कृतिकार ने कहीं-कहीं पूर्ववर्ती निर्देशों की ओर भी दृष्टिनिक्षेप करने की बात कही है। उसने गर्ग, दक्षादि के निर्देशों का भी उल्लेख किया है। मय, मार्कण्डेय, कुमार, मन्वादि के जिन ग्रन्थों का उसने उल्लेख किया है, उनके उदाहरण तन्त्रसमुच्चय आदि की टीकाओं में उपलब्ध होते हैं।

इस कृति का प्रथम प्रकाशन त्रावनकोर के महामहीमश्रीमूलकराम वर्मकुलशेखर

महाराज के निर्देश पर 1917ई. में अनन्त शयन संस्कृत ग्रन्थमाला के अन्तर्गत 56वें क्रम पर हुआ था। तत्कालीन राजकीय मुद्रणालय के अधीक्षक ने इसका प्रकाशन किया। इसका सम्पादन त्रिवेन्द्रम स्थित संस्कृत पाण्डुलिपि प्रकाशन विभाग के कार्याध्यक्ष, प्रसिद्ध विद्वान महामहोपाध्याय श्रीमान् त. गणपति शास्त्री ने किया था। कुल 43 पृष्ठीय इस कृति को बिना किसी विशेष पृष्ठभूमि या विषय विश्लेषण के साथ प्रकाशित किया गया। अनन्त शयन संस्कृत ग्रन्थमाला में शिल्प विषयक यह दूसरी कृति थी। इससे पूर्व अज्ञातकर्तृक की 'वास्तुविद्या' का प्रकाशन हुआ था जिस पर बाद में पण्डित के. महादेव शास्त्री ने लघुविवृत्ति तैयार की और 1940ई. में इसे पुनर्प्रकाशित करवाया।

श्रीमान् गणपति शास्त्री को ही भारत में व्यवहार्य वास्तु ग्रन्थों का प्रथम उद्धारक माना जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। उनके द्वारा सम्पादित और संशोधित वास्तुविद्या, मयमतम्, शिल्परत्नम्, समराङ्गणसूत्रधार, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, विष्णुसंहिता आदि ग्रन्थ वास्तुशास्त्र के कलेवर को बहुत पुष्ट करते हैं। उनके द्वारा तैयार किए गए पाठ बहुत प्रामाणिक और शुद्ध सिद्ध हुए हैं। उनकी सम्पादन क्षमता उच्चकोटि की थी, यह बहुत दूरदर्शिता ही कही जाएगी कि श्री शास्त्री ने इनका पाठ देवनागरी लिपि में प्रकाशित करवाया। इसी कारण ये ग्रन्थ हिन्दी प्रदेशों तक भी पहुँचे अन्यथा बाद के कई एतद् विषयक सर्वोपयोगी महत्वपूर्ण ग्रन्थ क्षेत्रीय लिपियों में प्रकाशित होने के कारण अब भी अधिकांश देशवासियों के लिए अज्ञात, अपरिचित ही हैं। देवनागरी लिपि के साथ संस्कृत के महत्व को उन महाभाग ने सुस्थापित, प्रभविष्णुमयता पूर्वक प्रतिष्ठित किया।

कुछ वर्षों पूर्व उदयपुर में जीर्ण स्थिति में यह ग्रन्थ मेरे हाथ आया था। मैंने पहली दृष्टि में मात्र यही समझा था कि यह कोई गृह निर्माण विषयक ग्रन्थ होना चाहिए। मैंने इसका पाठ प्राप्त कर लिया और जब इसके विषय की गहनता में डूबना शुरू किया तो संस्कृत के प्रति अपने स्वल्पज्ञान पर क्षुब्ध भी हुआ। लेकिन, इसी ग्रन्थ ने मुझे संस्कृत पढ़ने की दिशा में भी प्रेरित किया। जिन कथित मनीषियों से इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य को समझने का प्रयास किया, उन्होंने हाथ ही खड़े किए। यह कहकर पल्लू झाड़ लिया गया कि यह तकनीकी विषय हैं अतः उनको इसकी जानकारी नहीं है। इसी प्रसङ्ग में यह भी सच है कि मैंने इस विषय को समग्रता से देखने का प्रयास किया तो पता चला कि भारत में वास्तुविषयक कई ग्रन्थ लिखे गए हैं लेकिन अधिसंख्य ग्रन्थ दुर्भाग्य से प्रकाशित नहीं हुए हैं। जो प्रकाशित हुए, उनको मैं देशभर के विद्वानों,

पुस्तकालयों और संग्रहालयों से पत्राचार कर प्राप्त करने का प्रयास करता चला गया। कहीं से छाया प्रति मिली तो कहीं से नकल मात्र। कुछ प्राच्य विद्या प्रतिष्ठानों से मातृकाओं की छाया प्रतियाँ पाने में भी सफलता मिली तो कहीं से प्रत्युत्तर तक नहीं मिला, यह विडम्बना ही मानी जाएगी।

जब कभी, जहाँ से कोई सन्दर्भ मिला, इस विषय की पाण्डुलिपियाँ अथवा पाठ प्राप्त करने का यत्न किया। जो भी सफलता मिली, उसी का परिणाम है कि गत तीन वर्षों में अकेले वास्तु पर मेरे बीस ग्रन्थ तैयार हुए। इनमें से अधिकांश पहली बार, हिन्दी अनुवाद और विस्तृत भूमिका, आलोचना पाठ सहित प्रकाशित हुए हैं। प्रसन्नता है कि विद्वानों, अनुसंधित्सुओं कलाप्रेमियों और अभियन्ताओं ने उनको सराहा भी तथा उन पर शोधानुसंधान का क्रम भी शुरू हुआ।

1997ई. में 'मनुष्यालयचन्द्रिका' का पाठ मिला तब मैंने इसके प्रत्येक अध्याय के विषयों को अन्य वास्तुविद्या विषयक ग्रन्थों के उद्धरणों के साथ तुलनीय रूप में मूलपाठ सहित प्रस्तुत करने का विनीत प्रयास किया था। संयोग से यह प्रयास उस काल में होना शुरू हुआ जबकि लोकमानस मूल ग्रन्थों की ओर से विमुख होकर वास्तु के नाम पर बाजारू पुस्तकों की ओर उन्मुख होता जा रहा था और कथित वास्तुविदों ने पाँच-पचास श्लोकों के उदाहरण मात्र से आकर्षक नामों वाली पुस्तकों की ढेरियाँ लगा दी थी जबकि उनमें विशेष कुछ नहीं था। ऐसी पुस्तकों ने पाठकों, गृह संशोधन के इच्छुक जनों को असन्तुष्ट ही अधिक किया। इसी पीड़ा ने मुझे विश्वकर्मा, अपराजित, सूत्रधार मण्डन, सूत्रधार नाथा, सूत्रधार गङ्गाधर, सूत्रधार गोविन्द, सूत्रधार ईश्वर, स्थपति बउरी महाराणा, चक्रपाणि मिश्र, श्रीपतिभट्टाचार्य, विट्ठलदीक्षित आदि के ग्रन्थों के सम्पादन और अनुवाद की दिशा में प्रेरित किया। यही नहीं, दक्षिण भारतीय ग्रन्थों में मयमतम्, विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् पर भी कार्य करने को उद्यत किया। मैं इस विद्या-सिन्धु का अतिक्षुद्र अध्येतामात्र हूँ।

मेरा मानना है कि मूल ग्रन्थों का पठन-पाठन और उनके निर्देशों की पालना की जानी चाहिए। इसलिए मैं इस स्वल्प ग्रन्थ 'मनुष्यालयचन्द्रिका' की हिन्दी टीका, आलोचना पाठ और अन्य ग्रन्थों के उद्धरण सहित प्रस्तुत कर रहा हूँ। हालांकि इसके गत कुछ वर्षों में मलयालम और अंग्रेजी में एकाधिक अनुवाद हुए हैं और इस पर शोध अध्ययन भी हुआ है किन्तु अधिसंख्य हिन्दी जगत और जन सामान्य इसके लाभ से वञ्चित ही रहा है।

जहाँ तक मेरी जानकारी है, इस ग्रन्थ का आंशिक अंग्रेजी अनुवाद के. पी. पिशरोती और टी. बी. नागर ने किया था जिसका प्रकाशन जर्नल ऑफ अन्नामलाई विश्वविद्यालय के भाग 4 अङ्क 2 में हुआ। अंग्रेजी में ही इंजीनियरिंग टीका डॉ. ए. अच्युतन तथा डॉ. बालगोपाल टी. एस. प्रभु ने 1998ई. में तैयार की जिसे कालिकट के वास्तुविद्या प्रतिष्ठानम् ने प्रकाशित किया था। मलयालम टीकाओं में 1987ई. में नीलकण्ठन असरी के. द्वारा की गई टीका सहित पय्यानूर एन. केशवाचारी द्वारा 1991ई. में की गई टीका और पण्डित राज कनिप्पयूर शङ्करन नम्बूदिरीपाद द्वारा 1993ई. में की गई टीकाएँ मेरे पास हैं किन्तु उक्त भाषा के ज्ञान के अभाव में मुझे उनका पर्याप्त लाभ नहीं मिला तथापि यह देखकर सन्तुष्टि हुई कि इस लघुकाय ग्रन्थ का बड़ा महत्व रहा है तभी इस पर निरन्तर कार्य हुआ है। इसका उदाहरण ऑसेफ पी. टी. का शोध प्रबन्ध भी है जो इस ग्रन्थ पर 1992ई. में कालिकट विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग द्वारा सम्पन्न करवाया गया था।

प्रस्तुत पाठ में श्लोक और अध्यायों का क्रम श्री गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित पाठ के अनुसार ही रखा गया है किन्तु कई श्लोकों को उनके मूल उपस्कारक ग्रन्थों के सन्दर्भ के साथ ही आलोचना पाठ सहित दे दिया गया है। अर्थ सरल और सहज हो, इसका ध्यान रखा गया है। व्याख्या के रूप में पूर्ववर्ती प्रकृत ग्रन्थों के मत भी देकर विषय को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इस सन्दर्भ में टीका के साथ में मानसार, मयमतम्, वास्तुविद्या, काश्यपशिल्पम्, तन्त्रसमुच्चय, मानववास्तुलक्षणम्, विश्वकर्मा वास्तुशास्त्रम्, शिल्परत्नम्, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति जैसे दक्षिण भारतीय ग्रन्थों के साथ ही मत्स्य, अग्नि, विष्णुधर्मोत्तरादि पुराणों, बृहत्संहिता, राजमार्तण्ड, समराङ्गणसूत्रधार, दीपार्णव, क्षीरार्णव, वास्तुमण्डनम् राजवल्लभवास्तुशास्त्रम्, वृक्षायुर्वेद आदि से भी यथेष्ट उद्धरण प्रस्तुत देकर इस ग्रन्थ को सर्वाङ्ग सम्पन्न बनाने का यत्न किया गया है। अन्त में मयोक्त गृहप्रवेश पद्धति को अर्थ सहित दे दिया गया है; ग्रन्थ में प्रयुक्त शब्दों के अंग्रेजी अर्थ और पर्याय भी दिए गए हैं ताकि यह ग्रन्थ सर्व सामान्य सहित अभियन्ताओं के लिए भी अधिकाधिक उपयोगी सिद्ध हो सके। इस कार्य में इंजीनियरिंग टीका मेरी सहायक रही है, कई नवीन सन्दर्भ भी हैं, सम्पादकों के प्रति अनेकशः आभार।

प्रस्तुत कृति की रचना और अध्ययन कार्य में सहधर्मिणी पुष्पा चौहान तथा अनुज, सुहृदयवर श्री नटवरलाल चौहान (अभियन्ता हिन्दुस्तान जिंक) व अरविन्द चौहान ने यथेष्ट सहयोग किया। पुत्री आयुष्मति अनुभूति चौहान ने इसका पाठ तैयार

किया और सन्दर्भ शोधन का श्रम किया जबकि कई रेखाचित्रों का निर्माण अनुजवधू सिमरन चौहान ने किया है- मैं इन सभी के स्नेहाधीन हूँ। वास्तु-शिल्प और ज्योतिष के अल्पज्ञात ग्रन्थों के उद्धार की दिशा में मेरा पूरा परिवार एक अभियान के रूप में लगा हुआ है। आनन्दकन्द नन्द-नन्दन प्रभु श्रीनाथजी की कृपा के प्रसाद से ही कुछ कार्य हो सका है और कुछ हो रहा है। ग्रन्थोद्धार भी गिरिराजोत्थान से कम नहीं होता, यह सब कार्य श्रीनाथजी का ही है, मैं तो निमित्त मात्र हूँ। निकट भविष्य में मयमतम्, वास्तुविद्या, विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् और समराङ्गणसूत्रधार जैसे वास्तुविज्ञान के विस्तृत, मूलग्रन्थ भी पाठकों के हाथों में आएँगे, ऐसी आशा है। इन पर कार्य पूरा हो गया है।

इसके प्रकाशन का दायित्व चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी के सञ्चालक श्रीमान् ब्रजमोहनदासजी गुप्त ने कुशलतापूर्वक निभाया। संस्कृत के अल्पज्ञात, अज्ञात और अप्राप्य ग्रन्थों के प्रकाशन की दिशा में उनका प्रयास श्लाघनीय है। वे धन्यवादार्ह है। यह पुस्तक कैसी बन पड़ी, इसकी सम्मति तो सुधी पाठक, विद्वज्जन ही देंगे और इस की अपेक्षा भी है- *गच्छत: स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादत:। हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जना:॥* श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

दशहरा, 2061 वि.सं.
43, राजश्री कॉलोनी
विनायकनगर, उदयपुर।

निवेदक
श्रीकृष्ण 'जुगनू'

वास्तुविज्ञान और मनुष्यालयचन्द्रिका

भारतीय वास्तु विज्ञान की परम्परा अति प्राचीन है। मानवमन की सुखाभिलाषा, स्थिर जीवन और सभ्यता तथा संस्कृति के विकास के साथ ही साथ ही विद्या-अनुशासन का विकास हुआ है। वैदिक काल से ही इस विषय में चिन्तन प्रारम्भ हो गया था। यद्यपि वैदिक काल के वास्तु अवशेष अद्यावधि अप्राप्य हैं किन्तु लिखित प्रमाणों के अनुसार मानव ने सुखपूर्वक निवास करने की उत्कट अभिलाषा के साथ ही अपने निवास या निवेश को उपयुक्त तथा स्थान और स्थिति के अनुकूल बनाने का उपक्रम प्रारम्भ कर दिया था।

प्रारम्भिक वास्तुज्ञाता-

अथर्ववेदीय वास्तुसूत्रोपनिषद् में षट्शिल्प विचार नाम से प्रारम्भिक शिल्प विद्या प्रवर्त्तकों का स्मरण किया गया है और तापनीयों का नामोल्लेख किया गया है- *आथर्वणाङ्गिरस. शिल्पकाश्यपो होवाच पिप्पलादमहामतिम्। षोडशतापिनी मध्ये वास्तुस्थापकविद्येयम्। य एनां वेद। आथर्वणीये होताद्रातृभि: शिल्पश्रोतृभि:, वास्तोष्पतिर्ज्ञेय इति॥ (वास्तुसूत्रोपनिषद् टीका 1.1)*

कात्यायनीय शुल्बसूत्रम् में भी यज्ञशाला, निवास आदि के मान आदि पर विचार किया गया है और कहा गया है कि गेह आदि के लिए प्रमाण के निमित्त शास्त्रों के निर्देशों का अनुशीलन किया जाना उचित है- *प्रमाणे शास्त्रं प्रमाणे निर्ह्रासविवृध्यो:॥ (1, 24)*

इस काल तक भूसमीकरण, दिग्ज्ञानार्थ शङ्कुलक्षण, रज्जुलक्षण, इष्टकामान, चतुरस्रसाधन, प्राचीसाधन सहित पशुवेदी और शालामान पर शास्त्रीय विचार पूर्णता को प्राप्त होता जा रहा था।

वास्तुवेत्ताओं की सूची का विस्तार-

महाकाव्यकाल और स्मृति-नीति काल में इस विद्या का विकास हो चुका था और विश्वकर्मा ही नहीं, प्रजापति, नारद, वैश्रवण, पिप्पलाद, मनु, मत्स्य, काश्यप, भारद्वाज, मय आदि स्थापत्यशास्त्रियों या वास्तुविद्या विशारदों के मतों का प्रचार हो

चुका था। वराहमिहिर (505 ई.) और उसके टीकाकार भट्टोत्पल ने पूर्ववर्ती आचार्यों में गर्ग, मय, विश्वकर्मन, वसिष्ठ, नग्नजित् भास्कर, पाराशर, काश्यप, भारद्वाज और मनु- इन नामों का स्मरण किया है।

सनत्कुमारवास्तुशास्त्रम् में प्रमुखता से ग्यारह नाम आए हैं- ब्रह्मा, इन्द्र, यम, भार्गव, अङ्गिरस, गौतम, गार्ग्य, मनु, व्यास, भृगु और विश्वकर्मा। मत्स्यपुराण में वास्तु विज्ञान के अठारह उपदेशकों का नामोल्लेख किया गया है-

भृगुरत्रिर्वसिष्ठ विश्वकर्मा मयस्तथा। नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः॥ ब्रह्माकुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च। वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती॥ (मत्स्य पुराण 251, 2-3)

पुराणकार ने मनु को भी इस शास्त्र का उपदेष्टा बताया है। लगभग नवीं शताब्दी में संगृहीत अग्निपुराण में 25 आचार्यों की सूची हो गई। ये नाम हैं- हयशीर्ष, त्रैलोक्यमोहन, विभव, पुष्कर, प्रह्लाद, गर्ग, गालव, नारद, सम्प्रश्न, शाण्डिल्य, विश्वक, सत्य, शौनक, वशिष्ठ, ज्ञानसागर, स्वयम्भू, कपिल, तार्क्ष्य, नारायण, अत्रि, नरसिंह, आनन्द, अरुण, बौधायन और ऋषि।

11-12वीं सदी में सम्पादित मानसार में इन आचार्यों की सूची 32 तक जा पहुँची जिनके नाम हैं- विश्वकर्मा, विश्वेश, विश्वसार, प्रबोधक, वृत्त, मय, त्वष्टा, मनु, नल, मानविन, मानकल्प, मानसार, प्रष्टा, मानबोध, विश्वबोध, नय, आदिसार, विशाल, विश्वकाश्यप, वास्तुबोध, महातन्त्र, वास्तुविद्यापति, पाराशरीयक, महाऋषि कालयूप, चैत्य, चित्रक, आवर्य, साधकसार, भानु, इन्द्र, लोकज्ञ तथा सौर-

विश्वकर्मा च विश्वेशः विश्वसारः प्रबोधकः। वृतश्चैव मयश्चैव त्वष्टा चैव मनुर्नलः॥ मानविन्मानकल्पश्च मानसारो बहुश्रुतः। प्रष्टा च मानबोधश्च विश्वबोधो नयश्च तथा॥ आदिसारो विशालश्च विश्वकाश्यपश्चैव च। वास्तुबोधो महातन्त्रो वास्तुविद्यापतिस्तथा॥ पाराशरीयकश्चैव कालयूपो महर्षिश्च। चैत्याख्यः चित्रकाश्चावर्यः साधकसारसंहितः॥ भानुश्चेन्द्रश्च लोकज्ञः सौराख्यः शिल्पिवित्तमः॥ ते एव ऋषयः प्रोक्ता द्वात्रिंशतिः संख्यया॥ (मानसारम् 68, 5-9)

विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् में अगस्त्य, नन्दी, नारद, बृहस्पति, तिम्यलोक, काश्यप, लोकदर्शक, कात्यायन, मरीचि, चित्रतोयक, पालकाप्य, पुण्डरिक, दीर्घदर्शी, पुनर्वसु और योगसार- इन पन्द्रह आचार्यों के नाम आए हैं-

अगस्त्यो भगवान्नन्दी नारदश्च महामुनिः। बृहस्पतिस्तिम्यलोकः काश्यपो लोकदर्शकः॥ कात्यायनो महातेजा मरीचिश्चित्रतोयकः। पालकाप्यः पुण्डरीवते दीर्घदर्शी पुनर्वसुः॥ योगसारो महातेजा ये चान्ये मुनिपुङ्गवाः। तैरतीन्द्रियविज्ञाननिधिभिर्धर्मरक्षकैः॥ वास्तुशास्त्रं महत्प्रोक्तं लोकरक्षणहेतवे। (विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् 18, 1-4)

इसी प्रकार की सूची मयमत में भी मिलती है। अपराजितपृच्छा आदि के ग्रन्थकारों ने भी स्वीकार किया है। विद्वानों ने इन सूचियों को भ्रष्ट और काल्पनिक कहा है। इन सूचियों में पुनरुक्ति दोष भी कहा है। यहाँ यह स्मरणीय है कि चूंकि भिन्न-भिन्न कालों में इन ग्रन्थों का लेखन-संग्रह हुआ है इसलिए उस काल तक जो-जो भी आचार्य प्रसिद्ध हो गए उनका नाम इन ग्रन्थ सूचियों में संलग्न होता चला गया। फिर, अधिकांश जनों ने विश्वकर्मा, जय, विजय और अपराजित के नाम पर ही अपने ग्रन्थों का लेखन किया और अधिकांशतः पूर्वसूरियों के मतों को नवीकृत रूप में लिखा जाता रहा। यह युगापेक्षा भी थी और शासकों, सामाजिक आवश्यकता भी। तभी तो 'वृक्षार्णव' और 'जयपृच्छा' के नाम से सम्पादित हुए ग्रन्थ में रहमान मन्दिर नाम से मस्जिदों का वास्तु-शिल्प तक भारतीय परम्पराओं के अनुसार निर्धारित करने का प्रयास हुआ। ये ग्रन्थ क्षीरार्णव, दीपार्णव की परम्परा को विस्तीर्ण करने वाले हैं।

वास्तुविज्ञान के विकास के आधार-

एक प्रकार से यह विस्तार शिल्प और वास्तुशास्त्र के विकास क्रम को भी दर्शाता है। प्रत्येक काल की अपनी वास्तु संरचना रही है और उसके प्रवर्त्तक भी भिन्न भिन्न आचार्य रहे हैं। विभिन्न क्षेत्रों में नृपों, सामन्तों ने अपनी आवश्यकता और अपने वैभव के अनुसार भी स्थापत्य कार्यों का सम्पादन करवाया। इस परम्परा ने देश-काल और परिस्थितियों के अनुसार इस कला को नई दिशा और स्थापकों को नई दृष्टि देने का प्रयास किया।

उत्तर और दक्षिण भारतीय परम्पराओं में विभेद का एक कारण भौगोलिक स्थितियाँ और आवश्यकताएँ ही नहीं, तत्स्थलीय, तत्कालीन सुविधा और संसाधन भी रहे। दोनों क्षेत्रों की अपनी-अपनी शैलियाँ और उपशैलियाँ रहीं, नाम भेद भी रहा किन्तु यह अवश्य है कि भवन निर्माण, वास्तु विन्यास के मूलाधार समान रहे। मान तथा प्रमाण की विधियों में अधिक अन्तर नहीं रहा, परवर्ती आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का अनुसरण भी किया और विशेष ज्ञान के लिए पूर्ववर्ती शास्त्रों का ही शोधन, अवगाहन करने का परामर्श दिया है।

दक्षिण भारतीय वास्तु ग्रन्थ-

वास्तु विज्ञान के दक्षिण भारतीय ग्रन्थों में *मयमतम्, मयदीपिका, मयसङ्ग्रह, काश्यपशिल्पम्, मानसारम्, ईशानशिवगुरुपद्धति, शिल्परत्नम्, अगस्त्यवास्तुशास्त्रम्, शिल्पकौमुदी, तन्त्रसमुच्चयम्, सकलाधिकारम्, वास्तुविद्या, विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम्, विश्वकर्मीयम्, कूपप्रश्नम्, वास्तुतन्त्रम्, मानववास्तुलक्षणम्, मनुष्यालयसोपानम्, तच्चुशास्त्रम्, गृहनिर्माणपद्धति* आदि की गणना प्रमुखता के साथ होती है। इन ग्रन्थों का प्रारम्भिक स्वरूप क्या रहा, निश्चित तौर पर कहा नहीं जा सकता, किन्तु ये ग्रन्थ जिस रूप में उपलब्ध हैं, उनके आधार पर इनका रचना काल 10वीं से लेकर 16वीं शताब्दी तक स्वीकारा जाता है। ये ग्रन्थ इनके रचयिताओं के नामानुसार ही नामित हैं या प्राचीन मत प्रवर्त्तकों के नाम पर अभिकल्पित हैं। इतिहासकारों का एक वर्ग इन ग्रन्थों में उपलब्ध वास्तु शास्त्रीय संरचना सिद्धान्तों के आधार पर विकसित होती सामन्तवादी प्रवृत्तियों को देखता है और मानता है कि ये ग्रन्थ राजाओं और सामन्तों के अधिकारों और उनके वैभव, पद तथा प्रतिष्ठा को प्रदर्शित करते हैं।

प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. रामशरण शर्मा ने राजनीतिक सामन्तवाद के उत्कर्ष-काल के विवेचन के संदर्भ में इन ग्रन्थों के प्रमाणों को प्रस्तुत किया है और कहा है कि सामन्ती श्रेणियों का सम्पूर्ण चित्र हमें *मानसार* में मिलता है, जो 12वीं सदी की कृति है। वह लिखते हैं कि प्रारम्भिक धर्मशास्त्रों और तत्सम्बन्धी कृतियों में केवल वर्णों के आधार पर राजनीतिक सत्ता, आय, घर-सम्पदा आदि में विभिन्नता की कल्पना की गई है, लेकिन वास्तु-कला पर लिखी पुस्तकों में स्थिति बदल जाती है। इनमें किसी को अपने वंशानुगत वर्ण के आधार पर कोई सुविधा नहीं दी गई है। इसके विपरीत वर्ण पर आधारित दर्जे का सामन्त श्रेणी विन्यास पर आधारित दर्जे के साथ सामञ्जस्य करने का प्रयत्न किया गया है। यह बात *मयमत* और वराहमिहिर कृत *बृहत्संहिता* में वास्तुकला पर लिखे कुछ-एक अनुच्छेदों में लक्षित होती है। वराहमिहिर ने विभिन्न श्रेणियों के शासकों के उपयुक्त इमारतों का वर्णन किया है, और साथ ही चारों वर्णों के उपयुक्त निवास-स्थानों का भी।

मयमत (29, 80-82) के अनुसार सम्राट का निवास स्थान ग्यारह मंजिलों का होना चाहिए, ब्राह्मण (द्विजाति) का नौ मंजिलों का, सामान्य राजा (नृप) का सात मंजिलों का, वैश्य तथा सामान्य सेना नायक (योधसेनेश) का चार मंजिलों का और शूद्र का निवासस्थान एक से तीन मंजिलों का तथा सामन्त-प्रमुख आदि के भवन पाँच-पाँच मंजिलों के होने चाहिए।

दक्षिण के वास्तुग्रन्थों की परम्परा बहुत समृद्ध रही है। वहाँ आगम, संहिता नाम से सम्पादित हुए ग्रन्थों में भी वास्तु-शिल्प विषय प्रभूत रूप से मिलता है। निश्चय ही यह ज्ञात बहुत समृद्ध संस्कृति का परिचायक है किन्तु इसे हिंदी प्रदेशों में बहुत ही कम जाना गया है क्योंकि इधर इन ग्रन्थों का न तो अनुवाद हुआ और न ही प्रचार। न जाने कब इनके अकादमिक अध्ययन की आवश्यकता समझी जाएगी!

मनुष्यालयचन्द्रिका का स्थान-

जैसा कि माना जाता है कि रामराज, प्रसन्नकुमार आचार्य, वी. राघवन प्रभृति विद्वानों ने इन ग्रन्थों का तत्कालीन इतिहास शोधन की दृष्टि से अवगाहन का प्रयत्न किया है किन्तु ये ग्रन्थ स्थापत्य और शिल्प की परम्परा के विकास का विस्तृत चित्र भी प्रस्तुत करते हैं। भारतीय वास्तुविद्या के दिग्दर्शन के लिए भी ये ग्रन्थ आधार का कार्य करते हैं और क्षेत्र तथा स्थिति के अनुसार अनुसरणीय परम्परा के बोधक भी हैं।

इन्हीं ग्रन्थों में एक ग्रन्थ है- मनुष्यालयचन्द्रिका। यह केरलादि प्रदेशों में गत चार शताब्दियों से शिल्पाचार्यों में लोकप्रिय रहा है। इस पर कुछ मलयालम अनुवाद भी हैं जो कि शिल्पकारों के लिए उपादेय हैं। आकार-प्रकार में अति लघुकाय इस ग्रन्थ में वास्तुविद्या पर, विशेष रूप से व्यक्ति के आवास, भवन एवं वहाँ आवश्यक सुविधाओं पर प्रकाश डाला गया है। संस्कृत भाषा में निबद्ध इस ग्रन्थ में उपयुक्त आवास को आवश्यक बताया गया है। संस्कृत भाषा में 'चन्द्रिका' नाम से ग्रन्थ, निबन्ध लेखन की परम्परा रही है। छठी शताब्दी में बाणभट्ट ने 'शारदचन्द्रिका' का प्रणयन किया था जिसकी सूचना शारदातनय के 'भावप्रकाशनम्' में मिलती है- कल्पितं बाणभट्टेन यथा शारदचन्द्रिका। यही सङ्केत धनञ्जय ने दशरूपक में किया है।

'चन्द्रिका' शब्द की रचना इस प्रकार होती है-

चन्द्र + ठन् + टाप्।

इसका अर्थ है- चाँदनी, ज्योत्स्ना। विशदीकरण के रूप में इस शब्द का प्रयोग होता आया है जिसमें प्रस्तुत विषय पर प्रकाश डाला जाता है। संस्कृत ही नहीं, हिन्दी, खड़ी बोली में भी इस शब्द का प्रयोग ग्रन्थ शीर्षक के लिए होता आया है। यथा-

देवालयचन्द्रिका, अलङ्कारचन्द्रिका, वैष्णवाकूतचन्द्रिका, न्यायचन्द्रिका, काव्यचन्द्रिका, रामचन्द्रिका, विनोदचन्द्रिका, प्रबोधचन्द्रिका, जहाँगीरजसचन्द्रिका, राज्याभिषेकचन्द्रिका, पाण्डवयशुचन्द्रिका सुजानचन्द्रिका आदि।

स्मरणीय है कि अधिकांश वास्तुग्रन्थों में देवायतनों या देवगृहों के निर्माण का ही निर्देश मिलता है जबकि इस ग्रन्थ में उस विषय पर प्रकाश डाला गया है जो मनुष्य के आलय या आवास के लिए ज्ञातव्य है। इसमें लोकजीवन से लेकर अभिजात्यवर्ग तक के लिए ज्ञातव्य वास्तु व शिल्प विद्या विषयक जानकारी को विस्तार के साथ समझाया गया है। यद्यपि इसमें प्रतिपादित कई विधियाँ अब दक्षिण में भी दुस्साध्य होकर अप्रचलित सी हो गई है तथापि इसमें प्रासङ्गिक वास्तु विचारों का भी अभाव नहीं है। वास्तु गुण-दोष के नाम पर आज के दिग्भ्रमित-से भवनाभिलाषियों के लिए इसके निर्देश निश्चय ही उपयोगी हैं।

मनुष्यालयचन्द्रिका का कर्ता और उपस्कारक ग्रन्थ -

इस ग्रन्थ का कर्ता नीलकण्ठन मूसत, तिरुमङ्गलम् को माना जाता है। हालांकि स्पष्टतः रचनाकार ने अपना नामोल्लेख नहीं किया है किन्तु शङ्कर के नामस्मरण के बहाने इसका सङ्केत किया है। इस ग्रन्थ की रचना केरल क्षेत्र में हुई है। रचनाकार के इस सङ्केत के आधार पर इस ग्रन्थ के आद्य सम्पादक महामहोपाध्याय डॉ. त. गणपति शास्त्री ने यही लिखा है कि रचनाकार ने ग्रन्थारम्भ में 'श्रीमत्कुण्डपुर' तथा 'नावानाम्नि धाम्नि' से केरल प्रदेश का स्मरण किया है जिससे उसके केरल के होने का अनुमान किया जा सकता है- *'अस्याः प्रणेता क इति न ज्ञायते। किन्तु स श्रीमत्कुण्डपुरे (1, 2) इति श्लोके नावानाम्नि धाम्नि इति तिरुनानाक्षेत्रं केरलीयं स्मरन् केरलीय इत्यनुमातुं शक्यते। तन्त्रसमुच्चय कर्तुर्नारायणादर्वाचीनश्चासौ, यतः तन्त्रसमुच्चोक्तमनुसृत्यैवात्र संक्षिप्यते (1, 8) इत्यात्मनस्तन्त्रसमुच्चयानुसारित्वमाह।'*

पद्मश्री प्रभाशङ्कर ओघड़भाई सोमपुरा ने इस ग्रन्थ को मय रचित माना है किन्तु इसके रचनाकार का कहना है कि वह मय के मत का आदर करता है। इस ग्रन्थ की इंजीनियरिंग टीकाकर्ता डॉ. ए. अच्युतन और डॉ. बालगोपाल टी. एस. प्रभु का मत है कि इसकी रचना तिरुमङ्गलम् नीलकण्ठन मूसत ने की है। प्रकृतग्रन्थ 'वास्तुविद्या' की लघुविवृत्ति टीका में के. महादेव शास्त्री ने लिखा है कि मनुष्यालयचन्द्रिका में नीलकण्ठन ने वास्तुविद्या का स्मरण किया है और इसे प्रामाणिक ग्रन्थ बताया है। उसका काल पन्द्रहवीं सदी के पूर्वार्ध का है- *श्रीनीलकण्ठश्च कोलम्बाब्दीयाष्टमशतकपूर्वार्धजीवीति ततः प्राचीनोऽयमवरतः क्रिस्त्वब्दीयपञ्चदशशतकपूर्वार्धजीविनस्तन्त्रसमुच्चयकारादर्वाचीनस्तत्समकालिको वा भवितुमर्हतीति बहूनामभिप्रायः।*

इसी प्रकार केरल साहित्य चरितम् (मलयालम) के लेखक उल्लूर एस. परमेश्वर

अय्यर का कहना है कि वह केलल्लूर कोमात्री का अनुयायी था। उसके तन्त्रसंग्रह पर कलि संवत् दिया गया है जो सन् 1501ई. निकलता है। इसी प्रकार आर. नारायण पणिक्कर ने भाषा साहित्य चरितम् (मलयालम) में माना है कि इसका एक श्लोक तिरुप्पूनित्तुर सन्तानगोपाल मन्दिर की संयोजक भित्ति पर विद्यमान है। यह वैष्णव मन्दिर नीलकण्ठन ने कृष्णशिला या ब्लेक ग्रेनाइट से बनाया था। इसका निर्माण 1565ई. में हुआ था।

इस तथ्य से लगता है कि इस ग्रन्थ का प्रणयन 16वीं सदी में अथवा 1550ई. के आसपास हो गया था। केरल के शिल्प विषयक शास्त्रों में उसका वही स्थान है जो कि उत्तर भारत में सूत्रधार मण्डन (1435-1468ई.) को है। नीलकण्ठन मूसत ने कुछ और भी ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें 'शिल्पचन्द्रिका' वास्तु-शिल्प विषय पर आधारित है और इसकी रचना मनुष्यालयचन्द्रिका से पूर्व की गई थी। उसने मनुष्यालय लघु चन्द्रिका का प्रणयन भी किया जो कि इस ग्रन्थ का समास या स्वल्प संस्करण है। इसके लिए बीस श्लोक मनुष्यालयचन्द्रिका से ही लिए गए हैं। इसी प्रकार एक संग्रह ग्रन्थ 'मातङ्गलीला' को नीलकण्ठन ने प्रसिद्ध गजशास्त्रकार पालकाप्य के ग्रन्थ के आधार पर तैयार किया था, इसका त्रिवेन्द्रम से प्रकाशन हुआ है। अग्निकर्म पर आधारित एक ग्रन्थ 'वेटीक्कमप विधि' में उसने आतिश, बारूद आदि का विवरण दिया है। एक अन्य ग्रन्थ 'काव्योल्लास' में नीलकण्ठन ने मम्मट के काव्यप्रकाश का संक्षिप्तीकरण किया है।

मनुष्यालयचन्द्रिका की रचना करते समय नीलकण्ठ के सामने मयमत के साथ ही नम्बूदिरी विप्र रवि कृत प्रयोगमञ्जरी, निबन्ध, भागवत भास्करी, मनुमत, गुरुदेवपद्धति (ईशानशिवगुरुदेवपद्धति), महागम जैसे ग्रन्थों का आधार था। साथ ही उसने मार्कण्डेय, पराशर, मुरारीप्रोक्त रत्नावली, काश्यप, विश्वकर्मा व कुमारागम का सहारा भी लिया। गर्ग एवं दक्षादि के मतों से भी वह परिचित था जैसा कि चतुर्थ अध्याय के नवें श्लोक में सङ्केत मिलता है- नेच्छन्ति गर्गदक्षाद्या:। यहाँ कुमार कौन है- श्रीकुमार या सनत्कुमार जिनके क्रमश: शिल्परत्नम् और सनत्कुमार वास्तुशास्त्रम् विद्यमान हैं। अथवा, स्कन्दसद्भाव, स्कन्दसंहिता या नन्दीप्रोक्त स्कान्द ? रचनाकार लिखता है-

निसर्गसंसिद्धसमस्तशिल्पप्रावीण्यमाद्यं द्रुहिणं प्रणम्य। मया मनुष्यालयचन्द्रिकैषा विलिख्यते मन्दधियां हिताय॥ (मनुष्यालय. 1, 6)

रचनाकार ने अपने पूर्ववर्ती उपदेशकों का नामोल्लेख इस प्रकार किया है-

मयमतयुगलं प्रयोगमञ्जर्यपि च निबन्धभास्करीययुग्मम्। मनुमतगुरुदेवपद्धति श्रीहरियजनादिमहागमा जयन्ति॥ मार्कण्डेययुगं पराशरमुरारिप्रोक्तरत्नावलीसारान् काश्यप

विश्वकर्ममतयुग्माद्यं कुमारागमम्। सव्याख्यां हरिसंहितां विवरणाद्यं वास्तुविद्यादिकान् दृष्ट्वा तन्त्रसमुच्चयोक्तमनुसृत्यैवात्र संक्षिप्यते॥ (उपर्युक्त 1, 7-8)

'तन्त्रसमुच्चयोक्तमनुसृत्यैवात्र' इस श्लोक के आधार पर श्री गणपति शास्त्री ने मत व्यक्त किया है कि तन्त्रसमुच्चय के कर्ता नारायणदेव का काल ईसा की पन्द्रहवीं सदी का पूर्वार्द्ध रहा है, इस आधार पर इस ग्रन्थ की रचना इसके आसपास ही हुई होगी- 'तन्त्रसमुच्चयस्य तु काल: क्रैस्ताब्दीयस्य पञ्चदशशतकस्य पूर्वो भाग इति वाररुच संग्रहस्योपोद्घातेऽवोचाम।'

इसी तरह यह भी अनुमान किया जा सकता है कि 'कुमारागम' से आशय श्रीकुमार कृत 'शिल्परत्नम्' भी हो सकता है किन्तु ग्रन्थकार सम्भवत: इसे आगम नहीं मानेगा क्योंकि यह उसके आसपास की ही रचना है। फिर, तन्त्रसमुच्चय से मनुष्यालय चन्द्रिका में कई श्लोक ज्यों के त्यों मिलते हैं जैसा कि प्रस्तुत पाठ की पाद टिप्पणियों में कहा गया है, ऐसे में इसे तन्त्र समुच्चय के बाद की रचना ही मानी जा सकती है। तन्त्र समुच्चय का रचनाकाल कलि संवत् 4529, तद्नुसार 1427-28ई. माना गया है। जैसा कि नारायण दैवज्ञ ने कहा है-

कल्यब्देष्वतियत्सु नन्द$_{9}$नयने$_{2}$ष्व$_{5}$म्भो$_{4}$संख्येषु य: सम्भूतो भृगुवीतहव्यमुनि युङ्मूले सवेदोन्वये। प्राहुर्यस्य जयन्तमङ्गलपदेद्धं धाम नारायण: सोऽयं तन्त्रमिदं व्यधाद् बहु-विधादुद्धृत्य तन्त्रार्णवात्॥ (12, 215)

इसी पर नारायण के पुत्र शङ्कर की विमर्शिनी व्याख्या है-

यस्य हि तन्त्रसमुच्चयरचनाल्लोके समुत्थिता कीर्ति:। तत्पुत्रेण कृतेयं शङ्करनाम्ना विमर्शिनी व्याख्या॥ (तन्त्रसमुच्चय विमर्शिनीव्याख्या 12, 217)

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि नारायण ने स्वयं वास्तु शास्त्रों पर ग्रन्थों का प्रणयन किया है। उसकी रची 'देवालयचन्द्रिका' और 'मानववास्तुलक्षणम्' नामक ग्रन्थों का पता चला हैं। इनमें से देवालयचन्द्रिका में मन्दिर और बिम्ब के विषय में ज़ानकारियाँ हैं और इसका नाम देवालयलक्षण भी मिलता है। प्रसिद्ध विद्वान डॉ. के. वी. शर्मा के अनुसार देवालयचन्द्रिका के कई श्लोक मनुष्यालयचद्रिका में हैं। इस पर एक मलयालम व्याख्या मद्रास गवर्नमेन्ट आरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी में मौजूद है। *(द देवालयचन्द्रिका, अड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन 25, 1961, पृष्ठ 582-86)*

इसी प्रकार 'मानववास्तुलक्षणम्' ग्रन्थ में गृहवास्तु का विवरण है। इसे भी मनुष्यालचान्द्रिका के रूप में जाना गया है किन्तु यह मौलिक कार्य नहीं है अपितु इसमें

पूर्ववर्ती ग्रन्थों से श्लोक उद्धृत किए गए हैं और कुछ नए देकर इस ग्रन्थ को आकार दिया गया है। श्री उल्लूर एस. परमेश्वर अय्यार के अनुसार नारायण ने इसमें तन्त्रसमुच्चय से 44 श्लोक लिए हैं। इस ग्रन्थ का आरम्भ इस प्रकार हुआ है- *प्रणम्य विश्वस्थपतिं पितामहं निसर्गसिद्धाखिलशिल्पनैपुणम्। मया विविच्यागमसारमीर्यते समासतो मानव-वास्तुलक्षणम्॥ (श्लोक 1)*

इस पर भी एक अज्ञातकर्तृक की व्याख्या मिलती है जिसमें इसे तान्त्रिक ग्रन्थ कहा गया है- अयं कविः मया तन्त्रसमुच्चये देवालयलक्षणमुक्तं, मनुष्यालयलक्षणं कुत्रापि नोक्तञ्च; तस्मादिदानीं तन्त्रसमुच्चयात् कतिपयद्यानि यथावकाशमुद्धृत्य तैस्सह चतुश्चत्वारिंशद्भिः श्लोकैर्मनुष्यालयलक्षणं वक्ष्यामीति निश्चित्य तत्रादौ प्रथमेन श्लोकेनेष्ट देवतानमस्कारं चिकीर्षितप्रतिज्ञाञ्चाह। *(केरल साहित्य चरितम्, भाग 2, पृष्ठ 64-65)*

इस ग्रन्थ का प्रकाशन मलयालम व्याख्या के साथ ही मद्रास गवर्नमेन्ट आरियण्टल सीरीज (क्रम 21, 1950ई.) के अन्तर्गत रामकृष्ण शास्त्री के सम्पादन में 'वास्तुलक्षणम् शिल्पविषय' नाम से हुआ है। इससे पूर्व 1934ई. में इसका मूलपाठ डॉ. प्रसन्नकुमार आचार्य ने मानसार के तीसरे भाग में परिशिष्ट (ग) में दिया है। इसमें भी कई श्लोक तन्त्रसमुच्चय से लिखे गए हैं। ऐसा लगता है कि नारायण के काल में निर्माण की आवश्यकताओं को देखते हुए उसने स्वयं ही ऐसा सम्पादन किया था।

बाद में, यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ तो इसकी टीकाएँ तैयार हुई होंगी और मनुष्यालयचन्द्रिका के कर्ता नीलकण्ठन मूसत ने इन दो ग्रन्थों का बिना कहीं नामोल्लेख किए ही इनके श्लोकों का उपयोग किया। ऐसे में मनुष्यालयचन्द्रिका का रचनाकाल नारायण की कृतियों के लगभग पच्चीस से लेकर तीस वर्ष के बाद का माना जा सकता है। प्रस्तुत पाठ में कई श्लोकों को इन तीनों ही ग्रन्थों के मूल श्लोकों के साथ तुलनात्मक रूप से दिया गया है। इसमें कहीं-कहीं तन्त्रसमुच्चय की विमर्शिनी व्याख्या को भी प्रस्तुत किया गया है। इससे यह भी लगता है कि नीलकण्ठन एक सुयोग्य सम्पादक था और उसने पूर्वसूरियों के श्लोकों को यथावश्यकता अपने ग्रन्थों के लिए उपयोग किया था। बहुत सम्भव है कि कदाचित इसीलिए उसने कहीं अपना नाम नहीं दिया है।

प्रस्तुतपाठ का शोधनाधार-

'मनुष्यालयचन्द्रिका' के प्रस्तुत पाठ का सम्पादन तीन प्राचीन प्रतिलिपियों के आधार पर किया गया है। इसका प्रथम प्रकाशन वर्ष 1917 में अनन्तशयन संस्कृत

ग्रन्थावली के ग्रन्थाङ्क 56 के अन्तर्गत महामहिमश्रीमूलकरामवर्म कुलशेखर महाराज के शासन में राजकीय मुद्रणालय, त्रिवेन्द्रम से हुआ था। जिन पाण्डुलिपियों के आधार पर इस पाठ का शोधन किया गया, वे थीं-

1. (क) त्रिवेन्द्रम की राजकीय ग्रन्थशाला की प्रति

2. (ख) पद्मनाभपुरा के मणालिक्कर मठ की प्रति तथा

3. (ग) एण्णक्काट्टू कोट्टराम स्वामी की प्रति

ये सभी पाण्डुलिपियाँ ताल पत्र पर अङ्कित हैं और बहुत पुरानी है। इनमें से 'ख' पाण्डुलिपि अधिक पुरानी जान पड़ती है और इस पर कोलम्बाब्द 950 अङ्कित है, चूंकि कोलम् अथवा मलयालम् संवत् का आरम्भ 824-25 में हुआ माना जाता है, ऐसे में इसका प्रतिलिपिकाल ईस्वी सन् 1775 माना जा सकता है।

मनुष्यालयचन्द्रिका का मलयालम टीका के साथ दक्षिण में कई स्थानों से प्रकाशन हुआ है। इनमें से एक टीका पय्यान्नूर एन. केशवाचारी ने की है जिसका प्रकाशन 1991 में आचार्य ग्रन्थालय, पय्यानूर से हुआ जिसकी बहुत प्रशंसा हुई। इससे पूर्व एक पाठ नीलकण्ठन असरी के. के सम्पादन में एस. टी. रेड्डीअर एण्ड संस, क्योलोन से 1987ई. में हुआ है। इसी प्रकार एक पाठ पण्डित राज कनिप्पयूर शङ्करन नम्बूदिरीपाद के अनुवाद के साथ पञ्चाङ्गम प्रेस, कुन्नमकुलम् से 1993ई. में हुआ है। वर्ष 1992ई. में इसी ग्रन्थ पर ऑसेफ पी. टी. ने विद्या वाचस्पति डिग्री के लिए शोध अध्ययन कालिकट विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग से किया है जो अभी तक अप्रकाशित है। इस ग्रन्थ की अंग्रेजी में अभियान्त्रिकी टीका डॉ. ए. अच्युतन और डॉ. बालगोपाल टी. एस. प्रभु ने की है जिसका प्रकाशन 1998 ई. में वास्तुविद्या प्रतिष्ठानम्, किलीयानाड, कालिकट से हुआ है। यह कार्य इस ग्रन्थ के महत्व को दर्शाता है।

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य-

इस ग्रन्थ में सात अध्याय है तथा कुल 246 श्लोक हैं। इसमें मुख्य रूप से मानव जीवनोपयोगी आवास गृहों, गृहोपयोगी कूप, वापि तथा आधार सहित ऊर्ध्व मंजिलों और उपयोगी द्वार मान आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। ग्रन्थ का प्रथम अध्याय '*भूपरीक्षापरिग्रह*' नाम से है और इसमें 33 श्लोक है। इसमें मुख्य रूप से आवास योग्य भूमि के चयन पर विचार किया गया है।

ग्रन्थकार विष्णु के यादव या श्रीकृष्णस्वरूप, नृसिंह और गणपति की वन्दना

करता है और कहता है कि उन भगवान् विनायक की जय हो जो कि मङ्गलमूर्ति हैं, सदाश्रय नीलकण्ठन (यहीं पर ग्रन्थकार अपना और शिव का एक ही साथ नामोल्लेख करता है) शिव के प्रिय हैं और उनके प्रकर्ष निलय में विराजित रहते हैं तथा सकलजनों के अभिवन्द्य हैं। वे श्रीमद्, हिमालय की आत्मजा पार्वती के पुत्र हैं, गजानन हैं, वे हमेशा भक्तों की कामनाओं की सम्पूर्ति करने वाले हैं। उन देव के चरण कमलों का अनन्य आश्रय लेकर उद्योगपूर्वक, श्रीगुरुदेव से आशीर्वाद प्राप्त करके, विद्या में परिश्रम करने वाला, आत्मा की शुद्धि करता हुआ, उद्योग करता हुआ मैं अल्पज्ञ, बालसुलभ चेष्टा वाले जिज्ञासु जनों के निमित्त इस वास्तुशास्त्र की विषयवस्तु को कहता हूँ। इसी क्रम में, मैं उन मुनिजनों के पदारविन्दों की वन्दना भी करता हूँ कि जिनकी प्रज्ञा वेदों, श्रुतियों में निरन्तर संलग्न हैं और जिनके सङ्कल्पमात्र से परमेश्वर भी देहधारण करने में अनुरक्त रहते हैं।

रचनाकार नीलकण्ठन सर्वप्रथम वास्तुशास्त्र की परम्परा को कहता है और ब्राह्मण आदि के लिए आवास योग्य भूमि का चयन कर बनवाए गए आवास को सदैव दृष्टिगत रखने पर जोर देता है। रचनाकार ने आचार्यवरण, शिल्पी, सूत्रग्राही, तक्षक, स्थपति आदि के गुणों का प्रतिपादन किया है। रचनाकार का परामर्श है कि विशाल महल, भवन बनाने के लिए हमें सूक्ष्मचिन्तक ब्राह्मण से परामर्श अवश्य लेना चाहिए और उसी के कहे अनुसार गृह निर्माण कराना चाहिए।

रचनाकार ने सर्वप्रथम भूमि की परीक्षा आवश्यक बताई है और शाला तथा वीथी आदि के निर्माण के बारे में पहले ही निर्णय करने पर जोर दिया है। मिट्टी परीक्षा के तहत भूमि पर बीजवपन जैसी की पारम्परिक विधियों का उल्लेख करता है और फल प्राप्यानुसार उसका फलाफल निरूपित करता है। भूमिखण्ड उचित आकार का होना चाहिए, क्योंकि असन्तुलित आकार वाली भूमि पर आवास करने से दरिद्रता आती है। मध्यभाग में उन्नत भूमि पर निवास करने से उन्नति होती है।

ग्रन्थकार ने वृक्षानुसार भूमिचयन पर भी विचार किया और कहा है कि पूर्व दिशा में वट या गूलर अथवा बकुल का पेड़ शुभ होता है और आम तथा पीपल भी शुभद है। विपरीत दिशा में होने पर अश्वत्थ का पेड़ अग्नि का भय देता है। इसी प्रकार न्यग्रोध, उदुम्बर आदि के पेड़ भी विचारणीय है। मन्दिर के पीछे श्रीवृक्ष व बिल्व अभयदायक है और आमलकी, देववृक्ष, पलाश व अशोक के पेड़ अनुचित है। पुन्नाग, चम्पा, खदिर, कदली, चमेली, नागलतादि सर्वत्र शोभित रहने वाले हैं।

भूमि की रूप, रस व गन्ध के आधार पर भी परीक्षा के लिए ग्रन्थकार निर्देश करता है, किन्तु युक्ति नहीं बताई है ऐसे में अन्य ग्रन्थों को देखना होगा। यही बात द्राविड़ ग्रन्थ 'मयमतम्' के वस्तुप्रकार नामक द्वितीय अध्याय में भी कही गई है- *वर्णगगन्धसाकारदिक्शब्द स्पर्शनैरपि। परीक्ष्यैवं यथायोग्यं गृहीतावधिनिश्चिता॥*

'शब्दकल्पद्रुम' में कहा गया है कि सुगन्धयुक्त भूमि ब्राह्मणी, रक्तगन्ध वाली क्षत्रिया, मधु गन्धा वैश्या तथा मद्य गन्धा भूमि शूद्रा कही जाती है। अम्लरस युक्त भूमि वैश्य, तिक्तरस युक्त भूमि शूद्र, मधुर रस युक्त भूमि ब्राह्मणी और कषाय रस युक्त भूमि क्षत्रिया कही जाती है और ब्राह्मणी भूमि सुखद, क्षत्रिया राज्यप्रद, वैश्या धनधान्य देने वाली और शूद्रा भूमि त्याज्य होती है। 'मयमत' में भी यही निर्देश है- *श्वेता रक्ता च पीता च कृष्णा कापोतसन्निभा। तिक्ता च कटुका चैव कषायलवणाम्लका॥ मधुरा षड्रसोपेता सर्वसम्पत्करी धरा। प्रदक्षिणोदकवती वर्णगन्धरसैः शुभा॥*इसी प्रकार का निर्देश वास्तुविद्या नामक ग्रन्थ में आया है।

'मनुष्यालयचन्द्रिका' का द्वितीय अध्याय '*दिङ्निर्णयादिशुभवीथीपरिग्रह वास्तुदेवता निर्णय*' नाम से है। इस अध्याय में कुल 32 श्लोक हैं। इस अध्याय में भूमि परीक्षा के बाद दिशा परीक्षण की विधि बताई गई है तथा शङ्कु विधि से दिग्ज्ञान को परिभाषित किया गया है। 'मयमत' की तरह ही ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम भूमि को जल के समान इकसार कर उसके बीच में शङ्कु स्थापित कर सूर्य के प्रकाश के अनुसार पड़ने वाली छाया को देखते हुए दिशा का परीक्षण करने का निर्देश दिया है।

यह चुम्बकीय यन्त्र 'कुतुबनुमा' के आविष्कार से पूर्व की पारम्परिक विधि है। इसके अनुसार आवासीय भूमि की दिशाओं का मानक निर्धारण करने के लिए भूमि पर पूजा के बाद बारह, ग्रन्थकार के अनुसार सूक्ष्म तथा मयमत केअनुसार भी वैसा ही शङ्कु स्थापित कर दें। सुबह उस शङ्कु की छाया पश्चिम दिशा में जहाँ पड़े, वहाँ वह पश्चिम तथा संध्या को जहाँ छाया पड़े उसको पूर्व दिशा जाननी चाहिए। इसके बाद मध्य में परकाल रखकर एक वृत्त गोल चक्र बनाएं। पूर्व-पश्चिम दिशा के चिह्नित स्थान को सूत्र से नाप लें। फिर उसे दुगुना करते हुए मध्य में चिह्न बना दें। दोनों किनारे पूर्व-पश्चिम के चिह्न पर ले जाए और मध्य का चिह्न दक्षिण दिशा में जहाँ पहुँचे, वह दक्षिण व उसके ठीक विपरीत उत्तर दिशा होगी।

इसी के आधार पर सूत्र छोड़ने या चिह्नाङ्कन का कार्य किया जाना चाहिए। ग्रन्थकार वास्तु कार्य में ब्रह्मसूत्र, यमसूत्रादि का उल्लेख करता है। यही शब्द मत्स्य,

अग्नि, विष्णुधर्मोत्तर आदि पुराणों और अन्य वास्तु ग्रन्थों में आया है। गृहों में आङ्गन, कूप, वापी, द्वार आदि में सूत्रवेध, रज्जु और कोणालय के कर्णवेध से बचाव पर जोर दिया गया है। ग्रन्थकार भी कहता है- *मत्स्याः शिवाग्न्यग्रास्तद्गतसूत्रयुग्ममपि चात्राब्ध्यश्रमाकल्पयेत्।* ग्रन्थकार ने इक्यासीपद के वास्तुचक्र, परमशायिक विन्यास का उल्लेख किया है। इस अध्याय में आवास के साथ वीथिकाओं के निर्माण पर विशेष जोर दिया गया है। इसी अध्याय में मर्मदोष के निवारण का उपाय बताया गया है कि यदि दोष रह जाए तो शान्तिकर्मकर्ता को स्वर्णकृत महिष, सिंह, गज, कूर्म और वराह का सिर वहाँ पर निखनित् करना या गाड़ना चाहिए। यह उपाय वास्तुविद्या (6, 23-24) के अनुसार है और मानववास्तुलक्षणम् (श्लोक 20) में ज्यों का त्यों आया है।

ग्रन्थकार कहता है कि आवास में उचित रीति से प्राङ्गण बनाया जाए, रुचि के अनुसार उत्तम, मध्यम व अधम नामक कोटियाँ जानकर गणेश वीथी, अग्निवीथी, जल वीथी, नाग वीथी, यम वीथी, कुबेर वीथी, देव वीथी और पिशाच वीथी और ब्रह्मा के पद में प्राङ्गण बनाए जाएँ, आङ्गन के साथ गमन रखा जाए। यहाँ यह उल्लेख्य है कि वीथी की विधि द्राविड़ वास्तु में विशेष रूप से मिलती है। अग्निपुराण (105, 19-23) में वीथी का वर्णन कदाचित् प्रथमतः आया है। वहाँ कहा गया है कि दीवार के लिए जो सूत से मान निर्धारित किया गया हो, उसके बराबर ही उसके समक्ष भूमि या सहन होनी चाहिए। वह वीथी के भेद से अनेक नाम वाली होती है। भद्र नामक प्रासाद में वीथियों के समान ही द्वारवीथी होती है। केवल वीथी का अग्रभाग द्वारवीथी में नहीं होता है। श्रीजय नामक प्रासाद में जो द्वारवीथी होती है, उसमें वीथी का पृष्ठभाग नहीं होता। वीथी के पार्श्वभागों को द्वारवीथी में कम कर दिया जाए तो उससे उपलक्षित प्रासाद की भी भद्र संज्ञा हो जाती है। गर्भ के विस्तार की भाँति ही वीथी का भी विस्तार होता है। कहीं-कहीं उसके आधे अथवा चौथाई भाग के बराबर भी होता है। वीथी के आधे मान से उपवीथी का निर्माण करना चाहिए।

कहा गया है कि यदि घर पूर्व या पश्चिम दिशा की ओर हो और उसमें जल की व्यवस्था हो तो अति उत्तम होता है। यदि प्राङ्गण कम भी हो किन्तु उसकी रचना रेखाङ्कनपूर्वक की जाए तो अच्छा दिखाई देता है और चारों कोनों वाला आवास भी दूर से सुन्दर लगता है। ग्रन्थकार ने गृह रचना में मर्यादा, नियम आदि पर जोर दिया है और कहा है कि इनसे युक्त मानव के आवास को ईश्वर भी उन्नति प्रदान करता है- *मर्यादानियमप्रहीणमनुजागारेऽपि तत्प्राङ्गणादेवं क्षेत्रमितिं करोतु च पुनर्वप्रान्तमौचित्यतः।*

इसी अध्याय में वास्तुपुरुष की उत्पत्ति का पुराख्यान दिया गया है, जो वास्तुविद्या, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति आदि में आया है। इसकी पूजा से गृहवास का फल अनुकूल मिलता है, ऐसी मान्यता है- *ताश्चेदनिष्टा विपरीतदाः स्युस्तस्मीद् विदध्यादिह वास्तुपूजाम्।*

इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय की संज्ञा '*मानभेदयोन्यायव्ययादिनिर्णय*' है और इसमें 43 श्लोक हैं। वास्तुशास्त्र में मानभेद पर विशेष रूप से बल दिया जाता है। शुल्बसूत्र काल से ही यज्ञार्थ वेदिकाओं में अङ्गुल, रज्जु आदि से मानादि का प्रयोग किया जाता रहा है। गज, हस्त आदि प्रमाण के लिए इस ग्रन्थ में 'शिम्बि' का प्रयोग भी हुआ है जबकि अपराजितपृच्छा, वास्तुमण्डनम् आदि उत्तर भारतीय ग्रन्थों में 'कम्बी' नाम आया है। ग्रन्थ में माप की इकाई, नाना हस्तमान और उनका उपयोग, विप्रादि क्रम से इकाई का प्रयोग, प्रासाद के लिए इकाई, यव और षष्ठितण्डुल के अनुरूप उत्तम, मध्यमाधम अङ्गुल, नव प्रकारेण अङ्गुल से बहत्तर प्रकार के हस्तानयन के भेद भी कहे गए हैं। मात्राङ्गुल के उपयोग, माप की अन्यान्य इकाइयों- रज्जु, दण्डादि से मूर्ति, आभरण, वस्त्र, यज्ञपात्र आदि के प्रमाण का निर्देश भी इस अध्याय में किया गया है।

सामान्यतया निम्न मान बताए गए हैं-

तिल की चौड़ाई से आठ गुना = यवोदर

आठ यवोदर = एक मात्राङ्गुल

द्वादश मात्राङ्गुल = एक वितस्ति या बेंत

इसके साथ ही आठ प्रकार के हस्तमान कहे गए हैं-

चौबीस मात्राङ्गुल = एक हस्त, कर, किष्कु, अरत्नि, भुजादि

पच्चीस मात्राङ्गुल = एक प्राजापत्य संज्ञक हस्त

छब्बीस मात्राङ्गुल = एक धनुर्मुष्टि प्रमाण

सत्ताईस मात्राङ्गुल = एक धनुर्ग्रह प्रमाण

अठाईस मात्राङ्गुल = एक प्राच्या प्रमाण

उनतीस मात्राङ्गुल = एक वैदेह प्रमाण

तीस मात्राङ्गुल = एक वैपुल्य

इकतीस मात्राङ्गुल = एक प्रकीर्ण

इनमें से किष्कु या कर का सर्वत्र उपयोग किया जा सकता है जबकि प्राजापत्य हस्त का उपयोग विमान अथवा एकाधिक मंजिले भवन, प्रासादादि और वैश्य के लिए होता है। धनुर्मुष्टि प्रमाण से गृह, ग्रामादि निवेश, रास्ता, उपवन, वापी, जलाशय के लिए योग्य है। धनुर्ग्रह भी इसके अनुसार ही किन्तु यह विप्रवर्ग के लिए श्रेयस्कर बताया गया है जबकि प्राच्या शूद्र, वैदेह वैश्य, वैपुल्य क्षत्रिय और शेष प्रकीर्ण का उपयोग विप्रों के लिए आवश्यक कहा गया है।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने उत्तम, मध्यम और अधम मान के अनुसार बनवाए जाने वाले गृहों का नामोल्लेख करते हुए भिन्न-भिन्न मतों का सन्दर्भ भी दिए हैं तथा अपनी राय दी है कि सभी गृहों में हाथ, अङ्गुल, मुष्टि, दण्ड आदि का गणितीय उपयोग किया जाना श्रेयस्कर है- *हस्तेनैव गृहाद्यमुक्तमुदितं कुत्रापि मात्राङ्गुलैरत्यावश्यकतो यवैरपि परीणाहं च गत्यादि च। मानुष्येषु तु बाह्यगेहगतिनिष्ठादौ चतुर्हस्तको दण्डो यष्टिरिति स्मृतौऽष्टगुणितो दण्डोऽत्र रज्जुर्भवेत्॥*

उल्लेखनीय है कि यूका, यवादि के अनुसार प्रतिमाओं का निर्माण किया जाता रहा है। 'अर्थशास्त्र' में इस मान की तालिका है- *अष्टौ परमाणवो रथचक्रविप्रट्। अष्टौ लिक्षा। ता अष्टौ यूकामध्यः। ते अष्टौ यवमध्यः। अष्टौ यवमध्या अङ्गुलम्।* अर्थात्- आठ परमाणु के बराबर एक रथरेणु, आठ रथरेणु के बराबर एक लिक्षा, आठ लिक्षा के बराबर एक यूकामध्य, आठ यूकामध्य के बराबर एक यवमध्य तथा आठ यवमध्य के बराबर एक अङ्गुल होता है। 'देवतामूर्तिप्रकरणं' में यह मान इस प्रकार है- *छायारेणुश्च बालाग्रलिक्षयूका यवोऽङ्गुलः। क्रमाद्दशगुणं मानं जिनसंख्यैः करोऽङ्गुलैः॥* प्राचीनकाल में नवताल में देवताओं की प्रतिमाएँ बनाई जाती थीं- *'सर्वेदेवा नवांशका।'* इस प्रकार का विधान 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' व 'मत्स्यपुराण' में भी मिलता है। शुक्राचार्य ने अपनी मुट्ठी के चतुर्थांश को एक अङ्गुल माना है और बारह अङ्गुल को एक ताल कहा है- *स्वस्वमुष्टेश्चतुर्थांशो ह्यङ्गुलं परिकीर्तितम्। तदङ्गुलैर्द्वादशाङ्गुलार्भवेतालस्य दीर्घता॥*

नीलकण्ठन यवमानादि से वेशभूषा, वस्त्र प्रावणादि की संरचना पर बल देता है- *तालाद्यैः प्रतिमादिकं खलु यवैर्मेयं च भूषादिकं वस्त्रप्रावरणांशुकादि परिमेयं स्याद् वितस्त्या तथा।* इसी प्रकार ग्रामों में द्विज भवनों को उत्तम, मध्यम तथा अधम मान और बहुभेद से बनाने की बात कहता है। ग्राम, नगर, पत्तन, पुर के सम्बन्ध में भी दण्डानुसार आकार तय करता है। विप्रादि के गृहानुसार ग्रामादि के भेद बताता है। पुर, नगर, एकभोग, प्रासाद की सीमा-मर्यादा का निर्धारण भी किया गया है।

इस अध्याय की एक विशेषता योन्यादि का निर्देश है। योनि को गृहादि निर्मितियों के प्रसङ्ग में प्राणस्वरूपा कहा गया है। वास्तुग्रन्थों में आयतत्त्व का बहुत महत्त्व है। विश्वकर्मा, काश्यप, भोजदेव, मय, मान, नारायण, वासुदेव, मण्डन, अपराजितादि समस्त ग्रन्थों में आयतत्त्व का विशद् विवरण मिलता है। (इस प्रसङ्ग में मेरी पुस्तक वास्तुसारमण्डनम् और आयतत्त्वम् देखी जा सकती है) आयादि में जो गजादि की संज्ञाएँ उत्तरी भारत में मिलती है, वे ही द्राविड़ ग्रन्थों में योनि के नाम से मिलती है। विवाह की तरह ही गृहादि निर्माण में मेलापक की आवश्यकता है। यह पूरी गणित है और इसको निकालने की विधियाँ ही तत्त्व नाम से कही गई है। गृह और गृहपति के लिए इसको जानना आवश्यक कहा गया है।

आयतत्त्व से ज्योतिर्विज्ञान के वास्तुविज्ञान के साथ समन्वय का मर्म समझा जा सकता है। नवीं सदी तक प्रासाद या गृहादि वास्तुकर्म में आयतत्त्व के रूप में 21 अङ्गों पर विचार होता था- *आयऋक्ष चन्द्रगण व्यय तारांशक राशय:। राशिमैत्री ग्रहमैत्री नाडीवेध अधिपति:॥ लग्नतिथिवारोत्पत्ति अधिपति वर्ग वैरकम्। योनि वैरं ऋक्षवैरं स्थितिर्नाशेकविंशति:॥ (क्षीरार्णव 1, 51-52)*

उक्त श्लोकानुसार 1. आय, 2. नक्षत्र, 3. चन्द्रमा, 4. गण, 5. व्यय, 6. तारा, 7. अंशक, 8. राशि, 9. राशिमैत्री, 10. ग्रहमैत्री, 11. नाडीवेध, 12. अधिपति, 13.लग्न, 14. तिथि, 15. वार, 16. उत्पत्ति, 17. अधिपति वैर, 18. योनिवैर, 19. नक्षत्रवैर, 20. स्थिति और 21. नाश। ये वास्तुकार्य के अङ्ग है।

अगस्त्यकृत सकलाधिकार में अनुबन्ध के रूप में सम्पादक ने आयादि लक्षण दिए हैं। ग्रन्थकार का मत है कि वास्तुकर्म में इन पर विचार करना कर्त्तव्य है। नृपादि भवनकर्ता को इस सम्बन्ध में निर्देशित किया गया है कि इसके पालन से सर्वसम्पत्ति की प्राप्ति होती है- *अथ वक्ष्ये विशेषेण आयादीनां तु लक्षणम्। नृपकर्त्तुश्च वास्तूनां सर्वं सम्पत्कारार्थकम्॥ आयादिभिरुपेदं यन्मानं तच्छ्रीकरं भवेत्। अपेतं सर्वदोषं स्यात् तस्मादायादिसंयुतम्॥ (अनुबन्ध 1-2)*

लगभग डेढ़ सौ श्लोकों में इस ग्रन्थ में आयतत्त्व को उपन्यस्त किया गया है किन्तु इसके दस अङ्ग- आय, व्यय, वार, नक्षत्र, तारा, अंश, पक्ष, योनि, राशि व गण पर ही विचार है- *आयं व्ययं च वारं नक्षत्रं भांशमंशकम्। पक्षं च योनिकं राशिगण च दशधा मतम्॥ (तत्रैव 3)* इन अङ्गों पर विस्तृत विचार के उपरान्त पुन: कहा गया हैं- *आयं व्ययं बहुलमल्पधनावहं स्यात् वारं दिनं शुभदयुक् शुभयोनिवृध्यै। भांशं च राशितिथि योगवय: प्रवृध्यै यन्मानसंख्यशुभदं नृपतेश्च शस्तम्॥ (तत्रैव 150)*

इस प्रकार गृह, वास्तुकर्म में इन अङ्गों पर विचार को अनिवार्य माना जाता था और उत्तर भारत ही नहीं, दक्षिण तक इस सम्बन्ध में विचार को अपरिहार्य स्वीकारा गया था। काश्यप कृत अंशुमद्भेदागम् अथवा काश्यपशिल्पम् ग्रन्थ में पन्द्रह श्लोकों में आयादि पर विमर्श है, जो सकलाधिकार, मय और विश्वकर्मादि तुल्य ही है, यहाँ अप्रासङ्गिक नहीं होंगे- अथ वक्ष्ये विशेषेण आयादिलक्षणं परम्। हर्म्यषड्भागमानं तु गुणाढ्यं वसुभिर्हरेत॥ शेषं द्विजातियोनिः स्यात्तमसेधकरं बुधः। वर्जयेद्वसुभिश्चैव ऋक्षे भूतं हयादिकम्॥ नवधा परितो हस्तं पालैर्हासयेद्बुधः। शेषमर्कादिपारं स्याद्व्यासायामकरं गुणैः॥ त्रिंशद्भिर्वर्धयेभितिं शेषं प्रतिपदादयः। तिथयस्तु समाख्यातं तुङ्ग हस्ताष्टवृद्धिदम्॥ नाभिस्तु निवेशषमायामिन्युच्यते बुधैः। तुङ्गं नवं तु मध्यात्तु क्रमा द्वै नाडिभिर्हरेत्॥ शेषं व्ययमिति ख्यातं आयाधिक्यं व्ययक्षयम्। केतुः सिंहो वृषो हस्ती गुरुः शुक्रो बुधः शशी॥ यजमानस्य जन्मर्क्षादविरोधे दिनं तथा। वास्तुजन्मविरोधं च तथा ह्यात्मकुलं शुभम्॥ एवं परीक्ष्य बहुधा शुभमानं तु संग्रहेत्। अथवा विस्तृतायामहस्ताष्टगुणीकृते॥ भानुव्यये विशेषं तु आयमित्युच्यते बुधैः। नवद्वादशाभिर्ह्रासैः शेषं व्ययमुदाहृतम्॥ वसुभिर्गुणिते ऋक्षे हृते शेषादिकं दिनम्। गुणवृद्धयाऽष्टभिर्ह्रासे शेषं ध्वजादियोनयः॥ नवऋद्धयापरीतोऽस्तं सप्तसङ्ख्या तु ह्रासयेत्। शेषमर्कादिवारः स्यात्रिंशद्धासे तिथिर्भवेत्॥ प्राग्वच्छुभाशुभं वक्ष्ये शुभमानं तु संग्रहेत्। त्रिपञ्चयुगले वेदषडष्टनव भाति वै॥ सदेष्टसिद्धिदाः प्रोक्ताः शेषास्तुः परिवर्जिताः। नृपकर्तुश्च जन्मर्क्षाद्गृहऋक्षावसानकम्॥ गणयेन्मतिमान्विप्रः शुभमानं तु गृह्यताम्। लग्नाष्टमविनाशं च दुष्टयोगं व वर्जयेत्॥ शूलादियोगदोषाढ्ये दुष्टयोग उदाहृतः। आयादिरेवमाख्यातं... ॥ (काश्यप. 25, 1-15)

मनुष्यालयचन्द्रिका में मुख्य रूप से आय, व्यय, नक्षत्र, आयु, वार, दिशादि की शुभाशुभता जानने के सूत्र नीलकण्ठन ने भी दिए हैं और योनि का महत्व सिद्ध किया है। अन्य अध्यायों में योनि पर यथेष्ट रूप से प्रकाश डाला गया है।

मनुष्यालयचन्द्रिका का चतुर्थ अध्याय *गृहाणामिष्टदीर्घपरिणाहदीर्घविस्तार शालादिनिर्णय* विषयक है और इसमें 29 श्लोक हैं। यह मुख्यतः शाला विधान पर आधारित है। इसमें इच्छित आवास के लिए उचित विस्तार, दीर्घ अन्तराल रखने का निर्देश दिया गया है। गृह के अङ्गों के मान की गणना, लम्बाई, चौड़ाई, योनि और परिधि के सम्बन्ध को भी ग्रन्थकार ने इसमें स्पष्ट किया है। परिधि को लम्बाई से निकालने की विधि, गुण विस्तार पद्धति, पादोन अनुपात का निषेध, गृहादि में लम्बाई और चौड़ाई का अनुपात भी बताया गया है।

आय-व्यायादि पर विचार भी इसमें निहित है और प्रत्येक गृहपति के लिए यह विचार आवश्यक माना गया है। धाराधिप भोज ने 'समराङ्गणसूत्रधार' में कहा है कि जिस गृह में गण साम्य शुभ नक्षत्र और आय से व्यय कम होता है तथा हितकारी अंश हो, वह गृह शुभ देने वाला होता है। घरों आदि में क्षेत्रफल को आठ भागों से गणना करते हुए तीन धन से शेष प्राप्त करें। अष्टहृत क्षेत्र या नक्षत्र में व्यय होता है। पिशाच राक्षस व यक्ष या तीन नामों से व्यय माना जाता है।

चन्द्रिकाकार कहता है कि *स्वाभीष्टालयदीर्घमङ्गणविधिं तेषां पृथङ्ग् नाहतो योन्यायर्क्षवयोव्ययादि शुभदं सर्वप्रकारादपि। सम्पाद्याथ गृहेऽष्टदीर्घगुणविस्तारादिभेदान् पृथग् दीर्घव्यासमितिं करोतु च यथात्राल्पान्तरालं सुधीः॥* सूत्रधार मण्डन ने इस प्रसङ्ग में 'वास्तुसार' कहा है कि घर के भीतर की लम्बाई तथा चौड़ाई को गुणाकार करते हुए आठ भाग शेष रहे तो आठ आय जाननी चाहिए- *आयामे विस्तारगुणेऽष्टाभिर्भक्ते ध्वजादयः। शेषास्ते तु करैः कल्प्या अङ्गुलैर्वा यवांशकेः॥* मयमतम् में नवम अध्याय में भी इस पर विचार किया गया है और कहा है कि *आयाधिकमथ सुखदे व्ययमधिके सर्वनाशं स्यात्। विपरीते तु विपत्त्यै तस्मात् सम्यक् परीक्ष्य कर्तव्यम्॥* यह विचारणीय है कि गृह में अधिक आय हो तो वहाँ निवास करना सुखद है और व्यय अधिक हो तो वहां सर्वनाश की आशंका होती है। इसलिए विपरीत और अनुकूल स्थितियों का गणित पहले परीक्षा करते हुए किया जाना चाहिए।

इसी प्रकार चतुश्शाल का विवरण और उसका कोटिगत वर्गीकरण भी इसमें बताया गया है। विशुद्धभिन्नशाला, श्लिष्टभिन्नशाला, संश्लिष्टभिन्नशाला, मिश्रकचतुश्शाला, श्लिष्टभिन्नाष्टशाला, मिश्रभिन्नचतुश्शाला, संमिश्रभिन्नालय का विवरण इस ग्रन्थ की विशेषता है। आगे कोणालय की योनि पर विचार किया गया है और वहाँ की योनि, स्वामी की प्रकृति के अनुसार ही उस दिशा में गृह योजना करने का निर्देश है। कोणालयों की उच्च-नीच स्थिति पर भी विचार आवश्यक है। स्वामी की विपरीत दिशा में रसोई, अतिथिशाला, देवगृह स्थापना आदि किए जाने पर सम्पत्तिनाश, पुत्रशोक, विनाश, स्वर्ण हानि, शत्रुभय आदि प्रभाव होते हैं- *प्राक्शालारहितं गृहत्रिकमथो सुक्षेत्रमत्यृद्धिदं चुल्लीदक्षिणमन्दिरेण रहितं तद् वित्तहानिप्रदम्। ध्वंसः पश्चिमशालया विरहितं पुत्रक्षयारिप्रदं सौम्योनं तु हिरण्यनाभमिति तद् वित्तप्रदं सर्वदा॥*

ग्रन्थ में उत्तर की चौड़ाई के मान, उत्तर की सन्धि, मध्यप्ररूढशाला, शालभवन, त्रिशाल और द्विशाल का विवरण अन्य गृह-वास्तु ग्रन्थों की भाँति ही आया है। इसमें

मुख्य रूप से सुक्षेत्र, चुल्ली, ध्वंस, हिरण्यनाभ संज्ञक त्रिशालभवनों के प्रभाव, काच, सिद्धार्थ, यमसूर्य, दण्ड और सिद्धार्थ संज्ञक द्विशालभवनों के लक्षणादि पर मत्स्यपुराण,मयमतम्, बृहत्संहितादि के अनुसार ही विचार हुआ है।

मनुष्यालयचन्द्रिका का पञ्चम अध्याय मूलत: प्रकाशित ग्रन्थ में शीर्षक रहित है किन्तु अन्य पाठों में इसे *स्तम्भादिगृहावयवविधय:* संज्ञा दी गई है। इसमें कुल 40 श्लोक हैं। इस अध्याय में जल निष्कासन के लिए गृहाधार को ऊँचा रखने, उपपीठ, मल्लीकुट्टिम या पौध स्थल, मासुर-उपनाह, पत्रमान, आङ्गन, गमन के नियमों के साथ-साथ अन्तराल, पादमान, अधिष्ठान या कुट्टिम, स्तम्भ के सम्बन्ध में मत दिए गए हैं और दण्ड प्रमाण तथा पोतिका के बारे में मत लिखा है।

गृह में समस्त वास्तुपद की पालना करने तथा भीतर और बाहर के निर्माण सम्बन्धी दोषों पर विचार किया गया है। इसमें बाहर और अन्दर के आङ्गन के जल के निष्कासन के लिए और मध्य स्थल को निम्नगत होने से होने वाले दोष से बचाने के लिए वास्तु को आठ, बारह या सोलह अङ्गुल उन्नत करने का निर्देश है। इसके लिए मिट्टी, पत्थर आदि का प्रयोग आवश्यक कहा गया है। भूमि यदि गर्त वाली हो तो उसे ऊँची करनी चाहिए। गृहों में मासूर, अधिष्ठान के नीचे एक अतिरिक्त उपपीठ बनाने और उसे एक या दो हस्त चौड़ाई और क्रमश: आठ-आठ अङ्गुल बढ़ाते हुए रक्षा, शोभा का निर्देश किया गया है। मनुष्यालयों में उपपीठ को गृह के अधिष्ठान के बराबर या उसके छह, सात, आठ, नौ या दस भागों के अनुसार क्रमश: पाँच, छह, सात, आठ, नौ के प्रमाण से रखने का निर्देश है।

इसी प्रकार मल्लीकुट्टी या पूजार्थ वृक्ष- तुलसी, बिल्वादि के लिए क्यारा, स्थण्डिल का निर्माण आङ्गन को चौंसठभागों में बाँटकर द्विपदीय आप के पद के उत्तर या द्विपदीय आपवत्स के दक्षिण में करने का नियम बताया गया है। इसे ध्वजयोनि में बनाने और आकार से चतुरस्र, अष्टास्र, षोडशास्र अथवा वृत्तीय रखना चाहिए। अन्य निर्माणों में मासुर का उपानह उपपीठ के ऊर्ध्व स्तर तुल्य और दृढ़ीकृत बनाने, उस पर पादुक, पत्रमान के नियम बताए गए हैं। गृह के बाहर के आङ्गन को बाह्याङ्गन, भीतरी आङ्गन को मध्याङ्गन या प्राङ्गण कहते हुए निर्देश है कि यह उत्तर-दक्षिण विस्तार के साथ ही आयताकार हो और ध्वज योन्यानुसार रखें।

इसी अध्याय में गमन का नियम है। गमन से आशय ऐसे नियमित रेखाङ्कन से है जो शालाओं की सीध को दर्शाए। कहा गया है कि पिण्ड में मध्य रेखा और दिशागत

शाला की मध्य रेखा कभी एक सीध में नहीं हो। यदि ऐसा हुआ तो यह वेध है और इसका परिणाम शुभ नहीं होता है। ऐसे में पिण्ड की रेखा से पूर्व की शाला की मध्य रेखा त्र्याङ्गुल, दक्षिण की शाला की मध्य रेखा नौ, पश्चिम की शाला की मध्यरेखा सात और उत्तर की शाला की मध्य रेखा पाँच अङ्गुल गमन या स्थानान्तरित होनी चाहिए। इसका उपयोग प्रदक्षिण क्रम से किया जाना अपेक्षित है। ऐसा लघु अन्तराल वाले गृहों में ही अभीष्ट है तथा गमनाङ्गुल में दिशा के क्रम से आठ गुणा आठ अर्थात् आठ, सोलह या चौबीस अङ्गुल प्रमाण जोड़ कर प्रयोग करने का निर्देश है।

अन्तराल या गलियारा रखने का नियम भी इस अध्याय में आया है। मुख्य गृह और कोणों में बनाए गए कक्षों को गलियारे से अलग रखने की पद्धति को स्पष्ट करते हुए नीलकण्ठन का मत है कि इनके लिए आठ अन्तराल या गलियारे बनाने चाहिए किन्तु उनको आवश्यकता से अधिक बड़ा नहीं करना चाहिए।

इसी प्रकार पादमानानुसार अधिष्ठान, अधिष्ठान के अङ्ग, स्तम्भ, ओम का मानादि भी कहा गया है। अधिष्ठान के बाद जो पादमान हो, उसको स्तम्भ की ऊँचाई मानने का निर्देश है किन्तु आवश्यकता हो तो 6, 7, 8, 9, 10, 11 से विभाजित कर उसमें एक भाग न्यूनाधिक कर स्तम्भ की ऊँचाई रखने का भी विधान बताया गया है। इसमें स्तम्भ का जो आधार हो, वह ओम कहलाता है, जैसा कि वास्तुविद्या में भी आया है। यह पोतिका मान कम कर तय किया जाता है। 'समराङ्गणसूत्रधार' में इस सन्दर्भ में कहा गया है कि स्तम्भ में छाद्य करने के लिए दृढ़ शुभ मदला रखें।

नीलकण्ठन का मत है कि पादपीठ या ओम का बहुत मोटे और मजबूत पत्थर या सार काष्ठ से बनवाएँ। इसके चतुरस्त्र, अष्टास्त्र, षोडशास्त्र या फिर वृत्तीय बनाएँ। यह मासुर से ऊपर लगाएँ तथा चौड़ाई को स्तम्भ के निम्नभाग के कर्ण मान से तुलनीय रखें। यह पद्म के समान और वाजन सहित भी हो सकता है, इन पर शिखा को वर्गाकार रखें और निजपीठ के ऊपर गर्त से जोड़कर खड़ा किया जाना चाहिए। इसमें आगे के भाग की जो चौड़ाई हो, उसे दण्ड नाम से जाना जाता है। मल्लसूत्रधार कृत 'प्रमाणमञ्जरी' नामक ग्रन्थ में स्तम्भ पर विशेष जानकारी आई है। इसमें कहा गया है कि स्तम्भ के विस्तार का जो मान हो, उसको चार भाग करें और उसमें से तीसरा भाग कर शेष तीन भागों के अनुसार दीवार और कोनों के स्तम्भों की मोटाई रखें किन्तु वृत्ताकार स्तम्भ और भद्र वाले स्तम्भों को केवल राजा के गृह में ही रखना चाहिए, सर्व सामान्य के गृह में नहीं। स्तम्भ के विस्तार का आधा भाग मिलाकर कुम्भी का विस्तार डेढ़ गुना करें

और उतने ही विस्तार की सवा गुनी कुम्भी की ऊँचाई रखें। कुम्भी की ऊँचाई के पन्द्रह भाग करें तो उसमें पाँचें भाग का खुरक करें और साढ़े छह भाग का कुम्भ और तीन भाग का कलश बनाना चाहिए- *स्तम्भव्यासार्धतातुल्ये पादोने तस्य पिण्डतः। वृत्तं भद्रयुतं स्तम्भं त्यजेद् राजगृहं विना॥ स्तम्भविस्तारतः सार्द्धमानेनानेन कुम्भिकाः। विस्तारे चोच्छ्रये कार्याः पट्टोच्छ्रायसमा बुधैः॥ तिथ्यंशै$_{15}$र्भाजिते तस्मिन् खुरकं पञ्च$_{5}$भागिकम्। कुम्भाकारं तु षट्$_{6}$ सार्धं कलशं तु त्रिभागतः$_{3}$॥ (प्रमाणमञ्जरी 68-70)*

पहली बार प्रकाशित ग्रन्थ का षष्ठ अध्याय भी संज्ञा रहित है, मातृकाओं में भी संज्ञावधान नहीं है किन्तु इसे *कूटलुपादिमानशिखरविधेयः* नाम से परवर्ती टीकाकारों ने वर्गीकृत किया है। इसमें 24 श्लोकों में मुख्य रूप से आरूढोत्तरविधान, विष्कम्भविन्यास, लुपालम्बप्रमाण, ऋजु, मञ्च, कूट, लुपा, वंश के पर्याय और प्रमाण, कूट के प्रमाण, चौकोर, वृत्ताकार और एकाधिक भुजा वाले कूट व उसके अलङ्करण, कूट की परिधि, आयताकारगृहों में लुपादि का संयोजन, वहीं पर कूट और वंश का संयोजनम्, मुख सहित आयताकार भवन, कूट की संयोजन की विधि, भुज कोटि और कर्ण, लुपा पङ्क्ति आदि, अन्तराल, लुपा, उत्तर आयाम बराबर रखने, लुपाकार में वर्ग की परिकल्पना, लुपाओं के विभाजन में ध्वजसूत्र का उपयोग, अन्यान्य रेखाओं का निर्देश और वर्ग से कर्णवितान लम्बन का विवरण दिया गया है। ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है कि लघु और बृहद्गृहों में यह भेद है कि लघु में केवल बाह्य उत्तर होता है जबकि बड़े गृहों में उठा हुआ उत्तर भी होता है। इसे आरूढ़ोत्तर कहा गया है और इसको विष्कम्भ पर लगाने का विधान है। इसका बाह्य उत्तर से भीतरी गमन आठ, सोलह, चौबीस अङ्गुल रखा जाता है और इसको गमन के बराबर ही उठाया जाता है। विष्कम्भ पाद की लम्बाई को कर्ण के बराबर रखने का निर्देश है। इसके अङ्गों को नाना प्रकार की कल्पलताओं आदि उच्चचित्रों से सजाया जाना चाहिए। इसी प्रकार महातरङ्गों से निकलते गुल्मों या पुष्पगुच्छों और कलियों से भी इसको अलंकृत किया जाता है।

इसके बाद लुपालम्ब बारे में कहा गया है कि जहाँ उत्तर स्थापित की जाए, उसके नीचे के हिस्से से लुपा की लम्बाई रखनी चाहिए। इस लम्बाई के लिए छह प्रकार से निर्धारण हो सकता है। इसके लिए यदि पाद की ऊँचाई को 5 भागों में बाँटा जाए तो 2 भाग, 9 भाग करें तो 4, 7 या 8 भाग करें तो 3 भाग की लुपा होती है- *कुर्यादुत्तरपट्टतोऽखिललुपालम्बं तदौचित्यतः स्तम्भोच्चे शरभाजिते द्वितयतो यद्वाङ्क भक्तेऽब्धिभिः। अद्र्यंशिन्युरगांशिते च हुतभुग्भागैस्तथाङ्घ्र्युच्छ्रय त्र्यंशार्धांशत एव वाभिलषितं षोढोदितेष्वेषु तु॥*

नीलकण्ठन ने यह भी कहा है कि यदि पाद के उदय को 6 से 11 भागों में बाँटा जाए तो उसके नीचे के भाग में पादोच्छ्राय को एक अंश न्यूनाधिक किया जा सकता है। इसी प्रकार पाद के उदय में 1, 2, 3, 4, 5, 6 अथवा 7 अङ्गुल प्रमाण घटाकर अथवा आवश्यकता हो तो पर इतना ही विस्तृत भी किया जा सकता है। इस प्रकार लम्ब दोनों ही स्थितियों में सम या विषम रखा जा सकता है।

इसी प्रकार ग्रन्थकार का मत है कि गृहों में लगाई जाने वाली लुपाएँ एकाधिक प्रकार की होती है। आकार की दृष्टि से यह विभाजन किया गया है-

1. ऋजुमञ्च - ऐसी लुपाएँ जो समान और सीधी व प्रकृत हो

2. कोटिस - ऐसी लुपाएँ जो असमान होती हैं

3. अलसी - ऐसी लुपाएँ जो कि तिर्यक् होती है और पार्श्व में एक जैसी हो।

इसी प्रकार तिर्यक् लुपाओं के पुनः दो भेद बताए गए है-

1. कोटि लुपा अथवा प्रधान लुपा

2. उपकोटि अथवा अनुपकोटि लुपा।

इसी प्रकार का वर्णन मयमतम् में आया है किन्तु वहाँ साधारण लुपा को मध्य लुपा कहा गया है- *एवं मध्यलुपासीम्रो वर्धन्ते वर्णसङ्ख्यया॥*

नीप्र जो कि छत पर आने वाले खम्भ के सबसे नीचे के भाग या दीवार संरचना के ऊपर जहाँ सभी झुकाव नीचे क्षैतिज भाग में लगते हैं, की पृथुलता या कि गहराई उत्तर के बराबर या फिर उससे डेढ़ गुनी, दो, तीन, चार, पाँच, छह अथवा सात गुनी तक रखी जा सकती है। यदि अन्य गृहों से इसको जोड़ा जाता है तो तब लुपा, नीप्रादि में छेद किया जा सकता है किन्तु सभी गृहों में उत्तर प्रधान है। विपरीत स्थितियों में यह दूसरे मकानों से जुड़ता है, तो ऋजुमञ्च टूट सकता हैं, किन्तु गृह में उत्तर सबसे महत्वपूर्ण भाग है, यह कभी भग्न नहीं होना चाहिए।

इसके बाद ग्रन्थकार ने वंश का विवरण दिया है जो कि पीछे से आने वाली लुपा के आगे के योग को धारण करता है। बृहत्संहितादि में भी वंश का प्रमाण दिया गया है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई का प्रमाण उत्तर के बराबर या उसका तीन-चौथाई हो सकता है। इसी प्रकार कूट जो कि अधोमूल है, वंश से सन्नद्ध होता है और भवन की लुपाएँ इससे लटकी हुई रहती है। कूट-वंश संयोजन में अजयुद्ध सन्धि का विवरण

आया है। यह एक विशेष संयोजन विधि है जो वंश के आगे और मूल में विद्यमान शिखा के कूट के पीछे के छेद में प्रवेश कराने से निष्पन्न होती है। इस विधि में वंश आधारमूलक और कूट आधाय संज्ञक हो जाता है। भवन में लुपाओं को सम संख्या में रख जाना चाहिए।

उत्तर पर लुपा के संयोजनार्थ की जाने वाली कटाई के सम्बन्ध में ग्रन्थकार कहता है कि इसके लिए लुपा के कुल प्रमाण को 9 से विभाजित करें और 4 अंश ऊपर के तथा 5 अंश नीचे के त्यागते हुए उस पर दोनों ही ओर ध्वजसूत्र के क्रम से अङ्क डालें। इसी प्रकार यदि उसे सात से भाजित करें तो 3 भाग नीचे और 4 भाग ऊपर के और अगर 5 से भाजित करें तो नीचे के 2 व ऊपर के 3 भाग छोड़कर ध्वजसूत्र से चिह्नित करें। इसके उपरान्त ध्वजसूत्र के ऊपर व नीचे, दोनों ओर उससे दो अङ्गुल प्रमाण की दूरी पर भी एक रेखा खींचनी चाहिए। इनमें से प्रत्येक की चौड़ाई का माप इनके ऊपर और नीचे से मान के अनुसार ली जानी चाहिए। सामान्यत: लुपा के दोनों ही ओर ध्वजसूत्र के दोनों ओर जो रेखाएँ डाली जाए, उनका अन्तराल द्वि अङ्गुल रखें।

यदि समस्त लुपाओं के दोनों ओर 4 अङ्गुल प्रमाण का वर्ग खींचा जाए तो मध्य सूत्र के अनुसार वर्ग के दो कर्ण वितान और लम्ब होते हैं। जिस स्थान पर कूट, उत्तर नीव्रलम्ब हो वहीं पर इन दो रेखाओं को डालना चाहिए। इस प्रकार चार अङ्गुल का वर्ग इन दोनों ही रेखाओं पर उन स्थलों पर बनाए जहाँ कि उत्तरादि की स्थिति, कूटगत सन्धि और स्थापनादि करना हो। इस वर्ग में दोनों ही कर्ण से वितान और लम्ब रेखाएँ होती है। लुपा में अग्र सिरा लम्ब रेखा के समानान्तर होना चाहिए और छिद्र के अनुसार ही ऊपर और मूल में, उत्तर के आधार आदि वितान रेखा के नियम से ही सम्पादित करना चाहिए।

संयोजन के लिए कील का प्रयोग किया जाना चाहिए। प्रमाणमञ्जरी में आया है कि गृह में काष्ठादि फलकों को लौह-कीलों से जोड़ा जाना चाहिए। लोहे की कीलें अच्छी प्रकार से जोड़ती है, उसको सुशीर्षक वाला रखना चाहिए। कील को इस प्रकार लगाएँ कि वह स्थिर व सुदृढ़ रह सकें। नीचे की ओर अन्त में इसका प्रयोग करें। इसके लिए पीतल आदि धातुओं का प्रयोग भी किया जा सकता है- *लोहजेन तु बन्धेन बन्धितं सुदृढं तथा। तथा कार्यं मध्यभागे चतुष्केषु च कीलकम्॥ लोहमस्यं भद्रयुतं तेन प्रोक्तं सुशीर्षकम्। कीलकं स्थापयेद् धीमान् स्थिरीभूतं यथा भवेत्॥ अल्पं लोहमयं चाध: प्रान्तेषु सुदृढं स्मृतम्। पक्षिणीप्रान्ततस्तस्य कार्यं तेन दृढं भवेत्॥ ऊर्ध्वशल्यं तथा लोहबन्धने परिवेष्टयेत्। धातुना रमितं लोहं कार्यं धनवतां गृहे॥ (प्रमाणमञ्जरी 258-261)*

इसके बाद छत पर डालने योग्य पट्टिकाओं का नियम बताया गया है जो 17 यव के प्रमाण से चौड़ी ओर नौ यव प्रमाण से मोटी होनी चाहिए। यहाँ छत पर ताम्बे की पट्टिकाएँ भी लगाने का निर्देश हैं।

सातवाँ और अन्तिम अध्याय *'अल्पमन्दिरकवाटबाह्यगेहकूपतटाकादिविधान'* संज्ञक है। यह 45 श्लोकों वाला है। इसमें सर्वप्रथम स्वल्प मन्दिर की विधि, लुपोपनिबद्ध के लिए नीव्रपट्टिका का प्रमाण, उच्च तथा निम्नस्थ पट्ट का मान, धूलीनिरोधन नामक पटल प्रान्त की पट्टिका का संयोजन, कील का प्रमाण, पट्टिका का प्रमाण, अन्तर का मान, गृह के आच्छादन के लिए ईंटों आदि का प्रयोग, शिर स्थान के अभिधान और मानादि का वर्णन, गृह के लिए द्वार का स्थान, द्वार के ऊपर बनाए जाने वाले पट्ट पर सजावट, दीवारों के अनुसार द्वार की रचना, अन्तर्नाहज मन्दिर के विषय में विशेष ज्ञातव्य, किंवाड़ और उनके लक्षण, किंवाड़ों के विविध अङ्ग, सूत्रपट्टिका अथवा सन्धिपाल, मातृ किंवाड़ के फलक, सूत्रपट्टिका का मान, कुण्डी या अर्गला का प्रमाण, कबली का विधान, उनकी संयोजन विधि, गृह कार्यों में एक ही जाति के काष्ठ का प्रयोग, जहाँ पर एक ही किंवाड़ हों, वहाँ के लिए आवश्यक निर्देश, बाहरी द्वार का प्रमाण, प्राङ्गणादि के द्वार, इक्यासी पद वास्तुचक्र के अनुसार मुख्य द्वार का निवेशन, उपद्वार निवेशन, वेदिका का प्रमाण, उसका निर्गम, वेदिका के लिए योग्य पदार्थ, तुला आदि के सम संख्यक होने का निर्देश, भवन में बनाए जाने वाले विविध कक्षों का वर्णन है।

इसी प्रकार लघु स्थान के भवन में प्राङ्गण का प्रमाण, खेती-बाड़ी के कार्य प्रयोजन से बनाए जाने वाले कक्ष, गोशाला-महिषी व वृषभशाला बनाने के निर्देश भी इसी अध्याय में हैं। इसमें कर्ण के उल्लङ्घन का निषेध किया गया है। भोजनशाला, क्रीड़ागृह के बाद कूप स्थान तथा उसके लिए शुभाशुभ पर विचार, विपरीत दिशा में खोदे जाने वाले कूप से होने वाले फल, राजा आदि के भवनों में देव पूजन के लिए बनाए जाने वाले आलय, वहाँ पर स्थापित की जाने वाली प्रतिमाओं का निर्देश, पूजागृहों में कोण के अनुसार योनि का निर्णय, प्रतिष्ठा योग्य प्रतिमाओं के निर्देश, राजाओं के लिए योग्य मणिगृह, दुर्ग या राजधानी में बनाए जाने वाले परकोटे, खाई, आवरण आदि का विवरण भी इस अध्याय में दिया गया है। अन्त में गृहप्रवेश और उत्तर कार्य का विवरण दिया गया है।

इसमें पहले लघुगृहों में चूली के प्रयोग के विषय में कहा गया है। यद्यपि ऐसी

स्थिति में विष्कम्भ अथवा आड़ीधरण भी समसंख्या में निर्धारित किए गए हैं। इनके लिए विष्कम्भ के मध्य स्थान पर वंश का प्रयोग करना चाहिए। कहीं-कहीं खम्भ या खूँटी की लम्बाई 7, 8, 9, 10 अथवा 11 भागों में से एक भाग कम की जानी चाहिए और यहाँ पर लुपा को चूली के ऊपर ही स्थापित किया जाना चाहिए।

गृह में जब नीप्रव्यास रखा जाए तो यह ज्ञातव्य है कि उसकी चौड़ाई को पाँच से विभाजित किया जाना चाहिए। इसमें से दो भाग ऊर्ध्वपट्ट के और एक भाग निम्नस्थ पट्ट का होगा। इसी तरह जब नीप्रव्यास छह से विभाजित कर रखा जाता है तो उसका ऊर्ध्वपट्ट दो भाग, खाँचा तीन भाग और एक भाग का अधोपट्ट होता है। इसी भाँति यदि उसे आठ से भी भाजित कर रखा जाए तो उपर्युक्त भाग क्रमशः 3, 4 और 1 अंश से कल्पित किए जा सकते हैं। यदि नीप्र की चौड़ाई को पाँच, सात अथवा नौ भागों में विभाजित किया जाता है तो प्रति स्थान मध्यस्थ ध्वजरेखा के ऊपर कर्णों को अनुप्रस्थतः तीन भाग जितना खिसकाएँ। इसके बाद में नीप्र को लुपा पर स्थिर करें। इस प्रकार से धूलिकावरोध नामक पट्ट लगेगा। यह बहुत महत्वपूर्ण हैं। ग्रन्थकार ने यहाँ केवल पूजा का सङ्केत किया है किन्तु 'वास्तुविद्या' में इस पर पृथक् से अध्याय आया है। इससे आशय है कि धूलिकानिरोध संज्ञक पट्ट गृह में बहुत महत्वपूर्ण हैं- *अथ वक्ष्यामि संक्षेपाद् धूलिकारोधमुत्तमम्। वायव्ये मण्डपं कुर्यात् प्रसादस्यानुरूपतः॥ तत्र कुण्डं प्रमाणेन कृत्वा चाग्निं प्रणीय च। संस्कृत्य च यथान्यायं पश्चाद्धोमं समाचरेत्॥ (वास्तुविद्या 7-8)*

नीप्र के लिए प्रयोजनीय पट्टिका का प्रमाण 17 यव रखना चाहिए और उसकी मोटाई को नौ यव रखी जाए। मध्य का अन्तराल कुल मोटाई का तीन चौथाई हो और इसको लुपा पर कील के माध्यम से सुदृढ़ रूप से संयोजित किया जाना चाहिए। ग्रन्थकार का निर्देश है कि पट्टियों से ढके जाने वाले गृहों पर प्रस्तर पट्टिका का प्रयोग कतारबद्ध किया जाना चाहिए। कहीं-कहीं सघन फलकों को भी लगाया जा सकता है किन्तु वे कील से जुड़े होने चाहिए। देवालयों में छतों का आच्छादन ताँबे की पट्टिकाओं से किया जा सकता है। ऐसे पुरुष-रूपेण हवेलियों अथवा बड़े, विस्तृत भवनों के ऊपरी भाग को ग्रन्थकार ने 'अभिधान' (अपिधान, पगड़ी) कहा है। मासूर (अधिष्ठान) की ऊँचाई की आधी अभिधान की चौड़ाई रखी जाती है किन्तु यह तीन-चौथाई भी हो सकती है। यहाँ मोटाई पादुक की मोटाई के समान ही रखने का निर्देश है। यही निर्देश वास्तुविद्या में भी आया है।

भवन में द्वार का स्थान महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में नीलकण्ठन का निर्देश है कि किसी भी भवन में पूर्वादि दिशाओं में द्वार इस तरह स्थापित किया जाना चाहिए कि इसका केन्द्र, आङ्गन की मध्यरेखा तथा गृह की मध्यवर्ती रेखा के मध्य ही आए। यहाँ आय, व्यय तथा योनि की गणना अङ्गुलमान से करनी आवश्यक है। इसके लिए वाजन के साथ द्वार खम्भों की चौड़ाई उत्तर की चौड़ाई के समतुल्य रखी जाए और उसकी मोटाई और अन्य अङ्गों देहली, सिरादि सहित चौड़ाई को उसके समान ही अथवा आधी, पौन या दो तिहाई रखी जा सकती है।

दहलीज की मोटाई को इसके चौखट, स्तम्भों की मोटाई से एक चौथाई या फिर एक तिहाई भाग ज्यादा रखना चाहिए। यहाँ वाजन या दोनों तरफ निकले भाग नहीं होने चाहिए। चौखट का ऊपरी धरण उत्तर अथवा उनके स्तम्भों तक हो। इसी प्रकार चौखट की भीतरी परिधि दिशा सम्मत हो। इसमें भी उचित योनि और आय, वृद्धि आदि का ध्यान रखकर न्यास करना चाहिए। इसके लिए चौड़ाई को अर्ध परिधि से उसके ही इष्ट दैर्घ्य और गुणांश से निकालना चाहिए।

द्वारोर्ध्वपट्ट पर गणेश, लक्ष्मी या श्रीकृष्ण अथवा अन्य आदरयोग्य देव प्रतिमाओं, चित्र-विचित्र पत्रों, पक्षियों का अङ्कन करवाने का निर्देश भी ग्रन्थकार ने किया है- *द्वारोर्ध्वपट्यूर्ध्वमथो गणेशपद्मालयायादवमूर्तिभेदान्। यथेष्टमापाद्य विचित्रपत्रिप्रभेदयुक्तां फलकां विदध्यात्॥* यह परम्परा आज भी देखी जा सकती है।

जिस प्रमाण की भित्ति बनाई जा रही हो, उसकी चौड़ाई को 12 से विभाजित कर 7 भाग भीतर और 5 भाग बाहर की ओर रखते हुए द्वार के लिए बनाए जाने वाले स्तम्भों को रखना चाहिए। स्थापना के समय यह ध्यान रहे कि उनको केन्द्र के साथ विभाजित रेखा पर स्थापित किया जाए। कभी-कभी इस पर सुदृढ़ शीर्षपट्ट भी लगाया जा सकता है। इसी पर बाद में शेष ऊँचाई की दीवार तक शिला, मिट्टी और चूना आदि से दीवार को उठाना चाहिए। द्वार का जो छूटा हुआ क्षेत्र हो, उसके आधे में मोटाई के मान को जोड़कर ही वहाँ लगाए जाने वाले किंवाड़ के पल्ले बनाए जाने चाहिए। यहाँ किंवाड़ की मोटाई को ढाई अथवा साढ़े तीन मात्राङ्गुल या फिर चार मात्राङ्गुल रखी जानी चाहिए। पल्लों के शीर्ष और निम्न स्थान पर भ्रमणिका, अर्गला, सन्धिपाल, प्रक्षेपणीय वलय, पत्रक, तिर्यक् पट्टी, श्रीमुख, चन्द्रकार शकलिकाएँ या पासे सहित पुष्पादि से युक्त किया जाना चाहिए। इसी प्रकार का निर्देश प्रकृत ग्रन्थ वास्तुविद्या में आया है- *सरोजकोरकाकारैः कीलैर्वा पुष्पसन्निभैः। पट्टिकां पद्ममध्येषु विद्धैः कुर्याच्च निश्चलाम्॥ (14, 24)*

विश्वकर्माप्रकाश में कहा गया है कि विस्तार के चौथाई के तुल्य शाखा में अधिकता करते जाना चाहिए। तीन, पाँच, सात तथा नौ शाखाओं का द्वार इष्ट होता है- *विस्तारपादप्रमितं बाहुल्यं शाखयोः स्मृतम्। त्रिपञ्चसप्तनवभिः शाखाभिर्द्वारमिष्यते॥* साथ ही कहा गया है कि यदि द्वार के स्तम्भ में ध्वनि होती है तो उसमें रहने वालों के वंश का नाश होता है। त्रिकोणाकार, शकटाकार, शूर्पाकार, धनुषाकार, भुजाकार और परिमाण से न्यून द्वारों को त्याग दिया जाना चाहिए। इस प्रकार के द्वारों से क्रमशः स्त्री को पीड़ा, स्वामी को भय, कलह के साथ ही वतुल द्वारों से कन्याओं की उत्पत्ति होती है- *शूर्पे धनविनाशः स्याद्धनुषि कलहः स्मृतः। नूनं नाशस्तु मुरजे वर्त्तुले कन्यकोद्भवः॥* चन्द्रिकाकार के मतानुसार गृहद्वार के मध्य में स्तम्भ, दीवार आदि न बनवाएँ।

वास्तुग्रन्थों में द्वार और कपाट के सम्बन्ध में कहा गया है कि एक ही जाति के तरुकाष्ठ का द्वार बनाया जाना चाहिए, ऐसा किया जाना शुभ है तथा इसके विपरीत कष्ट होता है। नीलकण्ठन का भी कहना है कि दरवाजे की चौखट और किंवाड़ के पल्ले को एक ही जाति की लकड़ी से बनाना शुभ होता है। विजातीय लकड़ी का प्रयोग करने पर उस गृह में वधू का चरित्र-पतन होता है- *एकजातितरुभिः प्रकल्पितं द्वारपादफलकादिकं शुभम्। अन्यथा यदि वधूकुशीलता सम्भवेदिति वदन्ति केचन॥*

इसके बाद बाह्यद्वार के सम्बन्ध में ग्रन्थकार कहता है कि बाह्य द्वार के लिए भवन की कुल लम्बाई को सूत्र भेदानुसार 10 अथवा 12 भागों में विभाजित करें। इसमें से द्वार प्रायः पीछे, दाँयीं ओर छठे या सातवीं रेखा पर रखा जाना चाहिए। द्वार स्वयोनि के अनुरूप बनाएँ। यदि द्वार में एक ही किंवाड़ लगाना हो तो उसे अन्दर प्रवेश के समय बाँयी ओर स्थित करना चाहिए। द्वार के विषय में कुछ और निर्देश भी इस अध्याय में दिए गए हैं, जो विचारणीय हैं।

भवन में वेदिका की चौड़ाई के लिए नियम बताया गया है कि प्रथमतः वह स्तम्भ के मूल की चौड़ाई के प्रमाण की हो और यदि स्तम्भ के उदय को छह, सात अथवा आठ भागों में विभाजित किया जाए तो एक अंश प्रमाण उसकी चौड़ाई रखें। यह प्रति की ऊँचाई के समतुल्य हो सकती है अथवा उसकी डेढ़ गुनी, दो गुनी या तीन गुना हो सकती है। स्थपति का कर्तव्य है कि वह वेदिका के चारों ओर भित्ति बनवाए, यह रचना समसंख्या के स्तम्भों से बनानी चाहिए और उत्तर की चौड़ाई लकड़ी के खम्भों के बराबर, उनकी आधी अथवा तीन-चौथाई रखी जा सकती है। वेदी के लिए एक ही जाति की सामग्री का उपयोग किया जाना चाहिए। भवनों में देखा गया है कि

वेदी ईंट, गारा, पत्थर और नाना प्रकार की लकड़ियों से भी बनाई जाती है। भवन में तुला, स्तम्भ और लुपा को समसंख्या में रखना चाहिए किन्तु इनके बीच का अन्तराल विषम संख्या में रखा जाने का नियम कहा गया है।

इसके बाद नीलकण्ठन ने पूर्वीशाला के विषय में कहा है कि भवन में होम तथा अर्चना का स्थान पूर्व में रखें। परिजनों के लिए कक्ष को उत्तर दिशा में बनाएँ अथवा इन दोनों को परस्पर कक्षान्तरित भी किया जा सकता है। अतिथियों के लिए स्वागत कक्ष दक्षिण में, कोशागार पश्चिम में बनाएँ अथवा इन दोनों कक्षों को आपस में स्थानान्तरित किया जा सकता है। इन दोनों ही शेष भाग अर्थात दक्षिण और पश्चिम के शेष हिस्से का उपयोग शयनागार और अध्ययनकक्ष के लिए किया जा सकता है। दक्षिण में खलिहान बनाना चाहिए। इसी दिशा में अन्नालय, रसदगृह हो तथापि इसे नैर्ऋत्य में भी रखा जा सकता है। धनालय को उत्तर, पूर्व या पश्चिम अथवा सिंह, वृश्चिक, तुला या कर्क राशि के लिए निर्धारित स्थान पर भी बनाया जा सकता है। आवश्यक हो तो धान्यालय को धनागार के लिए निर्धारित दिशा, स्थान पर बनवाया जा सकता है।

वास्तुचक्र के अनुसार गोशाला को इन्द्र के स्थान पर या फिर वरुण, वितथ, पर्जन्य, जयन्त या पूषा के स्थान पर बनाएँ। यह भी हो सकता है कि गोशाला को पुष्पदन्त, द्वारपाल, भृङ्ग अथवा शोष के स्थान पर भी गोशाला का निर्माण हो। भैंस के तबेले के लिए यम का पद उचित होता है और वृषभ के स्थान के लिए महिष या गोशाला के लिए गए पदों को लिया जा सकता है। ग्रन्थकार का निर्देश है कि सभी शालाओं में वास्तु मर्मस्थल का त्याग किया जाना चाहिए। पशुओं की शालाओं के लिए कोई भी दिशा हो, कर्णों का उल्लङ्घन कर आना-जाना अनुचित है। कोणों से किसी दिशा में गतिमान होना भी नेष्ट है। परस्पर देय आयों के प्रसङ्ग में ग्रन्थकार का मत है कि वृष माङ्गलिक है किन्तु सिंह नहीं (मुहूर्त के प्रसङ्ग में करण में सिंह, व्याघ्र, स्थिर-विष्टि, गर्दभ आदि भी अशुभ कहे गए हैं)। रसोईगृह पर्जन्य, शिखी या वायु अथवा (राश्यानुसार) मेष या वृष राशि में बनाएँ। भोजनकक्ष को वहीं पर अथवा मकर या वरुण के पद में भी बनाया जा सकता है। विश्रामकक्ष को कुम्भस्थ या इसी तरह मकर अथवा वायु के पद पर बनाएँ। इसे यदि आवश्यक हो तो वृष अथवा मेष राशि के निश्चित स्थान पर भी बना सकते हैं। ऐसे में ऊखल को वायु के पद पर बनाएँ।

कूपस्थान के विषय में ग्रन्थकार स्पष्ट करता है कि उसे मीन राशि के स्थान पर

बनाया जाना शुभ है। इससे सर्वार्थसिद्धि और पुष्टि होती है। कूप को मेष और कुम्भ पद में भी बनाया जा सकता है। इसी प्रकार मकर व वृषभ में भी कूप अर्थ और सम्पति प्रदाता होता है। आप और आपवत्स के पद में भी कूप का निर्माण शुभ है। इन्द्रजित् के कोष्ठक पर भी कुंआ बनाया जा सकता है और वरुण के पद में भी शुभ होता है किन्तु यदि वायव्य कोण में कूप बनाया जाता है तो नारी के लिए क्षयकारी होता है। अन्य स्थानों पर कूप खनन के फलों पर भी आगे ग्रन्थकार ने विचार किया है और कहा है कि बगीचे और काँटे वाले पेड़ घर के पास नहीं होने चाहिए।

नित्य पूजा के लिए देवस्थान आङ्गन के मध्य बनाया जाना चाहिए। कुल देवता की प्रतिमा की स्थापना ईशान या आग्नेय कोण अथवा पश्चिम दिशा में की जानी चाहिए। इन भवनों का माप ध्वजयोनि से करें। यह ईशान में, पूर्व में, आग्नेय में, दक्षिण में और नैर्ऋत्य में वृषभयोनि में बनाया गया पूजा स्थान उचित होता है। पूजा स्थलों का द्वार मुख सदा भवन, नगर अथवा ग्राम की ओर ही किया जाना उचित है। यहाँ लगाई जाने वाली प्रतिमाएँ निरङ्ग अथवा साङ्ग लक्षणों से युक्त होती है। ये प्रतिमाएँ उन देवताओं के नाम अथवा स्वरूप की विशेषतानुसार बनाई जानी चाहिए। ये प्रतिमाएँ स्थिर अथवा चलित भी हो सकती है।

ग्रन्थकार का मत है कि राजाओं के लिए मणिगृह को सदा मित्र के पद में बनाएँ। विहार के लिए क्रीडागृह को वायु के पद में, व्यायामशाला को अर्गल के पद में या नैर्ऋत्य में बनाए। स्नानागार को पर्जन्य के पद, भुक्तिनिलय (भोजनशाला) इन्द्र और वरुण स्थान में, नृत्यकक्ष आदि को गान्धर्व पद और आयुधागार आदि को नैर्ऋत्य के पद में बनाया जाना चाहिए। इसी तरह शयनागार को गृहक्षत अथवा पूर्व दिशा में बनाएँ। अपने भवन अथवा दुर्ग के परकोटे 'वप्र' को मिट्टी और पत्थर से बनाया जाए। परिखा या खाई मध्यम आकार की और शाखादि से युक्त हो तो अधम कही जाती है। इसको आन्तरिक क्षेत्र में आवृत्त करने के लिए काँटे वाले पेड़ों की मजबूत डालियों, लताओं और बाँस आदि का उपयोग किया जाना चाहिए। द्वार में भी मजबूत लकड़ियाँ काम में ली जा सकती है।

इसके बाद नीलकण्ठन ने गृह प्रवेश के लिए कहा है। वस्तुतः सर्वाङ्ग निर्माण के बाद ही प्रवेश अपेक्षित है। ऐसे में गृहपति को सर्वप्रथम पूज्य आचार्य, निर्माण कार्य में संलग्न रहे कारीगर, शिल्पियों को सर्वविधि सन्तुष्ट करें। कारीगरों, शिल्पियों को वलय-चूड़ा, कर्णकुण्डल और बहुमूल्य धातुओं के पदार्थ भेंट कर सम्मानित करें।

इसके बाद ही गृह को अपने अधिकार में लेकर वहाँ पर शुभ मुहूर्त, शुभ वेला में वास्तुपूजादि कृत्य करना चाहिए।

इस कार्य के सम्पादन के लिए आए गुरुवर, आचार्य को स्वरुचि भोजन करवाएँ। गाय, भूमि आदि भेंट स्वरूप प्रदान करना चाहिए। यथेष्ट दक्षिणा प्रदान करें और उन्हीं की आज्ञा प्राप्तकर गृहस्वामी को आनन्द के साथ अपने भवन में परिवारजनों सहित सुख रहना चाहिए। मय ने 28वें अध्याय में गृह प्रवेश की पूरी विधि दी है। मय के अनुसार गृह प्रवेश को विधिपूर्वक किया जाए- *अथ कर्मान्तमुपेत्य तद्गृहं शुभनक्षत्रतिथौ च वारके। शुभहोरासुमुहूर्तकोशके करणे लग्नयुते विशच्छुभम्॥* स्थपति के सम्मान के लिए कहा गया है कि *सितवस्त्रधर: सुवर्णयज्ञ: सितपुष्पश्च सितानुलेपन:। स्थपति: सुमना: सुवर्णरत्नैर्विविधैर्निष्ठितभूषणान्वित:॥* शिल्पशास्त्रों में सूत्रधार या स्थपित की पूजा और सम्मान किए जाने का निर्देश मिलता है। शिल्परत्नकोश, प्रासाद मण्डन, वास्तुमञ्जरी आदि में इस सम्बन्ध में विशेष निर्देश है।

सूत्रधार मण्डन का कहना है कि निर्माण कार्य पूर्ण होने पर स्थपति का सम्मान किया जाना चाहिए- *इत्यनन्तरत: कुर्यात् सूत्रधारस्य पूजनम्। वस्त्रालङ्कारभूवित्त-गोमहिष्याश्ववाहनै:॥* वशिष्ठ का मत है कि शुक्र को पृष्ठ भाग और सूर्य को वामभाग में करके ब्राह्मणों की पूजा कर कलश को आगे रखकर घर को तोरण, बन्दनवाल, माला-वितान आदि से अलंकृत कर स्त्रियों के मङ्गलगान सहित विविध वाद्यों के शब्दों को सुनते हुए गृह प्रवेश करना उत्तम होता है।

इस प्रकार नीलकण्ठन मूसत कृत मनुष्यालयचन्द्रिका में जीवनोपयोगी वास्तु विन्यास के विषय में संक्षिप्त, किन्तु पर्याप्त जानकारी दी गई है। भारतीय वास्तु विज्ञान की परम्परा में इस कृति का स्थान महत्वपूर्ण है और इसके निर्देश अनुकरण योग्य है। राजाज्ञा से इसका प्रणयन और सम्पादन हुआ, अत: इसके निर्देश प्रणयन काल और परवर्ती काल में पालनीय रहे हैं। आज जबकि वास्तु विषय को लेकर नाना भ्रम, मनगढ़न्त निर्देश, सिद्धान्त दिए जा रहे हैं, वहीं इसके शास्त्रीय निर्देश उपयोगी हैं। इसलिए भारतीय ऋषि प्रज्ञा ने लोकोपयोगी विषयों को निबद्ध किया है।

*****

विषयानुक्रमणिका

प्रथमोऽध्यायः

भूपरीक्षापरिग्रहः

मङ्गलाचरणम्-	1
भगवान् विनायक स्तुति-	2
मुनिपदारविन्दनमन्-	2
ग्रन्थ प्रयोजनमाह-	3
उपस्कारकग्रन्थनामानि-	3
आचार्यवरण च भूचयनमाह-	4
आचार्यकर्त्तव्यमाह-	4
कारुकृत्यमाह-	4
स्थपत्यादीनां वरणमाह-	5
स्थपतिलक्षणमाह-	5
सूत्रग्राहीतक्षकवर्धकीगुणलक्षणञ्च-	5
सर्वेषां वास्तूनां वास्त्वङ्गानां च-	7
प्रशस्तभवनप्रशंसामाह-	7
निर्माणविधानमाह-	8
अथ भूमेरुत्तमादित्वमाश्रित्य भेदमाह-	9
त्याज्य भूमिं-	9
भूमीनां वास्तुशास्त्रप्रसिद्धान् सञ्ज्ञाभेदानाह-	10
दिशानुसारोच्चभूमिफलमाह-	12

दिशावशात् शुभाशुभद्रुमादीनां- 13

अश्वत्थादीनामेषां वृक्षाणां निषिद्धा दिशोऽपि प्रदर्शयति- 13

अन्त:सारादीनां द्रुमारोपणमाह- 15

अत्र वर्ज्यान् वृक्षानाह- 16

देवालयावस्थानुसारेणगृहस्थितिमाह- 16

अन्य नेष्टस्थानोच्छ्रायादीनां- 17

ब्राह्मणाद्यधिकारिभेदेन भूमेर्लक्षणमाह- 18

दिक्क्रानुसारेणनिम्नोन्नतभूमिचयनमाह- 19

वर्णसाङ्कर्ययुक्ता सर्ववर्णैर्वर्जनीयेत्याह- 20

इत्यमनन्तर भूमि परीक्षणरीतिमाह- 20

अन्य परीक्षणमाह- 21

द्वितीयोऽध्याय:

दिङ्निर्णयादि शुभवीथीपरिग्रह वास्तुदेवतानिर्णय:

समीकरणेशङ्क्वादिमानमाह- 23

शङ्कुस्थापनामाह- 23

दिक्निर्धारणमाह- 24

पूर्वापरज्ञानमाह- 24

सूत्रस्य निर्धारणमाह- 25

ईशादिकोणानयनमाह- 25

खण्डज्ञानमाह- 25

पुनरपिखण्डनिर्धारणोपयोगश्च- 26

चतुरस्रपरिकल्पनमाह- 27

सूत्रवेधस्यदोषमाह- 27

वेधदोषमाह- 28

सूत्रस्यविभागमाह- 28

तत्रैव सूत्ररज्जादिवेध परिहारमाह- 29

तालप्रमाण च वीथीपरिकल्पनमाह- 29

वीथीविन्यासमाह- 30

आङ्गनप्रमाणात् वीथीमानमाह- 31

अल्पक्षेत्रे वीथीविचारमाह- 31

भूआकारनिर्धारणं- 31

पदविन्यासमाह- 32

यदि कदाचित् तैर्वेध: अन्यो वा दोष: सम्भाव्येत, तदा किं कर्तव्यम्। तत्राह

मर्मदोष निवारणोपाय- 33

एकाशीतिपदे वास्तौ न्यासक्रमचक्रमाह- 33

देवतान्यासक्रम- 34

वास्तुपुरुषोत्पत्ति कथामाह- 35

वास्तुपुरुषस्यप्रसारणक्षेत्रानि- 37

वास्तुपुरुषस्यदेहव्याप्यदेवस्थितिकल्पनम्- 37

अन्यान्यदेवस्थितिमाह- 38

वास्तुपुरुषस्यदेवनां तुष्टोपाय विना फलाफलमाह- 39

तृतीयोऽध्याय:

दिङ्निर्णयादि शुभवीथीपरिग्रह वास्तुदेवतानिर्णय:

मानसाधनमेव विवृणोति। तिलयवोदरमात्रादीनां- 40

प्राजापत्यादिहस्तमानम्- 41

धनुग्रहधनुर्मुष्टिहस्तमानं तेषां यथाक्रमं विनियोगमाह- 41

वर्णानुसारेहस्तमानप्रयोजनमाह- 42

वैश्यादीनां हस्तमानमाह- 42

पुनरपि हस्तमानस्य निर्देशमाह-	42
सुरालयार्थाभीष्टमानम्-	43
यवोदरानुसाराङ्गुलमानस्य त्रिविधभेदमाह-	43
शाल्यप्रमाणानुसारेण त्रिविधाङ्गुलमानम्-	43
तत्राह नवधाप्रकारेण द्विसप्ततिहस्तमानप्रकारा:	44
तत्राहान्यमानप्रमाणं रज्जुदण्डयष्टिं-	44
तालयववितस्त्याङ्गुल तेषां प्रयोगमाह-	44
विप्राद्याभवनबहुलतानुसार ग्रामस्यभेदा:	45
क्षेत्राकारानुसारेण उच्चमध्यमाधम ग्रामस्यनिर्धारणमाह-	46
नगर च पत्तनसञ्ज्ञामाह-	46
एकभोगमाह-	47
विप्रादिभेदान ग्रामस्यभेदमाह-	47
देवालयस्य सीमनिर्धारणम्-	48
दण्डानुसारेण अन्यप्रमापमाह-	48
योनिविचारमाह-	48
योनिज्ञानार्थ प्रमापनविधिमाह-	51
कीदृशी योनिरित्याकांक्षायां योन्यादिकमाह-	51
योनीनां नामानि कथयति च शुभाशुभम विचारमाह-	53
केतुयोनिविचारमाह-	53
सिंहगजवृषयोनिविचारमाह-	53
तथा च धूमश्वानखरयोनिविचारमाह-	54
पुनश्च दिशानुसारेण शुभयोनिमाह-	54
योनिमाहात्म्यमाह-	55
आय-व्ययस्य विचारमाह-	55

वयांसि कथयति- 56

योन्यादीनां विशिष्टभेदमाह- 57

अन्य प्रकारेण योन्याद्यानयन ग्राह्यविचारमाह- 57

तत्रैव भिन्नमान निधारणमाह- 57

व्यादिनामानयन विधिमाह- 58

आय-व्ययार्थान्य विधिमाह- 59

तिथ्यादिनामानयनविधिं- 59

वार च ध्रुवानयनमाह- 60

ध्रुवादिगृहषोडशविधिं- 60

चतुर्थोऽध्याय:

गृहाणामिष्टदीर्घपरिणाहदिर्घविस्तारशालाभेदादिनिर्णय:

इष्टविस्ताराधारेशालामानमाह- 64

भवनाङ्गमानपरिगणनाह- 64

उत्तरप्रमाणात् लुपानीप्रादीनां प्रमाणमाह- 65

विस्तारदैर्घ्य च योन्यापरिणाहादीनां- 65

पुनश्च नाहानयनमाह- 65

देवालयार्थ गुणविस्तारविधिमाह- 66

मनुजसद्मने पादोनानुपातनिषिद्धमाह- 66

विस्तारदैर्घ्यानुपातमाह- 67

चतुश्शालस्य दिग्गृहाकोणालयादीनां- 68

चतुश्शाला प्रकारमाह- 69

विशुद्धभिन्नशालाप्रकारमाह- 69

श्लिष्टभिन्नशालामाह- 69

संश्लिष्टभिन्नशालामाह- 70

तत्राह कोणालयस्य योनिं-	70
श्लिष्टभिन्नाष्टशालामाह-	71
उत्तरसन्धिकर्माह-	71
उत्तरसंयोजनम्-	72
मिश्रभिन्नचतुश्शालमाह-	73
संमिश्रभिन्नालयविन्यासमाह-	73
उत्तरविस्तमानमाह-	74
मिश्रकचतुश्शालमाह-	74
तत्राह चतुश्शालम्-	74
मध्यप्ररूढशालावर्णनम्-	75
एकद्वित्रिशालचतुःशालभवनस्य विशेषमाह-	75
त्रिशालभवनवर्णनम्-	76
द्विशालभवनवर्णनम्-	77

पञ्चमोऽध्यायः

स्तम्भादिगृहावयवविधयः

वास्तुकार्ये उच्छ्रायनिर्देशमाह-	79
उपपीठप्रणालञ्च-	79
मल्लीकुट्टिमाह-	80
तत्राह मासुरोपनाह-	81
पत्रमानमाह-	82
मानप्रमाणम्-	82
प्राङ्गण तेषां स्वरूपयोन्याऽयामाह-	82
गमनस्य नियमाह-	83
योन्यार्थ अन्योपायाह-	84

अन्तराल वर्णनम्-	84
पादमानमाह-	84
अधिष्ठानप्रमाणमाह-	85
पुनरपि मासूरमानमाह-	85
अधिष्ठानाङ्ग कथ्यते-	86
पादुकजगतीप्रतिगलप्रमाणम्-	86
अन्य प्रमाणमाह-	86
कुट्टिमचतुर्दशेत् विभाजनोपरान्त पादुकादीनां प्रमाणमाह-	87
स्तम्भप्रमाणाङ्गं-	87
स्तम्भपीठस्य ओमाख्यस्य प्रमाणमाह-	88
स्तम्भे दण्डमानमाह-	89
स्तम्भाग्रभागमूलकर्णातचतुरश्रकार कथ्यते-	89
स्तम्भस्य वृत्तादि त्रयविधापरिकल्पनम्-	89
स्तम्भप्रमाणार्थे अन्यदप्याह-	90
उत्तरेवाजनप्रमाणमाह-	91
स्तम्भोपरि निवेशनीयेष्ववयवेषु पोतिकाख्यस्य मानम्-	92
अन्य पोतिका प्रमाणम्-	93
उत्तरायामाह-	93
चूलीलूपाङ्ग-.	94
उत्तरन्यासविधिमाह-	96
उत्तरपट्टिका वा क्षुद्रोत्तरप्रमाणमाह-	96
कीलस्य स्थितिं-	96
छादनार्थ वंशजयन्त्यादिनां विन्यासमाह-	97
तुला विन्यासमाह-	97

षष्ठोऽध्यायः

कूटलुपादिमानशिखरविधयः

आरूढोत्तरविधानमाह-	99
विष्कम्भविन्यासमाह-	99
लुपालम्बप्रमाणमाह-	99
ऋजुमञ्चकोट्यादीनां-	101
लुपा परिकल्पननिर्देशमाह-	101
वंशपर्याय च प्रमाणमाह-	102
कूटप्रमाणमाह-	103
चतुरस्त्रवृत्ताकार च बहुभुजकूटालङ्कारमाह-	103
कूटस्यपरिणाह-	103
आयताकारगृहे लुपादि संयोजनमाह-	104
तत्राह कूटवंशसंयोजनम्-	104
मुखसहितायतभवनस्य निर्देशमाह-	105
कूटसंयोजनविधिं-	105
भुजकोटिकर्णञ्च-	105
लुपापङ्क्त्यादीनां-	105
अन्तरालम्-	106
लुपोत्तरायामसमतुल्येकरणाह-	107
लुपाकारेवर्गपरिकल्पनाह-	107
लुपानां विभाज्येध्वजसूत्रकरणाह-	108
अन्यरेखानिर्देशमाह-	108
वर्गात् कर्णवितानलम्बमाह-	108

सप्तमोऽध्यायः

अल्पमन्दिरकवाटबाह्यगेहकूपादिविधानम्

अल्पमन्दिरविधौ-	110
लुपोपनिबद्धायाः नीव्रपट्ट्याः प्रमाणमाह-	110
उच्चनिम्नपट्टमानमाह-	111
धूलीनिरोधनाख्यं पटलप्रान्तपट्टिकायोजनं कर्म प्रस्तौति-	112
वलयप्रमाणमाह-	114
पट्टिकाप्रमाण चान्तरमानमाह-	114
लोष्टैराच्छाद्यगृहविशेष्यमाह-	115
शिरःप्रदेशे अभिधानमानादिकमाह-	115
गृहस्य द्वारस्थानमाह-	116
द्वारोर्ध्वपट्टालङ्कारनिर्देशम्-	117
कुड्यानुसारे द्वारपरिकल्पनम्-	119
अन्तर्नाहजमन्दिराख्ये विशेषे-	119
कवाटलक्षणम्-	120
कवाटाङ्गादीनां-	120
सूत्रपट्टिका वा सन्धिपालश्च-	121
मातृकवाटफलकप्रोतसूत्रपट्ट्याः मानमाह-	122
अर्गलाप्रमाण प्रस्तौति, कबलीविधानमाह-	123
ते च विन्यासमाह-	124
तत्राह एककाष्ठ शुभम्-	125
यद्येकाकपाटं तेषां निर्देशमाह-	125
बाह्यद्वार प्रमाणमाह-	126

प्राङ्गणतोगमागमद्वारमाह-	127
परमशायिकपदानुसारे मुख्यद्वारनिवेशनादीनां-	127
उपद्वारनिवेशनम्-	128
द्वारनिवेशनोपरान्त वेदिकाप्रमाणमाह-	129
वेदिका निष्क्रमणाह-	130
वेदिकाद्रव्यादीनां-	130
तुलादीनां समसंख्यान्तरालेविषमनिर्दशम्-	131
भवनस्य नानाकक्षादीनां-	131
लघुस्थानीयभवने प्राङ्गणप्रमाणमाह-	132
कृषिकार्यार्थकक्षादीनां-	132
गोशाल्यादिनिर्धारणमाह-	133
कर्णोल्लङ्घननिषिद्धम्-	133
पचनालयभुक्तिसदनमाह-	133
कूपस्थानचयनमाह-	134
अन्य शुभाशुभमाह-	135
विपरीत दिशायां कूपस्यफलाफलमाह-	136
राज्ञाविप्रस्य गृहे दैवार्चादिस्थानमाह-	136
कुलदैवतधामस्य कोणानुसारे योन्यादीनां-	137
प्रतिष्ठाप्यबेरादीनां, बिम्बार्थ कौतुकलक्षणमाह-	138
राज्ञार्थ मणिगृहादीनां-	138
दुर्गार्थ वप्रपरिखावृत्तादीनां-	140
गृहप्रवेशार्थ निर्देशमाह-	142
गृहप्रवेशोत्तरकालीनकर्त्तव्यविधिमाह-	143

*****

परम श्रद्धेय पिताश्री व सद्गुरु नित्यलीलालीन

पण्डिततुल्य श्रीमद् मोहनलालजी चौहान

की पुण्यस्मृति में....

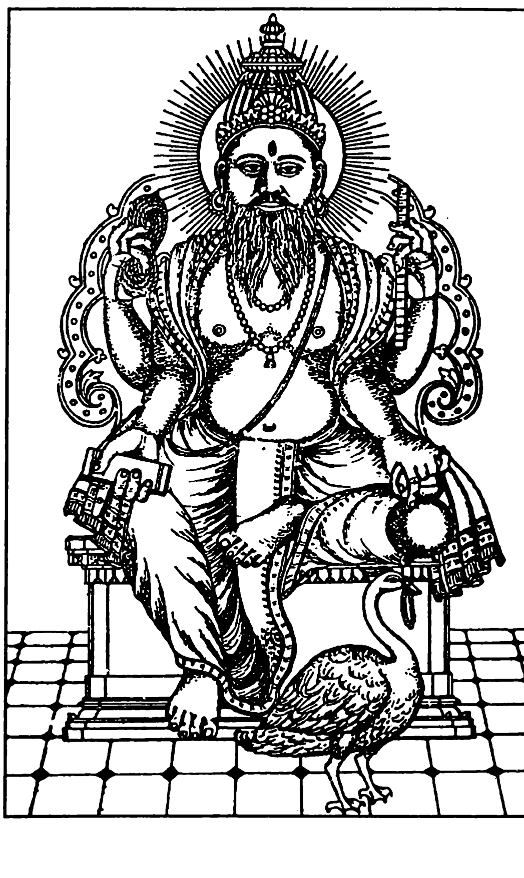

मनुष्यालयचन्द्रिका

अथ प्रथमोऽध्यायः

भूपरीक्षापरिग्रहः

(मोहनबोधिनी टीका)

अथ मङ्गलाचरणम्-

नृसिंहयादवाकारतेजोद्वितयमद्वयम्।
राजते नितरां राजराजमङ्गलधामनि॥ 1 ॥

(ग्रन्थकार तिरुमङ्गलत नीलकण्ठ मूसत मङ्गलाचार पूर्वक ग्रन्थारम्भ करते हुए कहते हैं कि) अपने राजराजमङ्गलधाम में विशिष्ट जो तेज नृसिंह और यादव (श्रीकृष्ण) उभय रूप में प्राज्वल्यमान हैं (उनके प्रति नमन्)।

विशेष - यह राजराजमङ्गलधाम नामक मन्दिर वर्तमान में केरल प्रदेशान्तर्गत मलाप्पुरम् जिले के तिरूर के पास स्थित है। रचनाकार यहीं का निवासी माना जाता है।

श्रीमत्कुण्डपुरे विराजति 'परक्रोडे च तेजः परं
नावानाम्नि च धाम्नि यच्च नितरां मल्लीविहारालये।
अश्वत्थाख्यनिकेतनेऽपि च पुरे श्रीकेरलाधीश्वरे
सम्भूयैतदुरुप्रकाशविषये चित्ते ममोज्जृम्भताम्॥ 2 ॥

उक्त परम तेजोमय स्वरूप श्रीमत्कुण्डपुर के मल्लीविहार में, अश्वत्थ नामक निकेतन में श्रीकेरलाधीश्वर प्रकाशित होकर इस विषय (वास्तु) को सम्यक् रूप से उजाला दे रहे हैं, वह कृपापूर्वक मेरे चित्त में प्रकाशमान् हो (ताकि मैं इस विषय में प्रणयनार्थ प्रस्तुत हो सकूँ)।

विशेष - यहाँ विषय का एक आशय तिरूर क्षेत्र में विद्यमान प्रकाश (वेट्टम)

विषय से भी है। विषय का एक अर्थ देश भी होता है जिसे मलयालम में नाटु और अन्यत्र नाडु भी कहा जाता है।

अथ भगवान् विनायक स्तुति-

श्रीमङ्गलास्पदसदाश्रयनीलकण्ठ-
प्रेमप्रकर्षनिलयः सकलाभिवन्द्यः।
श्रीमद्गिरीन्द्रतनयातनयोऽङ्घ्रिभाजां
कामप्रदो जयति मत्तमतङ्गजास्यः॥ 3॥

उन भगवान् विनायक की जय हो जो कि मङ्गलमूर्ति हैं, सदाश्रय नीलकण्ठ (यहीं पर ग्रन्थकार अपना और शिव का एक ही साथ नामोल्लेख करता है) शिव के प्रिय हैं और उनके प्रकर्ष निलय में विराजित रहते हैं तथा सकलजनों के अभिवन्द्य हैं। वे श्रीमद्, गिरीश (हिमालय) की तनया पार्वती के पुत्र हैं, गजानन हैं, वे हमेशा भक्तों की कामनाओं, अभीष्ट की सम्पूर्ति करने वाले हैं।

तद्देवपादकमलैकसमाश्रयःको-
ऽप्युद्द्योतमानगुरुवर्यकृपाभियोगात्।
विद्यापरिश्रमपरो बहुधात्मशुद्ध्या-
मुद्योगवान् भवति बालविबोधने च॥ 4॥

उन देव के चरण कमलों का अनन्य आश्रय लेकर उद्योगपूर्वक, श्रीगुरुदेव से आशीर्वाद प्राप्त करके, विद्या में परिश्रम करने वाला, आत्मा की शुद्धि करता हुआ, उद्योग करता हुआ मैं अल्पज्ञ, बालसुलभ चेष्टा वाले जिज्ञासु जनों के निमित्त इस (वास्तुशास्त्र की) विषयवस्तु को कहता हूँ।

अथ मुनिपदारविन्दनमन्-

येषां श्रुतिप्रणयिनी धिषणा यदीय-
सङ्कल्पकल्पिततनुः परमेश्वरोऽपि।
तेषां महीसुमनसां महनीयभासा-
मुत्तंसये परमुदारपदारविन्दम्॥ 5॥

इसी क्रम में, मैं उन मुनिजनों के पदारविन्दों की वन्दना भी करता हूँ कि जिनकी प्रज्ञा वेदों, श्रुतियों में निरन्तर संलग्न हैं और जिनके सङ्कल्पमात्र से परमेश्व भी देहधारण करने में (अवतारार्थ) अनुरक्त रहते हैं।

ग्रन्थ प्रयोजनमाह-

निसर्गसंसिद्धसमस्तशिल्पप्रावीण्यमाद्यं द्रुहिणं प्रणम्य।
मया मनुष्यालयचन्द्रिकैषा विलिख्यते मन्दधियां हिताय॥ 6॥

जिनको समस्त प्रकार के शिल्प विषयक कार्यों में प्रवीणता और दक्षता प्राप्त है, ऐसे सृष्टिकर्ता भगवान् ब्रह्मा को विनम्र प्रणाम करके मैं (इस विषय के) अल्पज्ञजनों, लोक समुदाय के हित की इच्छा से इस 'मनुष्यालयचन्द्रिका' का प्रणयन कर रहा हूँ।

उपस्कारकग्रन्थनामानि-

मयमतयुगलं प्रयोगमञ्जर्यपि च निबन्धभास्करीययुग्मम्।
मनुमतगुरुदेवपद्धतिश्रीहरियजनादिमहागमा जयन्ति॥ 7॥

(ग्रन्थकार इस ग्रन्थ प्रणयन के लिए पूर्वसूरियों के ग्रन्थों का स्मरण करता हुआ कहता है जो कि उसके उपस्कारक रहे हैं) मयमत युगल (मयमत तथा मयदीपिका), प्रयोगमञ्जरी, निबन्ध, भागवत भास्करीय, मनुमत, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति तथा श्री हरियजनादि महागम ग्रन्थ तो प्रसिद्ध हैं ही।

मार्कण्डेययुगं पराशरमुरारिप्रोक्तरत्नावली-
सारन् काश्यपविश्वकर्ममतयुग्माद्यं कुमारागम्।
सव्याख्यां हरिसंहितां विवरणाद्यं वास्तुविद्यादिकान्
दृष्ट्वा तन्त्रसमुच्चयोक्तमनुसृत्यैवात्र संक्षिप्यते॥ 8॥

साथ ही मार्कण्डेयशास्त्र (मार्कण्डेयपुराण व मार्कण्डेयशिल्प), पराशर ऋषि कृत मत, मुरारीप्रोक्त रत्नावलीसार (प्रपञ्चसार!), काश्यपशिल्प, विश्वकर्ममत युगल (विश्वकर्मीय, विश्वकर्मावास्तु) और कुमारागम (स्कन्दसद्भाव!) का सहारा ले रहा हूँ। साथ ही हरिसंहिता (विष्णुसंहिता, सात्वतसंहिता!) की विवृत्ति सहित वास्तुविद्या, तन्त्रसमुच्चय और मनु कथित मत को मैं सामासिक रूप में कह रहा हूँ।

विशेष - विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् में अन्यान्य वास्तुशास्त्र प्रवर्तकों के नाम आए हैं जिनमें अगस्त्य, नन्दीदेव, महर्षि नारद, बृहस्पति, मुनि काश्यप, मरीचि, चित्रतोयक, पालकाप्य, पुण्डरीक, पुनर्वसु, योगसार आदि स्मरणीय है।[1]

----

1. अगस्त्यो भगवान्नन्दी नारदश्च महामुनिः। बृहस्पतिस्तिम्यलोकः काश्यपो लोकदर्शकः॥ कात्याययो महातेजा मरीचिश्चित्रतोयकः। पालकाप्यः पुण्डरीवते दीर्घदर्शी पुनर्वसुः॥ योगसारो महातेजा ये चान्ये मुनिपुङ्गवाः। तैरतीन्द्रियविज्ञाननिधिभिर्धर्मरक्षकैः॥ वास्तुशास्त्रं महत्प्रोक्तं लोकरक्षणहेतवे। तदुक्तमेव संक्षिप्य तत्तलक्षणमुच्यते॥ (विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् 18, 1-4)

अथ वास्तुविद्यारम्भ। आचार्यवरण च भूचयनमाह-

मर्त्यो विप्रादिवर्णेष्विह भवनविधानोत्सुको यः स पूर्वं
विप्रं तद्देशसम्बन्धिनमखिलगुणैरन्वितं संवृणीत।
सोऽयं तद्वर्णयोग्यां क्षितिमथ परिकल्प्यात्र पूजादि कृत्वा
वास्तोः शास्त्रोक्तरीत्या गृहमतिनिपुणैः कारुभिः कारयेत्॥ 9 ॥

सर्वप्रथम ब्राह्मणादि जिस किसी वर्ण के व्यक्ति को अपने गृह का निर्माण करवाना हो, उसे चाहिए कि वह एक आचार्य का वरण करें। उक्त आचार्य उक्त देश से सम्बन्धित हो और निखिल गुणों का धारक हो। आचार्य को चाहिए कि वह वर्णों के अनुसार क्रम से निर्धारित भूमि का परिकल्पन, चयन कर और पूजादि कार्य को सम्पादित करें। वास्तुपूजन वास्तुशास्त्रों में कही गई रीति के अनुसार ही करवाना चाहिए। तदनन्तर दक्ष कारीगरों से गृहनिर्माण करवाना चाहिए।

आचार्यकर्त्तव्यमाह-

वेदागमादिविहितान्यवधार्य विप्रैः
कार्यो विधिः सकलदेवनरालयानाम्।

आचार्य को चाहिए कि वह वेद, आगमों के मतानुसार ही देवालय और नरालय या मनुष्य के गृह की समग्र विधि का कथन करें।

अथ कारुकृत्यमाह-

तद्वाक्यतः सकलधामसु मृच्छिला-
देरन्योन्यमेलमुशन्ति हि कारुकृत्यम्॥ 10 ॥

कारु या शिल्पियों, कारीगरों का कर्त्तव्य यह है कि वे आचार्य के कथनानुसार कार्य करें। उनको समस्त प्रकार की भूमि की मिट्टी, शिला और एतद्विषयक जानकारी और संयोजन विधि का ज्ञान होना चाहिए।

विशेष- 'वास्तुविद्या' में कहा गया है कि स्थपति के गुणों में आवश्यक है कि वह स्थापनादि विषय के समस्त शास्त्रों में विशारद हो। शिल्पी हीनाङ्ग या विकलाङ्ग नहीं हो, वह धार्मिक, परायों के प्रति दयालु हो। उसमें मात्सर्य, असूया आदि अवगुण नहीं हो, वह वास्तुतन्त्रविद् और कुलीन कुल वाला होना चाहिए। शिल्पी के गुणों में गणितज्ञ, पुराणज्ञ, नित्यतृप्त रहना, अलुब्धक, चित्रकर्मज्ञ, सभी देशों का जानकार, सत्यवादी और जितेन्द्रिय होना प्रमुख है। सूत्रधार स्वस्थ हों, उसे सुरादि सातों ही

व्यसनों से दूर रहना चाहिए। वह ख्यातिलब्ध हो, निश्चयात्मिका बुद्धि व गुण सम्पन्न तथा वास्तुविद्या में पारङ्गत होना चाहिए।[1]

अथ स्थपत्यादीनां वरणमाह-

स्थपतिः सूत्रग्राही तक्षकसञ्ज्ञश्च वर्धकिः क्रमशः।
स्वोचितकर्मणि दक्षा ग्राह्यास्ते कारवश्चतुर्धेति॥ 11॥

(गृहपति को चाहिए कि) वह गृह कार्य के निमित्त स्थपति, सूत्रग्राही या सूत को धारण करने वाले, तक्षक (तक्षणकर्ता) और वर्धकी (बढ़ई, सुथार) इन चारों जनों का चयन करें। ये चारों ही अपने-अपने कर्म में प्रवीण होते हैं।

विशेष- वास्तुविद्याकार का मत है कि स्थपति, सूत्रग्राही, वर्धकि और तक्षक समस्त वास्तुकर्म के जानकार होते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसलिए इस स्थपत्यादि-चतुष्टय का सदा ही सम्मान-बहुमान करना चाहिए।[2]

अथ स्थपतिलक्षणमाह-

सर्वशास्त्रविहितक्रियापटुः सर्वदावहितमानसः शुचिः।
धार्मिको विगतमत्सरादिको यः स च स्थपतिरस्तु सत्यवाक्॥ 12॥

अब स्थपति का लक्षण कहा जा रहा है कि वह समस्त शास्त्रों में विहित क्रियाओं, तकनीकों में पटु होना चाहिए। वह अपने मानस की शुद्धि करते हुए धार्मिक मन होकर मत्सर आदि अवगुणों को त्यागकर स्थापत्र कार्य सत्य वचन धारण करते हुए करता है- उक्त गुण स्थपति के लिए आवश्यक है।

सूत्रग्राहीतक्षकवर्धकीगुणलक्षणञ्च-

जानीयात् स्थापनार्हं स्थपतिमथ गुणैः प्रायशस्तेन तुल्यः
सूत्रग्राही सुतो वा स्थपतिमतिगतिप्रेक्षकः शिष्यको वा।

----

1. अथ वक्ष्यामि सङ्क्षेपाच्छिल्पिनां लक्षणं पृथक्। स्थपतिः स्थापनार्हः स्यात् सर्वशास्त्रविशारदः॥ नहीनाङ्गोऽतिरिक्ताङ्गो धार्मिकस्तु दयापरः। अमात्सर्योऽनसूयश्च तान्त्रिकस्त्वभिजातवान्॥ गणितज्ञः पुराणज्ञ आनन्दात्माप्यलुब्धकः। चित्रज्ञः सर्वदेशज्ञः सत्यवादी जितेन्द्रियः॥ अरोगी चाप्रमादी च सप्तव्यसनवर्जितः। सुनामा दृढबुद्धिश्च(-बन्धुश्च ?) वास्तुविद्याब्धिपारगः॥ (वास्तुविद्या 1, 12-15)
अन्यच्च- यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः। स मुह्यति क्रियाकाले दृष्ट्वा भीरुरिवाहवम्॥ केवलं कर्म यो वेत्ति शास्त्रार्थं नाधिगच्छति। सोऽचक्षुरिव नीयते विवशोऽन्येन वर्त्मसु॥ सामुद्रं गणितं चैव ज्योतिषं छन्द एव च। सिराज्ञानं तथा शिल्पं यन्त्रकर्मविधिस्तथा॥ एतान्याङ्गानि जानीयाद् वास्तुशास्त्रस्य बुद्धिमान्। (तत्रैव)
2. एभिर्विनापि सर्वेषां कर्म कर्तुं न शक्यते। तस्मादेतत् सदा पूज्यं स्थपत्यादिचतुष्टयम्॥ (पूर्ववत् 1, 20)

स्थूलानां तक्षणात् तक्षक इति कथितं सन्ततं हृष्टचित्तो
दार्वाद्यन्योन्यसम्मेलनपटुरुदितो वर्धकिः सावधानः॥ 13 ॥

(स्थपति आदि के लिए यह भी कहा गया है कि) उसे स्थापना विषयक कार्य का ज्ञाता होना चाहिए। सूत्रग्राही प्रथमतः स्थपति का पुत्र हो ताकि उसमें उसी के समान गुणादि विद्यमान् हों और पिता के कथनानुसार कार्य करता हो अथवा उसका शिष्य हो जो कि स्थपति की मति-गति का प्रेक्षणकर अनुकरण करने वाला हो। तक्षक को (काष्ठ, शिलादि) के तक्षण, खुदाई, गड़ाई का कार्य साधक ज्ञान आवश्यक है। वह नित्य उत्फुल्लमन हो। इसी प्रकार वर्धकी अपनी अर्हताओं का धारक अर्थात् काष्ठादि सामग्री के संयोजन कार्य में प्रवीण होता है।

विशेष- वास्तुविद्या में कहा गया है कि सूत्रधार ऐसा हो जो कि स्थपति का शिष्य हो अथवा सूत्रग्राही का पुत्र हो। उसे स्थपति या अभियन्ता का आज्ञाकारी होना चाहिए और शिल्पज्ञानी अथवा एतद्विषयक समस्तकर्मों में दक्षता प्राप्त हो। सूत्रधार को सूत्र, दण्ड प्रमाण का ज्ञाता होना चाहिए। उसे मान, उन्मान, प्रमाणविद् होना चाहिए। जैसा कि वैखासनागम में मरीचि ने स्पष्ट किया है, वे सब विषय- मान, प्रमाण, उन्मान, परिमाण, उपमान, लम्बमान आदि छह प्रकार के मान सूत्रधार की जानकारी में हो। उसे मानों में आयाम, आयत, दीर्घ व्यवहार का ज्ञान हो। प्रमाणों में विस्तार, विस्तृत, तार, विसृत, विसृति, व्यास, विसारित, विपुल, तत, विष्कम्भादि प्रमाणों का व्यवहार पता हो। उन्मान में बहल, घन, ऊँचाई, तुङ्ग, उन्नत, उदय, उत्सेध आदि का आनयन आता हो। उन्नत व्यहार के अन्तर्गत निष्क्राम, निष्कृति, निर्गम, निर्गति, उद्गम निकालना आता हो। परिमाण में नाह, प्रवेश; उपमान में निवृत्ति, विवरादि और लम्बमान में सूत्रलम्बमानादि निकालने की विधियों की जानकारी होनी चाहिए। वर्धकी या बढ़ाई को उपर्युक्त समस्त कार्यों की युक्तियों की जानकारी होनी अपेक्षित है। उसे काष्ठकला का समग्र ज्ञान हो। जो गृहादि निर्माण के सौंदर्य में काष्ठकला से अभिवृद्धि करता है, वह वर्धकी होता है, उसे सदैव सूत्रग्राही का अनुकरणकर्ता होना चाहिए। तक्षक वह है जो खुदाई के कार्य के स्थौल्य और सूक्ष्मता का ज्ञान रखता हो। उसे शिला-प्रस्तर, काष्ठ, ईंट के उपयोग और मृतिका संस्कार, मिट्टी से प्रतिमादि का निर्माण व चय कार्यादि का स्वतन्त्र रूप से ज्ञान होना अपेक्षित है। उसे गुरुभक्त, सदा ही प्रसन्न रहने वाला और सदैव स्थपति का अनुकरणकर्ता होना चाहिए।[1]

---

1. **सूत्रग्राहिणो लक्षणमाह**- स्थपतेस्तस्य शिष्यो वा सूत्रग्राही सुतोऽथवा। स्थपत्याज्ञानुसारी च सर्वकर्मविशारदः॥ सूत्रदण्डप्रमाणज्ञो मानोन्मानप्रमाणवित्। (1, 16-17)

सर्वेषां वास्तूनां वास्त्वङ्गानां च-

विना स्थापत्यादिचतुष्टयेन गृहादि कर्तुं न च शक्यतेऽस्मात्।
प्रसादितैस्तैरथ विप्रवर्यः सुसूक्ष्मधीः कारयतां गृहाणि॥ 14 ॥

(उक्त चारों ही स्थपति आदि की गणना स्थापत्य कार्य के निमित्त चार स्तम्भों की तरह से है) इनके अभाव में उत्कृष्ट आवासादि के निर्माण की कल्पना नहीं की जा सकती। आचार्य को चाहिए कि वह प्रथमतया सूक्ष्म परीक्षण में दक्ष कारीगरों के निर्देशानुसार गृहप्रासादि का निर्माण आरम्भ करवाएँ और करें।

विशेष- वास्तुविद्याकार का मत है कि इस प्रकार के लक्षणों से युक्त स्थापत्यकर्म विशारदों को ही वास्तुकार्यों में नियुक्त करना चाहिए ताकि कार्य अच्छा हो और निसङ्कोच रूप से सम्पादित हो सके। गुरुवरण के सम्बन्ध में जो उक्तियाँ मिलती हैं, उनका यहाँ भी शिल्पीवरणावसर पर ध्यान रखना चाहिए। सम्यक् कार्य के होने से ही स्थपत्यादि की प्रसन्नता रहती है।[1]

प्रशस्तभवनप्रशंसामाह-

लक्षणहीने धामनि वसतामशुभानि सम्भवन्त्येव।
जन्माद्यवसानान्तं मनसा निश्चित्य कारयेत् तस्मात्॥ 15 ॥

शुभ लक्षणों से रहित आवास में निवास करने से हमेशा अशुभ और रोगी होने की आशंका रहती है अतः निवास योग्य स्थान शुभ होना चाहिए अर्थात् हमें आजीवन हित और आवास का सोचते हुए मन को निश्चिन्त कर निर्धारित मापदण्डों के अनुसार गृह निर्माणादि समस्त कार्य करवाने चाहिए।

वैखानसागमे मरीचिप्रोक्ते अस्य विवरणमेवं दृश्यते- 'मानं, प्रमाणम्, उन्मानं, परिमाणम्, उपमानं, लम्बमानमिति षण् मानादि। मानस्य- आयामः, आयतं, दीर्घम्, इति व्यवहारः। प्रमाणस्य- विस्तारः, विस्तृतं, तारं, विसृतं, विसृतिः व्यासः, विसारितं, विपुलं, ततं, विष्कम्भ इति। उन्मानस्य- बहलं, घनम्, उच्छ्रायः, तुङ्गम्, उन्नतम्, उदयः, उत्सेध इति। उन्नतस्य- निष्क्रामः, निष्कृतिः, निर्गमः, निर्गतिः, उद्गम इत्यादि। परिमाणस्य- नाहः, प्रवेशनमिति। उपमानस्य- निवृत्तिः, विवरमिति। लम्बमानस्य- सूत्रं लम्बमानमिति' (पटलः 24)

वर्धकिलक्षणमाह- तक्षितानां तक्षकेणाप्युपर्युपरि युक्तितः॥ वृद्धिकृद् वर्धकिः प्रोक्तः सूत्रग्राह्यनुगः सदा। (वास्तुविद्या 1, 17-18)

तक्षकलक्षणमाह- तक्षणात् स्थूलसूक्ष्माणां तक्षकः स तु कीर्तितः॥ मृत्कर्मज्ञो गुणो शक्तः सर्वकर्मस्वतन्त्रकः। गुरुभक्तः सदा हृष्टः स्थपत्याद्यनुगः सदा॥ (तत्रैव 1, 18-19)

1. एभिः स्थपत्यादिभिरत्र लोके विना ग्रहीतुं सुकृतं न शक्यम्। तैरेवं सार्धं गुरुणाथ तस्माद् भजन्ति मोदं भजमानमर्त्याः॥ (वास्तुविद्या 1, 21)

गुरुवरलक्षणसङ्ग्रहकारिका- विप्रः कुलीनः कृतसंस्कृतौघः स्वधीतवेदागमतत्त्ववेत्ता। वर्णाश्रमाचारपरोऽधिदीक्षो दक्षस्तपस्वी गुरुरास्तिकोऽस्तु॥ (तन्त्रसमुच्चय 1, 5)

अथ निर्माणविधानमाह-

तत्र क्रमेण बहुधा धरणीपरीक्षा
दिङ्निर्णयादिशुभवीथिपरिग्रहश्च।
धाम्नां प्रमाणविधिरङ्कणकुट्टिमादीन्यङ्गानि
बाह्यविधयश्च तथा विधेयाः ॥ 16 ॥

निवास के क्रम में सर्वप्रथम शुभाशुभ भूमि की परीक्षा करनी चाहिए। दिशा का ज्ञान करते हुए शुभ वीथी (प्लवादि) के विषय में विचार करना चाहिए। भूमि के अनुपात में ही आवास के अङ्गों को देखते हुए विभिन्न बाह्य विधियों अथवा भूशोधनार्थ कार्यों को वरीयता देनी चाहिए। आङ्गन और कुट्टिम आदि अङ्गों का समुचित निर्धारण करना चाहिए।

अथ भूमेरुत्तमादित्वमाश्रित्य भेदमाह-

गोमर्त्यैः फलपुष्पदुग्धतरुभिश्चाढ्य समा प्राक्प्लवा
स्निग्धा धीररवा प्रदक्षिणजलोपेताशुबीजोद्गमा।
सम्प्रोक्ता बहुपांसुरक्षयजला तुल्या च शीतोष्णयोः
श्रेष्ठा भूरधमा समुक्तविपरीता मिश्रिता मध्यमा ॥ 17 ॥

(आवास योग्य भूमि-परीक्षा के लिए हमें भूमि के श्रेष्ठ, मध्यम और मिश्रित रूपों को दृष्टिगत रखना चाहिए।) ऐसी भूमि जो गाय आदि पशुओं के विचरण वाली हो, जो मनुष्यों की पहुँच में हो, फल-फूलों के वृक्षों से भरपूर हो, दुग्धीय पेड़ों से परिपूर्ण, समतल, पूर्व में ढलान वाली, स्निग्ध हो और पदादिघात पर मधुर आवाज करती हो, प्रदक्षिणावर्त्त पानी के बहाव वाली, बीजवपन पर शीघ्र अङ्कुरण करने वाली, कठोर, बारहों मास जहां जलस्रोत विद्यमान रहे और जो समशीतोष्ण जलवायु वाली हो- श्रेष्ठ एवं सर्वथा आवास योग्य होती है। इसके विपरीत लक्षणों वाली भूमि अधम और मिश्र गुणों वाली हो तो मध्यम होती है।[1]

---

1. एषां श्लोका तन्त्रसमुच्चये (1, 30) अस्यार्थं- गोभिर्मर्त्यैश्चाढ्या आश्रिता। फलपुष्पदुग्धतरुभिः फलवद्भिः पुष्पवद्भिः क्षीरवद्भिश्च वृक्षैराढ्या पूर्णा। समा निम्नोन्नतवर्जिता। प्राक्प्लवा प्राग्भागनिम्ना। स्निग्धा निविडा। धीररवा गम्भीरस्वरा। प्रदक्षिणजलोपेता प्रादक्षिण्येन नद्यादिनोपलक्षिता। आशुबीजोद्गमा बीजावापे शीघ्र-मुद्गच्छदङ्कुरा। बहुपांसुः खात्वा तत्पांसुभिरेव पूरिते गर्तातिरिक्तपांसुयुक्ता। अक्षयजला ग्रीष्मेऽपि प्रभूतजलयुक्ता। शीतोष्णयोस्तुल्या शीतकाले चोष्णकाले च तुल्या, शैत्याधिक्येनौष्ण्याधिक्येन च रहिता। एवंभूता भूमिः श्रेष्ठा उत्तमा सम्प्रोक्ता। समुक्तविपरीता उक्तलक्षणवैपरीत्युक्ता अधमा। मिश्रिता मिश्रलक्षणयुक्ता मध्यमा ॥
   तुलनीय- मानववास्तुलक्षणे (2)

विशेष- ज्ञातव्य है कि रस, वर्ण, गन्ध, प्लव और अन्य प्रकारेण भूमि को परीक्षित कर वहाँ निवास करना चाहिए। शिल्पशास्त्र में कहा गया है कि वास्तु के लिए भूमि स्निग्ध हो, स्थिर हो, गुल्म-लताओं की सुरभि-सुगन्ध से युक्त हो- वह भूमि प्रशस्त कही गई है। इसी प्रकार जिस भूमि के चारों ओर पानी हो, वह निवास योग्य होती है। ऐसी भूमि जो इन लक्षणों के विपरीत हो अर्थात् जहाँ पर रेती-कङ्कड़ हो, वल्मीक या दीमक हो, बालयुक्त हो और काँटेदार या कंटीली झाड़ियों से युक्त भूमि नेष्ट होती है। यही मान्यता रामचन्द्र कौलाचार्य की है। गर्गादि का कथन है कि जिस भूमि पर मन को सन्तोष मिले वहीं पर निवास श्रेष्ठ है।[1]

तथा च त्याज्य भूमिं-

वृत्तार्धेन्दुनिभा त्रि$_3$पञ्च$_5$रस$_6$कोणा शूलशूर्पाकृति-
र्मत्स्यानेकपकूर्मपृष्ठकपिलावक्त्रो(वक्रो?)पमा मेदिनी।
भस्माङ्गरतुषास्थिकेशचितिवल्मीकादिभि: संयुता
वर्ज्या मध्यनता सगर्भकुहरा विस्रा विदिक्स्थापि च॥ 18॥

ऐसी भूमि जो वृत्ताकार, अर्द्धचन्द्राकार, त्रिकोणीय, पञ्चकोणीय, षट्कोणीय, शूलाकार, शूर्पाकार (सूपड़े अथवा छाजले जैसी), मत्स्यपीठाकार, गजपीठाकार, कूर्मपीठाकार और गोमुखी हो, वह आवास की दृष्टि से त्याज्य जाननी चाहिए। इसी प्रकार भस्म या राख से युक्त भूमि, कोयलों वाली, घास-पूस, अस्थियों से भरी-पूरी (श्मशान, मरघट) केश, दीमक आदि जीवों वाली भूमि वर्ज्य कही गई है। इसके अतिरिक्त बीच में अवनत, सगर्भा या पोली भूमि तथा विविध दिशाओं में बिखरी हुई हो अर्थात् जिसकी दिशा निर्धारित नहीं हो सके- ऐसी कटी-फटी भूमि भी आवास के योग्य नहीं होती है, अत: ऐसी भूमि को त्याग देना चाहिए।[2]

----

1. स्निग्धा स्थिरा सुरभिगुल्मलता सुगन्धा शस्ता प्रदक्षिणजला च निवासभूमि: ॥ नेष्टा विपर्ययगुणा कचकर्करास्थि वल्मीककश्मकविभीतकसङ्कुला च॥ (शिल्पशास्त्रम् 1, 4)
तथा च शिल्पप्रकाशे- प्रासादगठने मुख्या देशस्थानविचारणा। नदीहीनभूमि: वर्ज्या पाषाणमयमृतिका॥ सैकतबहुला भूमि: श्रेष्ठा प्रासादमण्डने। पङ्किला च परित्याज्या दाहभूम्यादि वर्जिता॥ ऐतानि देशभेदानि ग्राह्याग्राह्यं विचारयेत्। मृण्मय रजोयुक्ता च मुक्तापांशुसमप्रभा॥ (शिल्पप्रकाश 1, 11-13)
गर्गादीनां उच्यते- मनसश्चक्षुषो यत्र सन्तोषो जायते भुवि। तस्यां कार्यं गृहं सर्वैरिति गर्गादिसम्मतम्॥ (सविवृत्तिबृहत्संहितायाम्)
2. एषां श्लोका तन्त्रसमुच्चये 'शूलशूर्पाकृतिर्मत्स्यानेकपकोलपृष्ठ' इति पाठ: (1, 31) अस्यार्थ- वृत्तेति। वृत्ता स्वत एव वृत्ताकारा। अर्धेन्दुनिभा अर्धचन्द्रकारा। त्रिपञ्चरसकोणा त्रिकोणा पञ्चकोणा षट्कोणा च। शूलशूर्पाकृति: शूलाकृतियुक्ता शूर्पाकृतियुक्ता च। मत्स्यानेपकोलपृष्ठकपिलावक्त्रोपमा मीनद्विपवराहाणां पृष्ठसमाना पशुमुखसमाना

विशेष- यह विचारणीय है कि शल्य युक्त दीमक से व्याप्त भूमि को छोड़ देना चाहिए। वास्तु ग्रन्थों में कहा गया है कि ऊँची-नीची भूमि को छोड़ देना चाहिए। फटी भूमि से मरण, ऊसर से धन नाश, शल्य युक्त भूमि से सदैव क्लेश, ऊँची-नीची से शत्रु वृद्धि, श्मशान जैसी भूमि से भय, वल्मीक युक्त भूमि से विपत्ति, गड्ढों वाली से विनाश और बीच में से उठी भूमि से धन नाश होता है। इसी प्रकार वराहमिहिर का मत है।[1]

इह प्रस्तुतानामेव भूमीनां वास्तुशास्त्रप्रसिद्धान् सञ्ज्ञाभेदानाह-

इन्द्राशादिनतावनी तदितराशाद्युन्नताष्टौ क्रमाद्
गोवह्न्यन्तकभूतवारिफणभृन्मातङ्गधान्याह्वयाः।
वीथ्योऽत्र क्रमशोऽभिवृद्धिधनहान्यन्तार्थहानिप्रदा
दारिद्र्यात्मजहानिवित्तशुभदास्तादृक्क्षितौ तस्थुषाम्॥ 19॥

(आवास योग्य भूमि पर प्लव या ढलान का परीक्षण आवश्यक है।) लक्षणों के आधार पर पूर्व दिशा में निम्नावनत और पश्चिम में उन्नत भूमि गोवीथी, आग्नेय दिशा में निम्नावनत और वायव्य कोण में उन्नत भूमि अग्निवीथी, दक्षिण दिशा में निम्नावनत और उत्तर में उन्नत भूमि यमवीथी, नैर्ऋत्य कोण में निम्नावनत और ईशान कोण में उन्नत भूमि भूतवीथी, पश्चिम दिशा में निम्नावनत और पूर्व दिशा में उन्नत भूमि जलवीथी, वायव्यकोण में निम्नावनत और आग्नेय कोण में उन्नतभूमि नागवीथी और उत्तर दिशा में निम्नावनत व दक्षिण में उन्नत भूमि गजवीथी तथा ईशान कोण में निम्नावनत तथा नैर्ऋत्य कोण में उन्नत भूमि धान्यवीथी कहलाती है। प्लवानुसार वर्गीकृत ये भूमियाँ क्रमशः समृद्धिदायक, धननाशक, जीवननाशी, निर्धनता, दारिद्र्यकारी, सन्ततिहर्त्री, सम्पत्तिदायक और कल्याणप्रदायक मानी जाती है।

च। भस्माङ्गारतुषास्थिकेशकृमिवल्मीकादिभिः संयुता भस्मभिः कृष्णाङ्गारैः अस्थिभिः केशैः कृमिभिर्वल्मीकैर्युक्ता। (पत्र पृष्ठसमानपशुमुखसमानरधधार्थ तथा च प्रसिद्धे तर्वा?) मध्यनता मध्यभागनिम्ना। सगर्भकुहरा अन्तर्भागे बिलयुक्ता। विस्रा दुर्गन्धयुक्ता। विदिक्स्थापि च कोणगतदैर्घ्यविस्तारयुक्ता च। एवंभूता मेदिनी भूमिवर्ज्या॥

तुलनीय- मानववास्तुलक्षणे (3)

1. शस्तौषधिद्रुमलता मधुरा मुगन्ध स्निग्धा समा न सुषिरा च मही नराणाम्। अपध्वनि श्रमविनोदमुपागतानां धत्ते श्रियं किमुत शाश्वतमन्दिरेषु॥ (बृहत्संहिता 53, 88)
अन्यच्च- चिपिटा पौरुषैर्हीना मुद्गाराभा तथैव च। काकोलूकनिभा तद्वद्दुःखशोकभयप्रदा॥ सर्पाभा पुत्रपौत्रघ्नी वंशाभा वंशहानिदा। शूकरोष्ट्रानसदृशी धनु परशुरूपिणी॥ कुचैलान्मलिनान् मूर्खान् ब्रह्मघ्नान्जनयेत्सुतान्। कृकलासशवाकारा मृतपुत्रा धनार्तिदा॥ (विश्वकर्माप्रकाश 1, 46-48)

विशेष - यही मान्यता वास्तुविद्याकार की है।[1] यह ज्ञातव्य है कि पूर्व दिशा में ऊँची भूमि पुत्रनाशकारक होती है। अग्निकोण में ऊँची भूमि धन देने वाली है। दक्षिण दिशा में ऊँची भूमि स्वास्थप्रद होती है। नैर्ऋत्यकोण में ऊँची भूमि धन-धान्यकारक, पश्चिम में ऊँची भूमि पुत्रदायक, वायव्यकोण में ऊँची भूमि द्रव्य हानि, उत्तर दिशा में ऊँची भूमि आरोग्यलाभ देने वाली और ईशानकोण में ऊँची भूमि महाक्लेशकारक होती है। ऐसा विभिन्न वास्तुशास्त्रियों का मत है।

अन्यदप्याह-

प्रवासदा मध्यनता धरित्री मध्योन्नता वित्तसुखादिहन्त्री।
वह्न्यादिवाय्वन्तनता धरित्री प्रायेण दारिद्र्यफलप्रदा स्यात्॥ 20॥

इसी प्रसङ्ग में यह भी विचारणीय है कि जो भूमि मध्य में दबी हुई हो तो निरन्तर प्रवास या स्थानान्तरण का कारण बनती है। मध्य से उन्नत भूमि वित्त व सुख का हरण करती है। दक्षिण-पूर्व एवं उत्तर-पश्चिम में अवनत भूमि गृहपति की निर्धनता का कारण बनती है।

विशेष - यही मान्यता भृग्वादि की है। वास्तुविद्याकार का मत है कि परीक्षण में सर्वप्रथम भूमि के ढलान को देखा जाना चाहिए। यदि भूमि का प्लव या ढलान पूर्व की ओर हो तो वह भूमि धन-धान्य की वृद्धि करने वाली होती है, उत्तर की ओर प्लव हो तो धन देने वाली, पश्चिम में प्लव हो तो अर्थक्षयकारी और दक्षिण में प्लव हो तो वह भूमि लोगों की मृत्यु का कारण बनती है।[2]

स्पष्टार्थचक्र-

प्लव स्थान	**फलाफल**
मध्यभाग में अवनत	निरन्तर प्रवास
आग्नेयकोण में अवनत	दरिद्रता
वायव्यकोण में अवनत	दरिद्रता

----

1. वारुणोच्चसमायुक्ता नीचमाहेन्द्रसंयुता॥ गोवीथिरिति सा ज्ञेया ऐन्द्रोच्चा नीचवारुणा। जलवीथिरिति प्रोक्ता वास्तुज्ञानविशारदै: ॥ सोमोच्चा यमनीचा च यमवीथीति कथ्यते। यमोच्चा सोमनीचा च गजवीथीति कथ्यते॥ ईशोच्चं निर्ऋतिनीचं भूतलं भूतवीथिकम्। आग्नेयोच्चं वायुनीचं नागवीथी प्रशस्यते॥ वायूच्यमग्निनीचं यद्वीर्थी वैश्वानरीं विदु:। निर्ऋत्युच्चमीशनीचं धनवीथीत्युदाहृतम्॥ (वास्तुविद्या 2, 3-7)
2. पूर्वप्लवा वृद्धिकरी उत्तरा धनदा स्मृता। अर्थक्षयकरीं विद्यात् पश्चिमप्लवनां तत: ॥ दक्षिणप्लवना पृथ्वी नराणां मृतिदा भवेत्। (वास्तुविद्या 2, 2-3)

दिशानुसारोच्चभूमिफलमाह-

मध्योच्चायां धरित्र्यां प्रथममथ गृहे कल्पिते स्याद् दशाब्दं$_{10}$
वृद्धिः प्रागुन्नतायामपि हुतवहयाम्योन्नतायां शताब्दम्$_{100}$ ।
साहस्राब्दं$_{1000}$ निर्ऋत्युन्नतधरणितले वारुणे स्यात् तदर्धं$_{500}$
शेषांस्वर्का$_{12}$ष्ट$_{8}$षट्काः$_{6}$ शरद इह ततः स्वोक्तरूपं फलं स्यात्॥ 21 ॥

अब नामानुसार भूमि के फलाफल को कहा जा रहा है। मध्य भाग से उन्नत अथवा पूर्व में ऊँची हो तो वह निर्माणकाल के दस वर्ष तक वृद्धि की कारक होती है। आग्नेय या दक्षिण दिशा में उन्नत भूमि पर आवास निर्माण किए जाने पर सौ वर्ष तक उन्नति प्रदान करती है। इसी क्रम से नैर्ऋत्य कोण में उन्नत भूमि हजार वर्ष तक वृद्धि की कारक बनती है जबकि पश्चिम दिशा में उन्नत भूमि पर आवास निर्माण से पाँच सौ वर्षों तक समृद्धि बनी रहती है। इसके अतिरिक्त शेष- वायव्य, उत्तर दिशा और ईशान कोण में उन्नत भूमि पर आवास निर्माण से क्रमशः बारह, आठ या छह वर्ष तक वृद्धि प्रदान करती है। (यह लाभ समय-समय पर बदलाव करने से भी प्राप्त किया जा सकता है)।

स्पष्टार्थचक्र-

स्थान एवं दिशा	**फल/वृद्धि योग्य वर्ष**
मध्य स्थान व पूर्व में उन्नत	10 वर्ष तक वृद्धिकारक
आग्नेय कोण व दक्षिण में उन्नत	100 वर्ष तक विकासकारी
नैर्ऋत्यकोण में उन्नत	1000 वर्ष तक विस्तारकारी
पश्चिम में उन्नत	500 वर्ष तक वृद्धिदात्री
वायव्य कोण में उन्नत	12 वर्ष तक उन्नतिकर्त्री
उत्तर दिशा में उन्नत	8 वर्ष तक समृद्धिदायक
ईशान कोण में उन्नत	6 वर्ष तक बढ़ोत्तरीदायक

भृगु उक्ति- उद्गादिप्लवमिष्टं विप्रादीनां प्रदक्षिणेनैव। विप्रः सर्वत्र वसेदुक्तस्थानं त्रयाणां हि॥
एवमन्यैरप्युक्तम्- शम्भुकोणप्लवा भूमिः कर्तुः श्रीसुखदायिनी। पूर्वप्लवा वृद्धिकरी धनदा तूत्तरप्लवा॥ मृत्युशोकप्रदा नित्यं सर्वथा दक्षिणप्लवा। गृहक्षयकरी सा च भूमिर्या नैर्ऋतप्लवा॥ धनहानिकरी चैव कीर्तिता वरुणप्लवा। वायुप्लवा तथा भूमिनित्यमुद्वेगणकारणी॥ मध्यप्लवा मही नेष्टा न शुभा प्लवतः पुरा।

दिशावशात् शुभाशुभद्रुमादीनां-

पूर्वस्यां वकुलो वटश्च शुभदोऽवाच्यां तथोदुम्बर-
श्चिञ्चा चाम्बुपतौ तु पिप्पलतरुः सप्तच्छदोऽपि स्मृतः।
कौबेर्यां दिशि नागसञ्ज्ञिततरुः प्लक्षश्च संशोभना:
प्राच्यादौ तु विशेषतः पनसपूगौ केरचूतौ क्रमात्॥ 22 ॥

अब गृहनिर्माण के साथ वहाँ रोपणीय वृक्षादि पर विचार किया जाता है। गृह की पूर्व दिशा में बकुल और वट का रोपण शुभ होता है। दक्षिण दिशा में उदुम्बर अथवा गूलर और चिञ्चा या इमली का पेड़ लगाना शुभ माना जाता है। गृह की पश्चिम दिशा में पीपल और सप्तच्छद (छितिवन) के वृक्ष शुभ माने गए हैं। उत्तर दिशा में नाग संज्ञक वृक्ष और प्लक्ष या पाकड़-पारस पीपल शुभ होते हैं और पूर्व दिशा में विशेष रूप से पनस (कटहल) व पुग अथवा सुपारी, नालिकेर और आम शुभ होते हैं।

विशेष - यही मान्यता ईशानशिगुरुदेव की है कि न्यग्रोध, उदुम्बर, पीपल, प्लक्ष के पेड़ पूर्वादि क्रम से शुभ होते हैं। सर्वत्र केसर, आम, पुन्नाग, नाग, दाड़िम, पनस, चम्पक, पूग, श्रीफल आदि शोभित करने वाले हैं। इसी प्रकार का मत वास्तुविद्याकार का है।[1]

स्पष्टार्थचक्र-

क्रम	**दिशा**	**रोपणयोग्य वृक्ष**
1.	पूर्व	बकुल, बरगद और पनस
2.	दक्षिण	गूलर, इमली और सुपारी
3.	पश्चिम	पीपल और सप्तच्छद
4.	उत्तर	नाग, प्लक्ष और आम

तथा च अश्वत्थादीनामेषां वृक्षाणां निषिद्धा दिशोऽपि प्रदर्शयति-

अश्वत्थोऽग्निभयं करोति बहुधा प्लक्षः प्रमादप्रदो
न्यग्रोधः परशस्त्रपातमुदरव्याधिं तथोदुम्बरः।

---

1. न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षाः पूर्वादिगाः शुभाः। सर्वत्र केसराश्चूताः पुन्नागा नागदाडिमाः॥ पनसाश्चम्पकाः पूगा नाळिकेराश्च शोभनाः॥ (ईशानशिवगुरुदेवपद्धति उत्तर. 23, 29-30)
तथा च- न्यग्रोधः पूर्वतो धन्यो दक्षिणे च उदुम्बरः। अश्वत्थः पश्चिमे श्रेष्ठः प्लक्षोऽप्युत्तरतः शुभः॥ (वास्तुविद्या 2, 33)

सम्प्रोक्तप्रतिदिक्स्थितास्त्वपि च ते चान्ये सुवर्णात्मका-
श्छेद्या मन्दिरतस्तरुच्चयुगसीमाभ्यन्तरस्था यदि ॥ 23 ॥

इन वृक्षों को विपरीत दिशा में रोपने से विपरीत फल होते हैं। यदि अश्वत्थ को विपरीत दिशा में लगाया जाए तो वह अग्नि का भय कराता है। विपरीत दिशा में प्लक्षारोपण से आलस्य, वट से शस्त्रायुध से भय और विपरीत दिशा में लगाए गए उदुम्बर से उदर आदि नाना व्याधियाँ होती है। ये वृक्ष यदि विपरीत दिशाओं में पूर्व से विद्यमान हो और आवास की ऊँचाई से कम दूरी पर खड़े हों तो चाहे सोने से निर्मित ही क्यों न हो, उनको कटवा दिया जाना चाहिए।

विशेष - वास्तुविद्या में भी कहा गया है कि पूर्व दिशा में पीपल का पेड़ लगाना वर्जित है। इसी प्रकार दक्षिण में प्लक्ष, पश्चिम में बरगद और उत्तर दिशा में उदुम्बर का पेड़ वर्जित होता है। विपरीत दिशा में पीपल के पेड़ से अग्निभय होता है जबकि प्लक्ष से प्रमाद, बरगद से आयुध का घात और उदुम्बर से उदरव्याधि होती है।[1]

अन्यदप्याह-

[2]स्थाप्या मन्दिरपार्श्वपृष्ठदिशि तु श्रीवृक्षबिल्वाभया
व्याधिघ्नामलकीसुरद्रुमपलाशाशोकमालेयकाः।
पुन्नागासनचम्पकाश्च खदिरस्तद्वत् कदल्यादयो
जातीनागलतादयोऽपि सकलाः सर्वत्र संशोभनाः ॥ 24 ॥

अन्य शुभाशुभ वृक्षों के विषय में कहा जा रहा है कि आवास के दोनों ही ओर तथा पृष्ठ भाग में श्रीवृक्ष, बिल्व और हरितकी के वृक्ष व्याधिहारी होते हैं। आँवला, कल्पवृक्ष, पलाश, अशोक, मालेय या चन्दन, पुन्नाग, असन, चम्पक, खदिर शुभ है। इसी प्रकार कदली, चमेली, नागलता आदि भी सकल पेड़ सर्वत्र शोभाकारक होते हैं।

----

1. अश्वत्थः पूर्वतो वर्ज्यो दक्षिणे प्लक्ष एव च। न्यग्रोधः पश्चिमे भागे उत्तरे चाप्युदुम्बरः ॥ अश्वत्थोऽग्निभयं कुर्यात् प्लक्षः कुर्यात् प्रमादकम्। न्यग्रोधः शस्त्रसम्पातं कुक्षिरोगमुदुम्बरः ॥ (तत्रैव 2, 34-35) हाटकतरुरपि नेष्टो मन्दिरसविधेष्वितीरितं यस्मात्। तस्मात् सर्वे वृक्षाः सर्वदिगन्तेऽविनिन्दितास्ते स्युः ॥ (तत्रैव 5, 19)
वराहमिहिरे- याम्यादिष्वशुभफला जातास्तरवः प्रदक्षिणेनैते। उदगादिषु प्रशस्ताः प्लवक्षटोदुम्बराश्वत्थाः ॥ (बृहत्संहिता 53, 84)
गर्गस्त्वाह- वर्जयेत्पूर्वतोऽश्वरथं प्लक्षं दक्षिणतस्तथा। न्यग्रोथं पश्चिमे भागे उत्तरे चाप्युदुम्बरम् ॥ अश्वत्थे तु भयं ब्रूयात् प्लक्षे ब्रूयात्पराभवम्। न्याग्रोधे राजतः पीडा नेत्रामयमुदुम्बरे ॥ वटः पुरस्ताद्धम्यः स्याद्दक्षिणे चाप्युदुम्बरः। अश्वरथः पश्चिमे भागे प्लक्षस्तूत्तरतो भवेत् ॥ (सविवृत्तिबृहत्संहितायां तत्रैव)

विशेष- वृक्षायुर्वेद और समराङ्गणसूत्रधार में आया है कि अपने गृह परिसर में बेर, केला, दाड़िम, बीजपूरक, नीबू आदि का कभी रोपण नहीं करना चाहिए। जहाँ पर इनका रोपण होता है, उस गृह में वंश नहीं फलता है।[1]

अन्तःसारादीनां द्रुमारोपणमाह-

अन्तःसारास्तु वृक्षाः पनसतरुमुखाः सर्वसाराश्च शाका-
श्चिञ्चाद्यास्तालकेरक्रमुकयवफलाद्या बहिस्सारवृक्षाः।
निःसाराः शिग्रुसप्तच्छदशुकतरवः किंशुकाद्याश्च कार्या-
स्तेष्वाद्या मध्यभागे बहिरपि च ततः सवसारास्ततोऽन्ये॥ 25॥

(अब अन्तःसार आदि कोटियों के वृक्षों के रोपण के विषय में कहा जा रहा है कि) पनस या कटहल जैसे वृक्ष अन्तःसार कोटि के हैं जिनके मध्य में कठोरता होती है; इमली व सागवान जैसे वृक्ष सर्वसार कोटि के हैं जिनमें सर्वत्र कठोरता होती है; ताड़, नारियल, क्रमुक या सुपाड़ी जैसे वृक्ष बहिःसार कोटि के हैं जिनमें बाहर की ओर कठोरता होती है जबकि शिग्रु या सेजन, सप्तच्छद या शतपर्णी, शुकतरु या शिरीष, पलाश जैसे वृक्ष निःसार कोटि के माने गए हैं जो कोमल होते हैं। इनमें से कोटि-रूपानुसार ही वृक्षों का गृह-वाटिकाओं में रोपण करना चाहिए- अर्थात् अन्तःसार वृक्षों को भीतर तथा सर्वसार वृक्षों को बाहर और बहिःसार व निःसार वृक्षों को उक्त दोनों से बाहर रोपित करने चाहिए।

विशेष - वास्तुविद्या में स्पष्ट किया गया है कि पनस को पूर्व दिशा में लगाना श्रेष्ठ है। क्रमुक या सुपाड़ी को दक्षिण एवं केर पश्चिम में लगाएँ। उत्तरादि में नाग या पुन्नाग धनप्रदायक है। पूर्व में केसर लगाएँ। इमली का पेड़ दक्षिण व ताल विशेष का आरोपण पश्चिम में श्रेष्ठ कहा गया है। पेड़ों की जो कोटियाँ बताई गई है, उनके अनुसार अन्तस्सार वृक्ष यदि लगाने हो तो अन्दर की ओर तथा सभी प्रकार के त्वचिसार या बहिस्सार बाहर की ओर लगाएँ। इसी प्रकार अन्य सभी प्रकार के सार वृक्षों को बाहर ही रोपित किया जाना चाहिए। मान्यता यह है कि सभी प्रकार के वृक्षों की चार कोटियाँ हैं- अन्तस्सार, बहिस्सार, उभयस्सार तथा उभयनिस्सार। इनमें से अन्तस्सार के अन्तर्गत पनसादि के पेड़ आते हैं। तालकेरादि के पेड़ बहिस्सार, इमली आदि के पेड़ उभयस्सार

---

1. बदरी कदली चैव डाडिमी बीजपूरिका। प्ररोहन्ति गृहे यत्र तद् गृहं न प्ररोहति॥' (वृक्षायुर्वेद 29, समराङ्गण. 48, 131)

और शिग्रु, सप्तच्छद आदि के पेड़ उभयनिस्सार कोटिगत रखे गए हैं। वाटिका में अन्तस्सार कोटि के वृक्षों को मध्य में और अन्य बहिस्सार तथा सर्वसारीय कोटिगत वृक्षों को बाहर ही लगाना चाहिए।[1]

अत्र वर्ज्यान् वृक्षानाह–

कारास्करारुष्करकण्टककिद्रुश्लेष्मातकाक्षद्रुमपीलुनिम्बाः।
स्नुहीपिशाचद्रुमहेमदुग्धाः सर्वत्र नेष्टा अपि शिग्रुरन्तः॥ 26 ॥

कारस्कर (किंपाक), अरुष्कर (चमकीला या अडूसा), काँटेदार वृक्ष, श्लेष्मान्तक या लिसोड़ा, रुद्राक्ष, पीलु, नीम, स्नूही सहित ऐसे पेड़ जिन पर पिशाचावास अथवा सेहोर संज्ञक वृक्ष हो और हेमदुग्ध (गूलर) और शिग्रु सा सेजन (देहात में सरजना) सर्वत्र रोपण की दृष्टि से नेष्ट कहे गए हैं।

विशेष - वास्तुविद्यादि में कहा गया है कि जो निस्सार कोटि के वृक्ष होते हैं, उनका गृहक्षेत्र में वर्तन किया जाना नेष्ट माना गया है जबकि चमेली, नागलता, लतिका, केला आदि सभी स्थानों पर शुभ होते हैं। मान्यता यह भी है कि अपने गृह परिसर में बेर, केला, दाड़िम, बीजपूरक, नींबू आदि का कभी रोपण नहीं करना चाहिए। जहाँ पर इनका रोपण होता है, उस गृह में वंश नहीं फलता है। इसी प्रकार मन्दिर, गृह के पार्श्व या पीछे के भाग में श्रीवृक्ष, बिल्व, आमलकी, देवद्रुम, पलाश, अशोक, मालेष शुभ होते हैं। पुन्नाग, असन, चम्पक, खदिर, कदली, चमेली, नागलता आदि सर्वत्र सुन्दर और शुभकारी होते हैं।[2] ब्रह्मवैवर्तपुराण के अध्याय 103 में वृक्षों के फलाफल का विस्तार से वर्णन आया है।

अथ देवालयावस्थानुसारेणगृहस्थितिमाह–

विष्णोः पृष्ठे च वामे नरभवनमनर्थप्रदं दक्षिणे
चाप्यग्रे भागे च कालीनरहरिशिवतद्भिन्नसर्वोग्रमूर्तेः।

---

1. पनसः प्राच्यां श्रेष्ठः क्रमुको याम्येऽथ पश्चिमे केरः। सोमे भूतो धन्यो नागरस्तत्रैव केसरः प्राच्याम्॥ तिन्त्रिण्युदिता याम्ये छत्री श्रेष्ठोऽथ पश्चिमे कथितः। अन्तःसारा वृक्षा यदि सन्ति ह्यन्तरेव सन्तु च ते॥ ये सन्ति त्वचिसारास्तेऽपि च सन्त्वेव सर्वतो बाह्ये। सकलः सारो येषां ते वृक्षाः सर्वदिक्षुं युज्यन्ताम्॥ (वास्तुविद्या 5, 15-17) **तथा च विष्णुसंहितायां** - अन्तस्सारं बहिस्सारं निस्सारं सर्वसारकम्॥ चतुर्धा स्थावरं तेषामसारं न गृहाग्रतः। कदल्यादि बहिधार्यं गृहपृष्ठान्तपक्षतः॥ सर्वसारं तु सर्वत्र चिञ्चादि परिकीर्तितम्। अन्तस्सारं तथा विद्याद् बहिस्सारमसावत्॥ (पटल 12, 23-25)
2. वृक्षा निस्सारा ये तेषां क्षेत्रेषु वर्तनं नेष्टम्। जातीनागलताद्या लतिका रम्भाश्च सर्वतः शस्ताः॥ (वा.वि. 5, 18) **तथा च**- स्थाप्या मन्दिपार्श्वपृष्ठदिशि तु श्रीवृक्षबिल्वाभयाव्याधिघ्नामलकीसुरद्रुमपलाशाशोकमालेषकाः।

आर्यो निम्नस्थलस्थो यदि मनुजगृहं दक्षिणेऽग्रेऽस्य तस्मा-
दुच्चत्वं नेष्टमिष्टं निकटमपि तदन्यत्र तत्पादभाजाम्॥ 27 ॥

(गृह बनाते समय आसपास के देवालयों की स्थिति पर भी विचार आवश्यक है, कहा गया है कि) भगवान् विष्णु के मन्दिर के पृष्ठ भाग और बाँयीं ओर तथा कालिका, नृसिंह, शिव तथा अन्य उग्र देवों के आयतन के समक्ष तथा दाँयें यदि गृह का निर्माण किया जाता है तो अनर्थकारी होता है। इसी प्रकार गृह से देवालय नीचे नहीं होना चाहिए अर्थात् गृह को देवालय की ऊँचाई से निम्न बनाया जाना चाहिए। मन्दिरों के सामने व दाँयीं ओर निर्माण अशुभ है। जिनका जीवन देवालयाश्रित हो (साधु, वैष्णव, शैव-संन्यासी, पुजारी आदि), उनका निवास नेष्ट स्थान-दिशाओं आदि को छोड़कर वहाँ बनाया जा सकता है।

विशेष - सूत्रधार मण्डन का मत है कि जिस घर पर दिन के दूसरे तथा तीसरे पहर में वृक्ष या मन्दिर की छाया पड़ती हो, वह हितकारी नहीं है, लेकिन पहले व चौथे प्रहर में पड़ने वाली छाया दोषरहित है। ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य और महादेव के मन्दिर के सामने तथा जिनालय के सामने भवन निर्माण नहीं करना चाहिए। जिस स्थान पर चण्डी की स्थापना हो, वहां आसपास भी घर बनाना वर्जित है।[1]

अन्य नेष्टस्थानोच्छ्रायादीनां-

व्रीहिक्षेत्रादिदेवालयजलधिनदीतापसागारगोष्ठ-
ग्रामादीनामतीवान्तिकमपकुरुते नैकधा मन्दिरेषु।
देवागारान्नराणामतिशुभदमिदं किञ्चिदूनं समं वा
तस्मादभ्युन्नतं च द्वितलविधिरयं नेष्यते तत्समीपे॥ 28 ॥

जहाँ व्रीहि या चावल-धान्योत्पादक अथवा संग्रहण क्षेत्र हो, देवालय, समुद्र, नदी, तपस्वियों का क्षेत्र या धूणी-स्थल, गोष्ठ अथवा गोशाला (खिड़क, गोठां) हो- ऐसे स्थान की भूमि अनेक दृष्टियों से अशुभ मानी जाती है। जिस भवन की ऊँचाई

पुन्नागासनचम्पकाश्च खदिरस्तद्वत् कदल्यादयो जातीनागलतादयोऽपि सकलाः सर्वत्र संशोभनाः॥ (तत्रैवोद्धृत)
विष्णुधर्मोत्तरपुराणे- उत्तरेण शुभः प्लक्षो वटः प्राग्भार्गवोत्तम। उदुम्बरश्च याम्यनेव सौम्येनाश्वत्थ एव च॥ एते क्रमेण नेष्यन्ति दक्षिणादिसमुद्भवाः। समीपजताश्च तथा वर्ज्या कण्टकिनो द्रुमा॥ वामभागे तथाद्यानं कुर्याद्वासगृहाच्छुभम्। वापयेत्प्राक्तिलांस्तत्र मृन्दीयात्तांश्च पुष्पितान्॥ (खण्ड 2, 73, 1-3)

1. यामादूर्ध्वमशेषवृक्षसुरजाच्छाया न शस्ता गृहे पार्श्वे कस्य हरेरवीशपुरतो जैनानुचण्ड्याः क्वचित्॥ (राजवल्लभ वास्तुशास्त्रम् 1, 28)

देवालय की ऊँचाई के समान या न्यून होती है वह बहुत शुभ होता है। देवालय से उन्नत अथवा द्वितलीय भवन देव प्रतिमाओं के सामने या समीपस्थ बनाया जाना अपेक्षित नहीं होता अर्थात् ऐसा विचार त्याग दिया जाना चाहिए।

अथ ब्राह्मणाद्यधिकारिभेदेन भूमेर्लक्षणमाह-

विप्रादिक्रमतः कुशेषुवनदुर्वाकाशयुक्ता भुव-
स्तुल्यातानवितानसिन्धुर्$_8$रसा$_6$ब्ध्यं$_4$शाधिदीर्घा अपि।
श्वेता पाटलपीतमेचकरुचश्चाज्यासृगन्नासवामोदाः
स्वादुकषायतिक्तकटुकास्वादान्विताश्च स्मृताः ॥ 29 ॥

(अब गृह कार्यार्थ भूमि चयन के लिए वर्णानुसार योग्यायोग्यता पर विचार किया जा रहा है।) जिस भूमि पर कुशा, दर्भ, दूर्वा-दूब, काश की उपज होती हो, जिसकी लम्बाई उसकी चौड़ाई के समान हो अथवा 1/8, 1/6 अथवा 1/4 भाग अधिक हो और जो श्वेतवर्णा, रक्तवर्णा, पीतवर्णा या श्यामवर्णा हो; जिसमें से घृत-आज्य, रक्त, भात तथा सुरा जैसी गन्ध आती हो तथा जिसका स्वाद मीठा, कषाय, तिक्त और कटु हो- ऐसी भूमि क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णवालों के लिए ग्राह्य और शुभ होती है।[1]

विशेष - वर्ण क्रम से रङ्ग, स्वाद, गन्ध परीक्षण की यही मान्यता वास्तुविद्या, शिल्पशास्त्र, महाभारत, बृहत्संहिता, गर्गसंहितादि में मिलती है।[2]

----

1. एषां श्लोका तन्त्रसमुच्चये (1, 32) अस्यार्थं- विप्रादीति। कुशेषुवनदूर्वाकाशयुक्ताः कुशैरिषुवनेन दूर्वाभिः काशैश्च युक्ताः। भुवः भूवभागाः। विप्रादिक्रमतः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रक्रमेण स्मृताः। तुल्यातानवितानसिन्धुर रसाब्ध्यंशाधिदीर्घाः तुल्यदैर्घ्यविस्तारचतुरश्राः। सिन्धुरा गजाः सिन्धुररसाब्धिशब्दैः अष्टषट्चतुःसङ्ख्या लक्षिताः। विस्तारादष्टषट्चतुरंशाधिकं दैर्घ्ययुक्ताः। अपि समुच्चये। समचतुरश्रादिचतस्रो भुवो विप्रादिक्रमतः। स्मृता इत्यर्थः। श्वेतापाटलपीतमेचकरुचश्च धवलरक्तपीतकृष्णवर्णाश्च। विप्रादिक्रमतः आज्यासृगन्नासवामोदाश्च घृतरुधिरहविस्सुरा गन्धाश्च। स्वादुकषायतिक्तकटुकास्वादान्विताश्च। एते रसाश्च विप्रादिक्रमतः स्मृता इत्यर्थः।
तुलनीय- मानववास्तुलक्षणे (4)
2. **वराहमिहिरे**- सितरक्तपीतकृष्णा विप्रादीनां प्रशस्यते भूमिः। गन्धश्च भवति यस्यां घृतरुधिरान्नाद्यमद्यसमः॥ कुशयुक्ता शहरबहुला दूर्वाकाशावृता क्रमेण मही। ह्यनुवर्ण वृद्धिकरी मधुरकषायाम्लकटुका च॥ (53, 96-97)
गर्ग प्राह- मधुरा दर्भसंयुक्ता घृतगन्धा च या मही। उत्तरप्रवणा चेति ब्राह्मणानां तु सा शुभा॥ रक्तागन्धा कषाया च शरवीरेण संयुक्ता। रक्ता प्राक्प्रवणा ज्ञेया क्षत्रियाणां तु सा मही॥ दक्षिणप्रवणा भूमिर्याग्ला दूर्वाभिरन्वित। अन्नागन्धा च वैश्यानां पीतवर्णा प्रशस्यते॥ प्रश्चिमप्रवणा कृष्णा विकुण्ठा काशसंवृता। मद्यगन्धा मही धन्या शूद्राणां कटुका तथा॥ (सविवृत्तिबृहत्संहितायां तत्रैव)

अथ दिक्कानुसारेणनिम्नोन्नतभूमिचयनमाह-

विप्राणां भूरवागुन्नतधनदनतोदुम्बराढ्या शुभा स्यात्
प्राङ्निम्ना वारुणोच्चा चलदलसहिता भूः शुभा बाहुजानाम्।
प्रागुच्चाब्धीशनिम्ना वटतरुसहिता भूर्विशां पादजानां
सा सप्लक्षा तथा चेद् यमनतधरणी चान्यथा सर्ववर्ज्याः॥ 30॥

ब्राह्मण के लिए भूमि दक्षिण दिशा में उन्नत व उत्तर दिशा में झुकी हुई हो तथा वहाँ पर उदुम्बर आदि वृक्ष पूर्व से ही विद्यमान हो। पूर्व दिशा में झुकी हुई और पश्चिम में ऊँची भूमि जहाँ पर पीपल जैसे वृक्ष लगे हो- ऐसी भूमि क्षत्रिय वर्णवालों के लिए शुभ है। वैश्यवर्ग के लिए पूर्व में ऊँची तथा पश्चिम में अवनत भूमि हो और वहाँ पर वटादि वृक्ष पहले से ही होने चाहिए। इसी प्रकार शूद्र वर्ग के लिए ऐसी भूमि होनी चाहिए जो कि दक्षिण में झुकी हुई हो और वहाँ पर प्लक्ष या पाकड़ के वृक्ष होने चाहिए। अन्य प्रकार की भूमि इन सबके लिए वर्ज्य कही गई है।

विशेष- एतद् विषयक में शास्त्रीय मतों का पूर्व में विचार किया गया है। इसके अनुसार चतुर्थ वर्णों के लिए यह मत है कि उत्तर, ईशान, वायव्य कोण में ऊँची तथा दक्षिण में नीची भूमि को चरवास्तु कहते हैं। यह भूमि वैश्यों के लिए विशेष लाभदायक होती है। पश्चिम में नीची, ईशान कोण, पूर्व आग्नेय कोण में ऊँची भूमि को श्वमुख वास्तु कहते हैं। यह भूमि शत्रु के लिए निवास योग्य होती है। आग्नेय, नैर्ऋत्य, ईशान कोण में ऊँची, तथा वायव्य कोण में नीची भूमि को सुस्थान वास्तु कहते हैं और यह भूमि ब्राह्मणों के लिए सुखद होती है। पूर्व में नीची और नैर्ऋत्य, वायव्य तथा पश्चिम कोण में ऊँची भूमि को सुतल वास्तु कहते हैं और यह भूमि क्षत्रियों के लिए हितकर होती है।[1]

स्पष्टार्थचक्र-

वर्ण	रङ्ग	गन्ध	स्वाद	आकार	प्लव	घास
ब्राह्मण	श्वेता	घृत	मधुर	1:1	उत्तर	कुशा
क्षत्रिय	रक्ता	रक्त	कषाय	1:1/8	पूर्व	दर्भ
वैश्य	पीता	भात	तिक्त	1:1/6	पश्चिम	दुर्वा
शूद्र	श्याम	सुरा	कटु	1:1/4	दक्षिण	काश

----

1. **तथा च मय**- चतुरश्रं द्विजातीनां वस्तु श्वेतमिन्दितम्। उदुम्बरद्रुमोपेतमुत्तरप्रवणं वरम्॥ कषामधुरं सम्यक्

वर्णसाङ्कर्ययुक्ता सर्ववर्णैर्वर्जनीयेत्याह-

सङ्कीर्णरूपा वसुधात्र वर्णैर्गन्धै रसैश्चा(र्वा!)खिलवर्जनीया।
एनामनालक्षितवर्णचिह्नां नक्तं परीक्षेत निमित्ततश्च ॥ 31 ॥

सङ्कीर्णरूपा या मिश्रित अर्थात् रङ्ग, गन्ध एवं स्वादादि से मिलीजुली भूमि हो तो उसे त्याग दिया जाना चाहिए और जिस भूमि के लक्षण अज्ञात हो, उसको ग्रहण करने, न करने के प्रसङ्ग में रात्रि में निमित्त या शकुन-प्रश्नादि विधियों से विचार करना श्रेयस्कर है।[1]

इत्यमनन्तर भूमि परीक्षणरीतिमाह-

क्ष्मां खात्वामघटं निधाय भृतधान्यं वर्धमानं मुखे
कृत्वासिच्य घृतं निशासु सितरक्तापीतकृष्णा दशाः।
विप्रादिक्रमतः प्रदीप्य विधिवन्नीते मुहूर्ते ज्वलेद्
वर्त्तिर्यस्य धरास्य तासु सकलास्विद्धासु सर्वोचिता ॥ 32 ॥[2]

(अब भूमि के परीक्षण की विधियाँ कहते हैं) जिस भूमि का चयन किया गया हो, उस पर एक हाथ लम्बा-चौड़ा व गहरा (1×1×1) गड्ढा खोदें। उसमें मिट्टी का कोरा कलश धान्य से भरकर रखें और उसके मुख पर बड़े मृण-दीप को रखें। इस दीप में घी पूरित करें तथा पवित्र ध्वनियों के बीच श्वेत, रक्त, पीत व श्याम वर्ण की वर्तिकाएं (बातियाँ) बनाएँ बनाकर पूर्वादि क्रम (पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर) से रात्रि में जलाएँ। एक मुहूर्त के बाद दीपक को देखें कि किस दिशा की वर्तिका देर तक जल रही है, जिस दिशा की वर्तिका देर तक जलती

कथितं तत् सुखप्रदम्। व्यासाष्टांशाधिकायाम रक्तं तिक्तरसान्वितम्॥ प्राङ्निम्नं तत् प्रविस्तीर्णमश्वत्थद्रुमसंयुतम्। प्रशस्त भूभृतां वस्तु सर्वसम्पत्करं सदा॥ षडंशेनाधिकायामं पीतमम्लरसान्वितम्। प्लक्षद्रुमयुतं पूर्वावनतं शुभदं विशाम्॥ चतुरंशाधिकायामं वस्तु प्राक्प्रवणान्वितम्। कृष्णं तत् कटुकरसं न्यग्रोधद्रुमसंयुतम्॥ प्रशस्तं शूद्रजातीनां धनधान्यसमृद्धिदम्। एवं प्रोक्तो वस्तुभेदो द्विजानाम्॥ भूपानां वै वैश्यकानां परेषाम्। योग्यं सर्वं भूसुराणां सुराणां भूपानां तच्छेषयोरुक्तनीत्या॥ (मयमतम् 2, 10-15)

1. एषां श्लोकाः तन्त्रसमुच्चयाम् (1, 33)। तथा च व्याख्याये- अत्र भूपरीक्षायाम्। वर्णैः रूपैः गन्धै रसैः। वाशब्देन कुशादिभिः समचतुरश्रादिसंस्थानभेदैश्च। सङ्कीर्णरूपा मिश्रिता वसुधा अखिलवर्जनीया सर्ववर्णैस्त्याज्या। चिह्नराहित्ये कथमित्यत्राह- एनामिति। अनालक्षितवर्णचिह्नाम् अपरिस्फुटवर्णलक्षणयुक्ताम्। एनां वसुधाम्। नक्तं रात्रौ। निमित्ततः वक्ष्यमाणनिमित्तेनापि। परीक्षेत परीक्ष्य जानीयात्॥
   तुलनीय- मानववास्तुलक्षणे (5)
   तत्र विशेषोच्च - देवानां तु द्विजातीना चतुरश्रायताः श्रुताः। वस्त्वाकृतिरनिन्द्या सावाक्प्रत्यग्दिक्समुन्ता॥ (मयमतम् 3, 1)
2. एषां श्लोका मानववास्तुलक्षणम् (4)

रहे व वर्णानुसार ब्राह्मणादि वर्ण के लिए शुभ जानना चाहिए। यदि सभी वर्तिकाएँ प्रज्वलित हों तो उस भूमि को सभी वर्णों के लिए शुभ जानना चाहिए।

तत्रैव अन्य परीक्षणमाह-

भूगर्ते जलपूरितेऽत्र विधिवद् द्रोणादिपुष्पं क्षिपेत्
प्रादक्षिण्यगतिः शुभं सुमनसां यद्यन्यथा निन्दितम्।
पुष्पो दिक्ष्वथ संस्थिते सति शुभं कोणेषु चेन्निन्दितं
ज्ञात्वेत्यादिशुभाशुभान्यथ समीकुर्यात् क्षमां सूक्ष्मधीः ॥ 33 ॥

अन्य परीक्षण विधि के अनुसार उक्त भूमि के गड्ढे में जल भरकर उसमें द्रोण (एक प्रकार का श्वेत पुष्प देने वाला वृक्ष) आदि के पुष्प डालें और पर्यवेक्षण करें कि यदि वह प्रदक्षिण क्रमानुसार तैरता हो तो भूमि शुभ होती है अर्थात् गड्ढ के जल में पुष्प का पूर्व से दक्षिण की ओर घूमना शुभ है। विपरीतक्रम में घूमना अशुभ माना जाता है। अतः वह भूमि निन्दित होती है। यदि उक्त तैरता हुआ पुष्प पूर्वादि मुख्य दिशाओं में स्थिर हो जाए तो शुभ तथा ईशानादि कोणों में ठहर जाए तो अशुभ जानना चाहिए। इसके उपरान्त विद्वानों को शुभाशुभ (शकुनादि) पर विचार कर भूमि को समीकृत करने का उपक्रम आरम्भ करना चाहिए।

विशेष - इसी प्रकार की विधियाँ वराहमिहिरादि ने प्रस्तुत की हैं।[1] मत्स्यपुराण के शकुनाध्याय में नाना शकुनों की गणना की गई है।[2] इसी प्रकार काश्यप ने शुभशकुनों

---

1. **स्वस्य शुभाशुभाशानमाह वराहमिहिरे**- गृहमध्ये हस्तमितं खात्वा परिपूरितं पुनः श्वभ्रम्। यद्यूनमनिष्टं तत्समे समं धन्यमधिकं यत ॥ श्वभ्रमथावाऽम्बुपूर्णं पदशतमित्वा गतस्य यदि नोनम्। तद्धन्यं यच्च भवेत्पलान्यपामाढकं चतुःषष्टि ॥ आमे वा मृत्पात्रे श्वभ्रमस्थे दीपवर्तिरभ्यधिकम्। ज्वलति दिशि यस्य शस्ता सा भूमिस्तस्य वर्णस्य ॥ श्वभ्रोषितं न कुसुमं यस्य प्रल्मायतेऽनुवर्णसमम्। तत्तस्य भवति शुभदं यस्य च यस्मिन् मनो रमते ॥ (बृहत्संहिता 53, 92-95)
   तथा च गर्ग- या यस्य राशिता भूमेर्भवेत्तु गृहकर्मणि। तस्यां श्वभ्रं खनेर्मध्ये हस्तमात्रं समन्ततः ॥ तच्छ्वभ्रं पूरयेत्तेन पांशुना सुविचक्षणः। वर्धमाने च वृद्धि स्याद्धीयमाने विगर्हिता ॥ साम्ये साम्यं विनिर्दिष्टमथवाऽन्य-द्विचारणम्। पूरयित्वाऽथवा श्वभ्रं मृद्भिः क्रमशतं व्रजेत् ॥ पूर्णं स्यादागमं यावत् सा भूमिस्तु प्रशस्यते। तस्मिन् वा धारयेच्छ्वभ्रे चित्रं मान्यमनुक्रमात् ॥ यच्चिरान्म्लायते माक्ष्यं तद्वर्णं तत्र चावसेत्। आमे वा मृन्मये पात्रे दीपवर्ति चतुष्टयम् ॥ यस्यां दिशि प्रज्वलति चिरं तस्यैव सा शुभा ॥ (सविवृत्तिबृहत्संहितायां तत्रैव)
   नारद मते- हस्तमात्रं खनेत्खातं निशादौ जलपूरितम्। प्रातर्दृष्टे जले वृद्धिस्समः पङ्के व्रणे क्षयः ॥
   पुराणेपि- अरत्निमात्रे वै गर्ते स्वानुलिप्ते च सर्व्वशः। घृतं वरशरावस्थङ्कृत्वा वर्तिचतुष्टयम् ॥ ज्वालयेद् भूपरीक्षार्थम्पूर्वन्तत्सर्व्वदिङ्मुखम्। दीपान्पूर्वादि सङ्गृह्य वर्णानामनुपूर्वशः ॥ वास्तुसामूहिको नाम दीप्यते सर्वस्तु यः। शुभदः सर्ववर्णानां प्रासादेषु गृहेषु च ॥ (मत्स्यपुराण 253, 13-16)
2. अथेष्टानि प्रवक्ष्यामि मङ्गल्यानि तथानघ। श्वेताः सुमनसः पृष्ठा पूर्णकुम्भस्तथैव च ॥ जलजाः पक्षिणश्चैव

की सूची दी है। इस सूची के अनुसार दक्षिण दिशा से बाईं ओर गमन करता कौआ, दक्षिण में बैठा बाज, वाम भाग में बैठा माँस खाता गृध, कन्या, गौ, वादन, दही-दुग्ध से पूर्ण घट-कलश, पुष्प, घृत, पुष्पपूरित कलश, सपुत्रा युवती या स्त्री, अन्न, माँस, शिवभक्त, ज्वाला, दीपक, जलपूर्ण घट, वराह, हाथी, केश बाँधे स्त्री आदि के शकुन विचारणीय हैं।[3]

इति मनुष्यालयचन्द्रिकायां भूपरीक्षापरिग्रहो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ 1 ॥

इस प्रकार 'मनुष्यालयचन्द्रिका' में भूमि परीक्षा व परिग्रह नामक प्रथम अध्याय सम्पन्न हुआ ॥ 1 ॥

*****

मांसमत्स्यस्यपार्थिवाः। गावस्तुरङ्गमो नागो वृद्ध एकः पशुस्त्वजा ॥ त्रिदशाः सुहृदो विप्रा ज्वलितश्च हुताशनः। गणिका च महाभागा दूर्वाचार्द्राश्च गोमयम्। रुक्मं रूप्यं च ताम्रं च सर्वरत्नानि चाप्यथ ॥ औषधानि च सर्वज्ञा यवाः सिद्धार्थकास्तथा। खड्गं पात्रं पताका च मृत्तिकायुधपीठकम् ॥ राजलिङ्गानि सर्वाणि शवं रुदितवर्जितम्। घृतं दधि पयश्चैव फलानि विविधानि च ॥ स्वस्ति वृद्धिनिनादश्च नद्यावर्तः स कौस्तुभः। वादित्राणां शुभः शब्दो गम्भीरः सुमनोहरः ॥ गान्धारषडजऋषभा ये गीताः सुस्वराः स्वराः। वायुः सशर्करोत्युष्णः सर्वविघ्न विनाशकृत् ॥ प्रतिलोमस्तथा नीचो विज्ञेयो भयकृद्द्विजः। अनुकूलो मृदुः स्निग्धः सुखस्पर्शः सुखावहः ॥ शस्तान्येतानि धर्मज्ञ यत्रस्यान्मनसः प्रितम्। मनसस्तुष्टिरेवात्र परमं जललक्षणम् ॥ मनोत्सुकत्वं मनसः प्रहर्षः शुभस्य लाभो विजयप्रवादः। मङ्गल्यलब्धिः श्रवणं च राज्ञां ज्ञेयानि नित्यं विजयावहानि ॥ (मत्स्यपुराण 243, 14-28)

3. वायसं दक्षिणे वामदा गतं च तथैव च। श्येनं वै दक्षिणे वामे गृध्रं मासेन संयुक्त ॥ कन्यागोदर्शनञ्चैव गावस्त्वावाहनं तथा। दधिना पूर्णकुम्भश्च क्षीरकुम्भ तथैव च ॥ पुष्पं पुष्पधृतं सुतवतीयुवतिस्त्रियः। अन्नं च मांसहास्व शिवभक्ति परायणम् ॥ ज्वालानं च दीपं च जलैः पूर्णघटावृतम्। त (व) राहं च गजं चैव वेण्या चात्यन्तसुन्दरी। शुभान्येताभि भौमानि अशुभं विपरीतकम्। उल्कापातं दिशा दाहं महावात प्रवर्तनम्। अशुभान्य-तरीक्षाणि............................। इत्यादि। (काश्यपशिल्पम् 49, 20-25)

1.'व' ख. पाठः 2. 'शस्ता म' ग. पाठः।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

दिङ्निर्णयादि शुभवीथीपरिग्रह वास्तुदेवतानिर्णयः

अथ समीकरणेशङ्क्कादिमानमाह-

यन्त्रेणावनतादिना च निपुणो यद्वाम्बुसम्पूरणे-
नोर्वी चारु समीकरोत्वथ दृढं शङ्कुं करार्धायतम्।
मूले [1]द्व्यङ्गुलविस्तृतः क्रमवशादग्रे तदर्धोन्मित
व्यासं वृत्ततरं सरोजमुकुलाकाराग्रमाकल्पयेत्॥ 1॥

(जब भूमि परीक्षा हो जाए तब भूमि को सर्वप्रथम कार्यार्थ इकसार करना चाहिए। इस विषय में कहा जा रहा है कि) वास्तुतन्त्र में दक्ष व्यक्ति को चाहिए कि वह अवनतयन्त्र का प्रयोग कर अथवा भरे हुए पानी के स्तरानुसार भूमि का परीक्षण कर उसको इकसार करने का प्रयत्न करें। इसके उपरान्त आधा हाथ मान का विस्तृत शङ्कु बनवाए। शङ्कु मूल में दो तथा अग्रभाग में एक अङ्गुल हो। नीचे से ऊपर तक क्रमशः क्षीणकाय होता जाए- ऐसी उसकी रचना होनी चाहिए। शङ्कु वृत्ताकार हो और उसके शीर्ष का भाग पद्म-मुकुल या कमलदल की शिखा के समान होना चाहिए।

अथ शङ्कुस्थापनामाह-

शङ्कुदीर्घयुगसम्मितसूत्रेणाकलय्य परिवृत्य सुवृत्तम्।
वृत्तमध्यमवधार्य सुसूक्ष्मं शङ्कुमत्र तु दृढं निवेशयेत्॥ 2॥*

पूर्वोक्त प्रकार बनाए गए शङ्कु की लम्बाई की दोगुनी भूमि पर वृत खींचें और उसके मध्य का सुसूक्ष्ममान पूर्वक निर्धारण करते हुए, मध्य में उक्त संधारक शङ्कु को सुदृढ़ता के साथ निवेश करना चाहिए।

विशेष- शङ्कु के मान से दिवसच्छाया के अनुसार परिगृहीत भूमि की दिशा की

जानकारी निकालने की विधियाँ प्राचीन वास्तुशास्त्रों और ज्योतिषग्रन्थों में अनेकत्र मिलती है।[1] आजकल कुतुबनुमा के प्रयोग ने इस विधि को बिसरा दिया है।

अथ दिङ्निर्धारणमाह-

शङ्कुच्छायाग्रभागे त्ववहितहृदयो वृत्तलग्नेऽङ्कयित्वा
प्राह्णान्ते पश्चि(मस्यां? मायां)दिशि तदितरदिश्येक्मेवापराह्णे।
पाश्चात्त्येऽन्येद्युरप्यङ्कनमपि च विधायाङ्कयोरेतयोर-
प्यन्तर्भागत्रिभागे$_3$ नयतु गतदिनाङ्कं तदेवेह सूक्ष्मम्॥ 3॥

(इस प्रकार शङ्कु निवेश के उपरान्त पूर्वाह्ण व अपराह्न में) बहुत ध्यान से, पूर्वाह्ण में शङ्कु के अग्रभाग की छाया शङ्कु के चतुर्दिक बनाए गए गोले को जहाँ पर स्पर्श करती हो, वहाँ पर पश्चिम में चिह्न बनाए और अपराह्न में शङ्कु की छाया पूर्वभाग में जहाँ पर स्पर्श करती हो, वहाँ पर भी कोई चिह्न बनाया जाना चाहिए। आगामी सुबह एक बार पुनः पश्चिम दिशा में चिह्नाङ्कन करें। इसके बाद पश्चिम दिशा के दोनों ही बिन्दुओं को तीन भागों में विभाजित करें और गत दिवस के बिन्दु के निकट एक-तिहाई का चिह्न एकदम पश्चिम दिशा का ही होता है।

पूर्वापरज्ञानमाह-

पूर्वापरेद्युः प्रभवाङ्कयुग्ममेवं सुसूक्ष्मं परिकल्पितं यत्।
तदङ्कयुग्माहितसूत्रमेव पूर्वापराशाप्रभवं सुसूक्ष्मम्॥ 4॥

इसके बाद, इसे पूर्व दिवस के बिन्दु से यदि पश्चिम से पूर्व को रेखा खींचकर मिलाएँ तो वास्तव में पूर्व और पश्चिम दिशा का सूक्ष्म सङ्केत मिल जाता है।[2]

---

1. गृहीतवास्तुमध्ये तु समं कृत्वा भुवः स्थलम्। जलेन दण्डमात्रेण समं तु चतुरश्रकम्॥ (मयमतम् 6, 2)
विश्वकर्माप्रकाशे- चतुस्रां समां शुद्धां भूमिं कृत्वा प्रयत्नतः। तस्मिन् दिक्-साधनं कार्यं वृत्तमध्यगते दिशि॥ (वास्तुतन्त्र 2, 14)

2. **सिद्धान्तशिरोमणे श्रीभास्कराचार्याह**- वृत्तेम्भुस्सुसमीकृतक्षितिगते केन्द्रस्थशङ्कोः क्रमाद्भाग्रं यत्र विशत्यपैति च यतस्तत्रापरेन्द्रयौ दिशौ। तत्कालापमजीवयोस्तु विवराद्भाकर्णमित्या हताह्नम्ज्यासभिताङ्गुलैरयनदिश्यैन्द्री स्फुटा चालिताः। तन्मत्स्यादय याम्यसौम्यककुभौ सौम्या ध्रुवे वा भवेदेकस्मादपि भाग्रतो भुजमितां कोटीमिता शङ्कुतः। न्यस्येद्यष्टिमृजुं तथा भुवि यथा यष्ट्यग्रयोः संयुतिः कोटिः प्राच्यपरा भवेदिति कृते बाहुश्र याम्योत्तरे॥ (त्रि. अ. श्लोक 8-9)
सुगमोपयास्तु ग्रहलाघवे- वृत्ते समभूगतेतुकेन्द्रस्थितशङ्कोः क्रमशो विशत्यपैति। छायाग्रमिहापरां च पूर्वां ताभ्यां सिद्ध्यति मेरुदिक् च याम्या॥ (त्रि. अ. श्लोक 21)
मयमतेऽपि- शङ्कु कृत्वा दिनादौ तु स्थापयेदात्तभूतले॥ शङ्कुद्विगुणमानेन तन्मध्ये मण्डलं लिखेत्। पूर्वापराह्णयोश्छाया यदि तन्मण्डलान्तगा॥ तद्बिन्दुद्वयगं सूत्रं पूर्वापरदिशीष्यते। बिन्दुद्वयान्तर भ्रान्तशफरानन

तथा च सूत्रस्य निर्धारणमाह-

एवं क्षेत्रस्य मध्ये सुविहितमिह यद्ब्रह्मसूत्रं तदाहु-
स्तन्मध्येऽन्योन्यमन्तर्गतमथ रचयेद् वृत्तयुग्मं च धीमान्।
तद्योगात् तिर्यगुद्यज्झषजठरसुषुम्नाध्वना सूत्रमेकं
याम्योदग्गामि सूक्ष्मं रचयतु यमसूत्रं तदित्यामनन्ति॥ 5॥

जो क्षेत्र हो, उसके मध्य सुविहित रेखा (सूत्र, पूर्व-पश्चिम) की संज्ञा 'ब्रह्मसूत्र' होती है। उसके मध्य में दो वृत्त, एक दूसरे को भेदते हुए बनाए जाने चाहिए। इस मत्स्याकार विन्यास से लब्ध, मध्य (सुषुम्ना मार्गी) की सरल रेखा जो कि वृत्तों के भेदन से लब्ध होती है, उसको यदि मिलाया जाए तो दक्षिणोत्तर रेखा होती है। इस प्रकार याम्योदक् रेखा से उत्तर-दक्षिण का ज्ञान होता है। यह रेखा 'यमसूत्र' नामाभिधान वाली होती है।

अथ ईशादिकोणानयनमाह-

तत्सूत्रद्वितयेऽथ दिक्षु चतसृष्वङ्कान् समं कल्पयि-
त्वाङ्कारोपितमध्यकानि सुसमं चत्वारि वृत्तानि च।
सिध्यन्त्यत्र विदिक्षु वृत्तयुगलीयोगेन मत्स्याः शिवा-
ग्न्यग्रास्तद्गतसूत्रयुग्ममपि चात्राब्ध्यश्रमाकल्पयेत्॥ 6॥

इस प्रकार से बनाए गए दोनों ही सूत्रों पर मध्य से बराबर दूरी पर, चतुर्दिक चिह्नाङ्कन करना चाहिए। इन बिन्दुओं को केन्द्रवत् मानकर बराबर व्यास के चार वृत्तों को बनाए। इनके युगली-योग या मिलने से चार मत्स्याकृति बनती है जिसमें अग्र, ईशान तथा अग्नि माना जाता है (अन्य कोण नैर्ऋत्य व वायव्य होंगे)। इसी मत्स्याकृति से दो कर्णरेखाएँ बनाएँ और चौकोर वर्ग को तैयार करना चाहिए। (इस प्रकार ईशानादि कोण ज्ञात किए जा सकते हैं)।

तत्र खण्डज्ञानमाह-

सूत्रे प्रागुदगग्रके क्षितितले कृत्वा चतुःखण्डिते
खण्डे कल्पयतु द्विजादिवसतिं शार्वेऽथ वा नैर्ऋते।

पुच्छागम्॥ दक्षिणोत्तरगं सूत्रमेवं सूत्रद्वयं न्यसेत्। उदगाद्यपरान्तानि पर्यन्तानि विनिक्षिपेत्॥ सूत्राणि स्थपति प्राज्ञः प्रागुत्तरमुखानि च। (मयमतम् 6, 7-11)

क्षेत्रे विस्तृतिरस्ति चेत् पुनरपि श्रुत्यंशिते गृह्यते
शैवे नैर्ऋतखण्डमेव निर्ऋतौ शैवं शुभं चोभयोः ॥ 7 ॥

(अब खण्ड के निर्धारण के विषय में कहा जा रहा है कि) अग्र पूर्व और उत्तर दिशा में हो, ऐसे सूत्र के प्रयोग से भूमि को चार खण्डों में विभाजित करें और (नगर, विस्तृत प्रासाद हो तो) इन खण्डों में से ब्राह्मण और अन्य कर्मकाण्डीय जनों को ईशान या नैर्ऋत्य में बसना चाहिए। इसी प्रकार यदि क्षेत्र विस्तृत हो तो पुनः प्रत्येक खण्ड के चार-चार उपखण्ड बनाएँ। नैर्ऋत्य उपखण्ड का ईशान और ईशान उपखण्ड का नैर्ऋत्य निवास के लिए शुभ माना जाता है।[1]

विशेष - इस विषय में मुहूर्त ग्रन्थों में कहा गया है कि भूशुद्धि दिक् साधन का विधान स्थल निश्चय के लिए किया जाना चाहिए।[2]

पुनरपिखण्डनिर्धारणोपयोगश्च-

धात्रीतलेऽब्ध्यंशिनि₄ मानुषाख्यं गृहाभिवृद्धिप्रदमैशखण्डम्।
देवाह्वयं नैर्ऋतमिष्टदं स्यादुभे शुभे गेहविधौ नराणाम्॥ 8 ॥

यदि चयनित भूमि को चार भागों में विभाजित किया जाता है तो ईशानखण्ड को 'मनुष्यखण्ड' के नाम से जाना जाता है। यहाँ बसने पर वृद्धि होती है। इसी प्रकार नैर्ऋत्यकोण के खण्ड को 'देवखण्ड' के नाम से जानना चाहिए है और यह अभीष्ट की पूर्ति करने वाला होता है। अतः ये दोनों ही खण्ड मनुष्यों के आवास के लिए शुभकारक होते हैं।

अन्यदप्याह-

आग्नेयखण्डं यमसञ्ज्ञितं स्यान्मृतिप्रदं चाखिलवर्ज्यमेतत्।
वायव्यमप्यासुरसञ्ज्ञितत्वान्निन्द्यं विशां क्वापि च गृह्यते तत्॥ 9 ॥

---

1. **तुलनीय मानववास्तुलक्षणे** - सूत्रे प्रागुदगग्रके क्षितितले कृत्वा चतुःखण्डिते खण्डे कल्पयतु द्विजादिवसतिं शार्वेऽथ वा नैर्ऋते। खण्डेऽस्मिन् सति सम्भवे पुनरपि श्रुत्यंशिते ब्रह्मसूत्राभ्याशे शुभवास्तुवीथिपदयुक्त्याद्यं पुनश्चोन्नयेत्॥ (श्लोक 12)
2. **नारायणदैवज्ञे**- द्विघ्नायाममितं द्विपाशमजरत्सूत्रं विधायाऽङ्कयेत् त्र्यायामाङ्घ्रिमिते च विस्तृतिदले तत्कर्षकोणाभिधौ। पाशौ क्षेत्रविरामशङ्कुनिहतौ कृत्वाऽऽद्यमाकर्षयेत् कोणे शङ्कुरितीरितो विनिमयाद्रज्ज्वन्तयोश्चापरौ॥ आग्नेयादिदृढं प्रदक्षिणगतं सूत्रं समासादयेन्यध्ये वामकपार्श्वसुप्तपुरुषं ध्यात्वा तमुत्तानकम्। अष्टाश्वयं₂₈शमगेन्दुसंमितलवान्पुच्छाद्विहायाग्रगो भागो नाभिरितः खनेत्स्वमितं वामेऽश्मभिः पूरयेत्। ना कालेऽत्रविधेय उक्ततरुजोग्न्यात्सिद्धविंशाष्टयहः कृत्सङ्ख्याङ्गुलकस्त्रिभाग चतुरस्राष्टास्रकाऽनस्रकः। कं वक्षस्थलमूरुजानु युगलं संस्पृश्य विप्रादिको रेखा सूत्रवदग्निजेन रचयेत्तद्वच्च भित्तेः शिला:॥ (मुहूर्तमार्तण्ड 6,14-16)

इसी प्रकार कहा गया है कि आग्नेयकोण का खण्ड 'यमखण्ड' संज्ञक होता है और मृत्युदायक होने से वर्ज्य कहा गया है। वायव्यकोण वाला खण्ड 'असुरखण्ड' संज्ञक होता है और वह भी आवास की दृष्टि से निंद्य माना गया है। उसे कदाचित् सावधानी के साथ वैश्य अपने लिए उपयोग कर सकते हैं।

अथ चतुरस्रपरिकल्पनामाह-

भूपादिवर्णनियमेन यमोदगाया-
मोपेतमध्यचतुरश्रमहीतले तु।
कर्णाध्वना निर्ऋतिमारुतकोणमूल
शैवानलाग्रभवसूत्रयुगं हि रज्जुः॥ 10 ॥

क्षत्रियादि वर्णों के लिए नियमानुसार भूमि को उत्तर और दक्षिण दिशा में छोड़कर वर्गाकार बनाई जानी चाहिए। इस पर दो कर्ण इस प्रकार डाले जाएँ कि वे मूलतः नैर्ऋत्य, वायव्य तथा अग्र ईशान व आग्नेय में हों। इनको (पारिभाषिक रूप से) 'रज्जु' कहा जाता है।

सूत्रवेधस्यदोषमाह-

सूत्रस्य रज्जोरपि चाग्रमूलैर्विद्धे गृहादिस्थितमध्यसूत्रे।
हीनायतिप्राङ्गणतश्चतुःशालागारतोऽन्यत्र भवन्ति दोषाः॥ 11॥

(अब सूत्र का वेध कहा जाता है कि उक्त प्रकार से निरीक्षण करें और यदि) गृहादि का मध्य चतुश्शाल के अतिरिक्त, सूत्र और रज्जु के अग्र-मूल से विद्ध होता प्रतीत हो तो वह दोषकारक होता है।

विशेष- निर्माणकार्य के समय रस्सी या रज्जु को एक समान, एक सीध में रखना चाहिए। भित्ति आदि के लिए यह आवश्यक है और रज्जुओं का पर्यवेक्षण कर ही मध्य में भित्ति का कार्य करें, इसके हीन अथवा कम होने से प्राङ्गण या मध्यभाग, चतुश्शाला, भण्डार आदि में दोष उत्पन्न हो जाता है।[1]

---

1. **समराङ्गणसूत्रधारे**- प्रदक्षिणं प्रसार्यैतदुक्तं शङ्कुक्रमो यथा। म(ब)ध्यमानं यदा सूत्रं शङ्कुः किमपि मुञ्चति॥ तदा पुत्रवधं विद्याच्छिन्नं स्वस्वामिमृत्यवे। तस्माद् यत्नः प्रकर्तव्यो यावत् सूत्रं प्रसार्यते॥ (37, 70-71)
रज्जुलक्षणम् मयमते- अष्टयष्ट्यायता रज्जुस्तालकेतकवल्कलैः। कार्पासपट्टसूत्रैश्च दर्भैर्न्यग्रोधवल्कलैः। अङ्गुलाग्र समस्थूला त्रिवर्तिर्ग्रन्थि वर्जिता। देवद्विजमहीपानां शेषयोश्च द्विवर्त्तिका॥ (6, 14-15)

अथ वेधदोषमाह-

प्रागादि क्रमशः स्याद् वेधफलं पतिवियोगकुष्ठरुजौ।
रिपुपीडात्मजधनहान्यनिलरुजः स्वकुलधान्यहान्याद्याः ॥ 12 ॥

गृह में वेधपर विचार आवश्यक है। यदि पूर्व दिशा से प्रदक्षिण क्रम से क्रमशः वेध होता हो तो उनके फल क्रमशः पति वियोग, कुष्ठरोग, शत्रुआक्रान्त या पीड़ा, सन्तति हानि, सम्पति की हानि, सन्धिवात, स्वकुल विनाश व धान्य हानि जैसे फल होते हैं। (अतः इनका निवारण करना श्रेयस्कर है)।

विशेष- अन्धक, रूधिर, कुब्ज, काण, बधिर, दिग्वक्र, चिपिट, व्यङ्गज, मुरज, कुट्टक, सुप्त, शङ्खपालक, विकट, कङ्क और कैङ्कर- ये सोलह प्रकार के दोष विश्वकर्मा ने बताए हैं। समराङ्गणसूत्रधारादि में भी ऐसे दोष कहे गए हैं।[1]

स्पष्टार्थचक्र-

वेध दिशा	**फलाफल**	**वेध दिशा**	**फलाफल**
पूर्व	पति विछोह	आग्नेय	कुष्ठव्याधि
दक्षिण	शत्रु से कठिनाई	नैर्ऋत्य	सन्ततिघात
पश्चिम	धनहानि	वायव्य	सन्धिव्याधि
उत्तर	स्वकुलनाश	ईशान	धान्यक्षय

अथ सूत्रस्यविभागमाह-

क्षेत्रस्यैशादिखण्डे नवकृतिपदसम्भिन्नवास्त्वङ्गकोष्ठे-
ष्वेकस्यार्कांशतः स्याद् विततिरिह महासूत्ररज्ज्वोः प्रसिद्धा।
तत्तद्दिग्वर्गकोष्ठैर्विहीतशतपदेष्वेककोष्ठे भभागो
विस्तारं सूत्ररज्ज्वोरहिकृतिपदभिन्नेष्वथैकाष्टिभागः ॥ 13 ॥

---

1. **समराङ्गणसूत्रधारे**- अन्तस्त्रयोदश सुरा द्वात्रिंशद् बाह्यतश्च ये। तेषां स्थानानि मर्माणि सिरा वंशाश्च तेषु तु ॥ मुखे हृदि च नाभौ च मूर्ध्नि च स्तनयोस्तथा। मर्माणि वास्तुपुंसोऽस्य षण्महान्ति प्रचक्षते॥ वंशानुवंश सम्पाताः पदमध्यानि यानि च। देवस्थानानि तान्याद्ये पदषोडशकान्विते ॥ (13, 6-8)
तथा च- द्वारैर्वा भित्तिभिर्वापि मर्मणां परिपीडनात्। दौर्गत्यं गृहिणः प्राहुः कुलहानिमथापि वा ॥ भवेत् स्वामिक्षयः स्तम्भैस्तुलाभिः स्त्रीपरिक्षयः। स्नुषावधो जयन्तीभिर्बन्धुनाशश्च सङ्ग्रहैः ॥ मर्मस्थानगतैः कायैर्भर्तुः कायो निपीड्यते। सुहृद्विश्लेषमिच्छन्ति सन्धिपालैश्च तद्विदः ॥ (तत्रैव 12-14)

(अब सूत्र के विभाग करना कहा जा रहा है कि यदि) वास्तुक्षेत्र के ईशान आदि खण्ड नौ-नौ (9 × 9 = 81) भागों में विभाजित करें तो सूत्र और रज्जु का 12वाँ भाग विस्तार होता है जो ग्राह्य है और यदि दस-दस (10 × 10 = 100) भागों में विभाजित करें तो पद में विस्तार सूत्र एवं रज्जु के 8वें भाग के बराबर कल्पित करना चाहिए। इसी प्रकार यदि आठ-आठ (8 × 8 = 64) भागों में पद का विभाजन किया जाए तो सूत्र और रज्जु के 16वें भाग के समतुल्य ही होना चाहिए।

विशेष- यहाँ वास्तुपद विन्यास का विवरण है जिसमें क्रमश: इक्यासीपद (परमशायिक), शतपद और चतुषष्ठिपदवास्तु का विवरण आया है। मयमत में एक पद से लेकर 1024 पद तक के वास्तु का विवरण आया है जिनमें देवताओं के पद को भी बताया गया है।[1]

तत्रैव सूत्ररज्जादिवेध परिहारमाह-

समस्तगेहाङ्गणकूपवापीद्वारादिमध्यस्थितसूत्रवेध:।
मिथ: समस्तेष्वपि वर्जनीयो रज्ज्वोश्च कोणालयकर्णयोश्च॥ 14॥

(अब सभी निर्मितियों में सूत्रवेध का परिहार करने के विषय में कहा जा रहा है कि) सभी गृहावासों, आङ्गन, कूप, वापी, द्वारादि में सूत्रवेध, रज्जु और कोणालय के कर्ण या सूत्र का वेध नहीं रखना चाहिए (यदि हो तो उसे त्याग देना चाहिए)।

विशेष- ग्रामादि में सभी प्रकार के गृहों के आङ्गन, कूप, वापी, द्वारादि के बीच सूत्रवेध को देखने का उपक्रम करना चाहिए तथा जहाँ भी सूत्र के कोण टकराते हों या सूत्र से खींची गई तिर्यक् रेखा या सन्धि के सूत्रस्थान में भित्ति, तुला अथवा स्तम्भ आदि कोई निर्माण नहीं करवाना चाहिए।

अथ तालप्रमाण च वीथीपरिकल्पनामाह-

वीथीविस्तृतिकल्पनासु बहुधा दण्डो भवेन्मेदिनी-
विस्ताराद् गृहकर्तृपूरुषसमोत्सेधोऽत्र तालो मत:।

----

1. वक्ष्येऽहं पदविन्यासं सर्ववस्तुसनातनम्। सकलं पेचकं पीठं महापीठमत: परम्॥ उपपीठमुग्रपीठं (च?) स्थण्डिलं नाम चण्डितम्। मण्डूकपदकं चैव पदं परमशायिकम्॥ तथासनं च स्थानीयं देशीयोभयचण्डितम्। भद्रं महासनं पद्मगर्भं च त्रियुत पदम्॥ व्रतभोगपदं चैव कर्णाष्टकपदं तथा। गणितं पादमित्युक्तं पदं सूर्यविशालकम्॥ सुसंहितपदं चैव सुप्रतीकान्तमेव च। विशालं विप्रगर्भं च विश्वेशं च तत: परम्॥ तथा विपुलभोगं च पदं विप्रतिकान्तकम्। विशालाक्षपदं चैव विप्रभक्तिकसंज्ञकम्॥ पदं विश्वेशसारं च तथैवेश्वरकान्तकम्। इन्द्रकान्तपदं चैव द्वात्रिंशत् कथितानि वै॥ (मयमतम् 7, 1-7)

तालैस्तैर्दश$_{10}$ नन्द$_{9}$ वारण$_{8}$ मितैर्दण्डस्त्रिधा$_{3}$ तेषु त-
द्वीथीविस्तृतिमेकतो वितनुयाद् यद्यस्ति भूविस्तृतिः ॥ 15 ॥

(अब ताल प्रमाण और वीथिका के विषय में कहा जा रहा है कि) भूमि के क्षेत्र के अनुरूप वीथी की चौड़ाई दण्डमान के अनुसार विविध प्रकार की हो सकती है। गृह निर्माता पुरुष की जो ऊँचाई हो उसे 'ताल' के नाम से जाना जाता है। दण्ड के प्रमाण तीन कहे गए हैं- दसताल, नव तथा अष्टताल। अगर क्षेत्र विस्तृत हो तो वीथी की चौड़ाई का मापन इनमें से किसी एक प्रकार के दण्ड से किया जाना चाहिए अर्थात् अति विस्तृत के लिए दस, मध्यम के लिए नव तथा अधम या सामान्य के लिए अष्टताल का प्रयोग किया जाए।[1]

अथ वीथीविन्यासमाह-

नन्द$_{9}$द्वन्द्वपुटेन वा वृतितया[2] बाह्यादिमध्यान्तिमा
वीथ्यः स्युः परितः पिशाचदिविषद्वित्ताधिभूदण्डिनाम्।
नागाम्ब्वग्निविनायकद्रुहिणनाम्नां चासु निन्द्याः स्मृताः
पैशाचाग्न्यहिदण्डिनां गृहविधौ वीथ्यश्चतुर्दिक्ष्वपि ॥ 16 ॥

(अब वीथिका के विन्यास के विषय में कहा जा रहा है कि) जब किसी क्षेत्र को अठारह-अठारह (18 × 18) भागों में बाँटा जाए तो मध्य के चतुर्दिक नौ प्रकार की वीथियाँ बनती हैं। इनके नाम बाहर से मध्य की ओर से क्रमशः पिशाच, देव, कुबेर, यम, नाग, अम्बु, अग्नि, विनायक और द्रुहिण या ब्रह्म वीथी है। इनमें से चतुर्दिक पिशाच, अग्नि, नाग और यम वीथी को आवास गृह प्रयोजन के निमित्त निन्दित कहा गया है। अतः देवादि वीथी शुभकारक है।

----

1. **यथा मयमते**- एकद्वित्रिचतुर्भिः पञ्चभिरपि कार्मुकैश्च मार्गततिः। प्राक्प्रत्यग्गतमार्गा ऋतुदण्डमहापथाख्यास्ते ॥ मध्यमयुक्ता वीथी ब्रह्माख्या सैव नाभिः स्यात्। द्वारसमेता वीथी राजाख्या च द्विपार्श्वतः क्षुद्रा ॥ सर्वाः कुट्टिमकाख्या मङ्गलवीथी तथैव रथमार्गम्। तिर्यग्द्वारसमेता नाराचपथा इति ख्याता ॥ उत्तरदिङ्मुखमार्गाः क्षुद्रार्गल वामनाख्यपथाः। (9, 36-39)
   तथा च ईशानशिवगुरुदेवपद्धतौ- ग्रामपर्यन्तवीथिस्तु ख्याता मङ्गलवीथिका। नगरे जनवीथी स्याद् रथ्याख्या खेटकादिषु ॥ (क्रियासार 25, 50)
2. **तुलनीय** - नन्दद्वन्द्वपुटे नवावृतितया मध्येऽस्य बाह्यान्तिमं वीथ्यः स्युः परितः पिशाचदिविषद्वित्ताधिभूदण्डिनाम्। नागाम्ब्वग्नि विनायकद्रुहिणनाम्नां चासु निन्द्याः स्मृताः पैशाचग्न्यहिदण्डिनां गृहविधौ वीथ्यश्चतुर्दिक्ष्वपि ॥ (मानववास्तुलक्षणम् 13)

अथाङ्गनप्रमाणात् वीथीमानमाह-

यावत् कल्पितमङ्गणं गृहविधौ स्वार्धान्विता तावती
वीथीविस्तृतिरुत्तमाङ्गणसमा मध्या तदल्पाधमा।
क्षेत्रेऽल्पे पुनरङ्गणार्धविततां वीथीं प्रकुर्यात् तदा
प्राच्योदीच्यगृहं भवेत् सलिलवीथ्यारूढमेवं च वा॥ 17 ॥

(अब आङ्गन की चौड़ाई के प्रमाणानुसार तीन प्रकार की वीथी का मान कहा जा रहा है कि) आवास में वीथी की रचना आङ्गन की लम्बाई से डेढ़ गुना चौड़ाई के साथ करनी चाहिए, यह उत्तम है। यदि समान लम्बाई की वीथी हो तो मध्यम तथा आङ्गन की लम्बाई की अपेक्षा अल्प चौड़ाई वाली हो तो अधम होती है। यदि क्षेत्र अल्प हो तो वीथी की चौड़ाई आङ्गन की लम्बाई की अपेक्षा आधी होती है। यदि प्राच्योदिच्व या पूर्व व उत्तर सलिल वीथी में हो तो अनुचित नहीं मानी जाती है।

अथाल्पक्षेत्रे वीथीविचारमाह-

क्षेत्रेऽत्यल्पे तु मध्येऽङ्गणमपि च कृतान्तात्मभूसूत्रयोगात्
किञ्चिन्नीत्वा स्वगत्यापि च भवनचतुष्कं कृतं दृश्यते च।
अत्यल्पा एव वीथ्यो ह्यशुभशुभफलान्येवमेवाल्परूपा-
ण्यस्मादीशादिखण्डाद्यधिगतनववीथीविधिर्नेष्यतेऽत्र॥ 18 ॥

(अब छोटे भूखण्ड पर वीथी के विषय में कहा जा रहा है कि) अति लघु क्षेत्र भी हो तो उसके मध्य में आङ्गन रखा जाना चाहिए और प्रत्येक शाला के लिए ब्रह्मसूत्र और यमसूत्र को दृष्टिगत रखते हुए चतुश्शाल एवं गमनादि रखा जाना चाहिए। इनकी वीथी भी अति क्षुद्र होती है और भले-बुरे प्रभाव भी नगण्य ही होते हैं। ऐसे में ईशानादि खण्ड तथा पिशाच वीथी आदि विषयों पर विचार नहीं किया जाना चाहिए।

विशेष- बहुत कम स्थान वाला आङ्गन भी यदि सूत्रक्रिया के अनुसार, नाप-जोख कर तैयार किया गया हो तो चतुष्कोणों वाला आवास वीथी से शुभ दिखाई देता है। सकड़ी अथवा कम चौड़ी वीथी अशुभकारक होती है। इसमें ब्रह्मस्थान आदि का पर्याप्त ध्यान रखना चाहिए।

तथा च भूआकारनिर्धारणं-

यावत् प्राङ्गणदैर्घ्यमानममुनैकाध्यर्धवीथीततं
तेनाष्टादश 18 भूमिमानमिति वा क्षेत्राप्तिरन्तः क्रमात्।

मर्यादानियमप्रहीणमनुजागारेऽपि तत्प्राङ्गणा-
देवं क्षेत्रमितिं करोतु च पुनर्वप्रान्तमौचित्यतः ॥ 19 ॥

(अब भूखण्ड की सीमा के निर्धारण के विषय में कहा जा रहा है कि) जितनी आङ्गन की लम्बाई हो उसकी अपेक्षा वीथी की चौड़ाई डेढ़ गुना हो। क्षेत्र की चौड़ाई वीथी की चौड़ाई की अपेक्षा अठारह गुनी रखें। इसके बाद भीतर के क्षेत्र की मर्यादा या सीमा का निर्धारण करना चाहिए। जो क्षेत्र सीमाङ्कन से रहित हो उसकी सीमा का निर्धारण वहाँ के आङ्गन की लम्बाई से निर्धारित की जाती है। इसके उपरान्त ही वहाँ सीमा स्तरीय भित्यादि को बनाना चाहिए।

अथ पदविन्यासमाह-

एकीकृत्य गणेशपङ्कजभुवोर्वीथीमथैशेऽथवा
खण्डे नैर्ऋतकेऽत्र वास्तुपदमेकाशीति$_{81}$ खण्डात्मकम्।
यद्वा नागकृतिप्रभिन्नमथवा दिग्वर्गखण्डोदितं
कुर्यादेकमिहाङ्गमर्मरचनां वास्तोश्च[3] तद्देवता ॥ 20 ॥

(अब भूखण्ड पर पद विन्यास के विषय में कहा जा रहा है कि) ईशान खण्ड अथवा नैर्ऋत्य खण्ड में ब्रह्मा और विनायक वीथी को एक करते हुए परमशायिक या इक्यासी (या चौसठ अथवा शत) खण्डों में विभाजित किया जाना चाहिए और नागकृति (वास्तुपुरुषचक्र) के अनुसार भी दिशानुसार वास्तु के देवताओं, उसके मर्मस्थानों को ध्यान में रखते हुए पद विन्यास करना चाहिए।

नाड्यनिर्धारण च मर्मस्थलमाह-

नाड्यः प्रागुदगग्रगा दश$_{10}$दशै$_{10}$काशीति$_{81}$कोष्ठे शिवा
ग्न्यग्राः पञ्च पृथङ् नवो$_{9}$र्मि$_{6}$गुण$_{3}$कोष्ठस्थास्तथा रज्जवः।
मर्माण्यष्ट$_{8}$रसा$_{6}$शुगा$_{5}$ब्धि$_{4}$गुणसङ्ख्यानैरकोष्ठस्थितै
सूत्रैर्योगसमुद्भवानि तु शतं वर्ज्यानि कुड्यादिषु ॥ 21 ॥

(अब नाड़ी के निर्धारण और मर्म स्थल के विषय में कहा जा रहा है कि) यदि परमशायिक या इक्यासी पद हो तो दस नाडी या सिरा पूर्व तथा दस ही नाडी उत्तर दिशा की ओर खींची जाती है। इसमें 9, 6 व 3 पद से पाँच रज्जु ईशान और आग्नेय कोष्ठक की ओर होते हैं। इसी प्रकार मध्य के पद के त्यागकर 100 मर्म स्थल कहे गए हैं जो

कि 8, 6, 5 अथवा 4 सूत्र के सम्पात् (योग) के अनुसार होते हैं जिन पर कोई कुड्य अथवा भित्ति आदि नहीं बनवानी चाहिए।[1]

यदि कदाचित् तैर्वेध: अन्यो वा दोष: सम्भाव्येत, तदा किं कर्तव्यम्। तत्राह मर्मदोष निवारणोपाय-

प्राग्वोदक्पदभास्करांशदलमात्रं मर्मसूत्रस्थितै-
र्नीत्वा विन्यसनान्न मर्मपरिपीडा स्तम्भकुड्यादिषु।
वास्तुन्यत्र निपीडिते महिषसिंहानेकपानां शिरो
हैमं कूर्मवराहयोश्च निखनेत् तच्छान्तये शान्तिकृत्॥ 22॥

(अब मर्मदोष कब दूर होता है, इस सन्दर्भ में कहा जा रहा है कि) यदि मर्मसूत्र से पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर से पद का गमन 1/24 रखा जाए तो स्तम्भ या भित्ति आदि के मर्मवेध का दोष नहीं लगता है। इसी प्रकार यदि मर्मदोष हो तो शान्तिकर्म के साथ ही (दोषस्थल पर) स्वर्ण निर्मित महिष, सिंह, गज, कूर्म और वराह का सिर वहाँ पर गड़वा दिया जाना चाहिए।

विशेष- यह ज्ञातव्य है कि जहां मर्मस्थान हो, वहाँ खुदाई नहीं करनी चाहिए तथा खातकर्म के अवसर पर स्वर्ण, कूर्म-वराह का दान करते हुए शान्तिकर्म करना चाहिए। वास्तुविद्या और शिल्परत्नम् में आया है कि मर्म स्थानों पर यदि प्रमादवश कहीं कोई त्रुटि हो गई हो तो दोषों की शान्ति के लिए वहाँ पर सिंह, हाथी, महिष, कछुआ और सूकर का मस्तक शुद्ध सोने से बनवाकर गाड़ा जाना चाहिए। इस प्रयोग से गृह निर्माता विकास करने लगता है अर्थात् उसे सर्वार्थलाभ मिलता है।[2] भारतीय वास्तुग्रन्थों में मर्मदोष के निवारण का यह एक मात्र उपाय है।

अथैकाशीतिपदे वास्तौ न्यासक्रमचक्रमाह-

एकाशीतिपदे प्रकल्प्य नवकं$_{9}$ मध्येऽस्य बाह्यावृतौ
षट्कं$_{6}$ दिक्षु विदिक्षुं युग्मयुगलं$_{2-2}$ चैकैक$_{1-1}$शस्तद्बहि:।

----

1. तुलनीय **मानववास्तुलक्षणे**- नाड्य: प्रागुद(गग्र)कादशदशैकाशीतिकोष्ठे शिवाग्न्यग्रा: पञ्च पृथङ् नवोर्मिगुणकोष्ठस्थास्तथा रज्जव:। मर्माण्यष्टरसाशुगाब्धिगुणसङ्ख्यानैरकोष्ठस्थितै सूत्रैर्योगसमुद्भवानि तु शतं वर्ज्यानि कुड्यादिषु॥ (श्लोक 19)
2. तुलनीय- **मानववास्तुलक्षणे** 20, 'स्तम्भकुड्यादिभि:' पाठ:।
उक्तानुक्तं च यत्किञ्चित् प्रमादाद् यदि सम्भवेत्। एतानि दोषशान्त्यर्थं निखनेद् वास्तुकर्मणि॥ सिंहमातङ्ग महिषकूर्मसूकरमस्तकम्। शुद्धहाटकक्लृप्तं स्यात् कर्तुर्गेहस्य वृद्धिदम्॥ (वास्तुविद्या 6, 23-24)

चत्वारिंशदथैषु पञ्च$_{45}$ च विरिञ्चाद्याः पदेषु स्थिता
बाह्येऽष्टावपदस्थितास्त्र्यधिकपञ्चाशत्$_{53}$ स्युरेवं सुराः ॥ 23 ॥

(अब परमशायिक या इक्यासी पदवास्तुविन्यास के विषय में कहा जा रहा है कि) इक्यासी पद के मध्यवर्ती नौ पद, उसके बाहर की पूर्वादि दिशाओं में छह-छह पद, विदिशाओं में दो-दो पद और अन्य बाहर एक-एक पद के क्रम से विरिञ्ची या ब्रह्मादि 45 देवता तथा बाहरी कोणादि के आठ देवताओं को मिलाकर कुल 53 देवताओं का विन्यास करना चाहिए।

विशेष - वास्तुकार्यारम्भ के अवसर पर इक्यासीपद के वास्तुन्यासक्रम चक्र की पूजा करनी चाहिए। इसके लिए दश रेखा पूर्वोपर और दस रेखा दक्षिणोत्तरा बनाएँ, इससे 81 कोष्ठक हो जाएंगे। इनके भीतर तेरह और बाहर बत्तीस देवताओं की अभिकल्पना करनी चाहिए। इस चक्र के भीतर नौ पद ब्रह्मा के होते हैं।

तत्राह देवतान्यासक्रम-

ईशाद्यं बहिरावृतिस्थपदकेष्वीशानपर्जन्यका-
वैन्द्रीन्द्रौ रविसत्यकौ भृशखग[4]व्यादांस्तथा पूषणः।
भूयो वै वितथं गृहक्षतयमौ गन्धर्वभृङ्गौ मृगं
पित्राख्यान् प्रतिहारपालमपि सुग्रीवं क्रमात् कल्पयेत्॥ 24 ॥
भूयः पुष्पादिदन्तं वरुणमसुरशोषाख्यरोगेरनागान्[5]
मुख्यं भल्लाटमिन्द्वर्गलमदितिदिती चेति बाह्यावृतौ[6] स्युः।
ईशाद्यावापवत्सार्यकसवितृकसावित्रसञ्ज्ञौ विवस्वा-
निन्द्राख्यश्चेन्द्रजिन्मित्रकशिवशिवजिद्भूभृतोऽन्तर्वृतौ स्युः॥ 25 ॥

(अब देवताओं का न्यासक्रम कहा जा रहा है) दिशाओं-विदिशाओं के क्रम से बाहर के पदों में पूर्वानुसार क्रमशः ईश, पर्जन्य, जयन्त, इन्द्र, सूर्य, सत्यक, भृश और अन्तरिक्ष का स्थान बनाएँ। (दक्षिण में आग्नेय से) अग्नि, पूषाण, वितथ, गृहक्षत, यम, गन्धर्व, भृङ्ग और मृग का निवेश करें। (पश्चिम में नैर्ऋत्य से) पितृ, द्वारपाल, सुग्रीव, पुष्पदन्त, वरुण, असुर, शोष और रोग तथा (उत्तर में वायव्य से) वायु, नाग, मुख्य, भल्लाट, इन्दु, अर्गल, अदिति और दिति का न्यास करना चाहिए। इसी प्रकार मध्य में ईशानादि कोण से क्रमशः आप, आपवत्स, आर्यक, सवित्र, सावित्र, विवस्वान्, इन्द्र,

इन्द्रजित्, मित्रक, शिव, शिवजित्, भूभृता (पृथ्वीधर) तथा मध्यवर्ती स्थान पर ब्रह्मा का स्थान होता है।[1]

ब्रह्मा मध्यपदेऽथ शर्वसहित: स्कन्दोऽर्यमा जृम्भक:
प्रागादौ [7]पिलिपिञ्छकश्च चरकीशादौ विदार्याह्वया।
भूय: पूतनिका च पापपदपूर्वा राक्षसी बाह्यत-
श्चैतेऽष्टा [8]वपदस्थिताश्च परितो देवग्रहास्तद्बहि: ॥ 26 ॥

इसी प्रकार उक्त वास्तुमण्डल के बाहर, पूर्व के क्रम से क्रमश: सर्वशकान्त, सर्वसहित अर्थात् स्कन्द, अर्यमा, जृम्भक, पिलिपिच्छक तथा विदिशाओं या कोण के देवताओं में ईशान कोण से क्रमश: चरकी, विदारी, पूतनिका और पापराक्षसी का न्यास करना चाहिए। ये आठ बाहर के पद होते हैं और बाह्य परित पर उक्त देवग्रह होते हैं।

विशेष- अन्यत्र आया है कि पूर्व में अर्यमा, दक्षिण में सूर्य, पश्चिम में मैत्र, उत्तर में पृथ्वीधर और मध्य में सब कोष्ठों में ब्रह्मा का निवास है। ईशान कोण में आप और आपवत्स, अग्निकोण में सावित्र और सविता, नैर्ऋत्य कोण में महेन्द्र एवं जय तथा वायुकोण में रुद्र व रुद्रदास की स्थिति होती है। बाहर ईशान कोण में चरकी, अग्निकोण में विदारिका, नैर्ऋत्यकोण में पूतनिका और वायुकोण में पापपद की कल्पनाकर पूजा करनी चाहिए। गृहपति को चाहिए कि इन सभी देवताओं को यथेष्ट नैवेद्यादि अर्पित करते हुए सर्वविध शान्त करें।[2]

अथ वास्तुपुरुषोत्पत्ति कथामाह-

आसीद् दैत्य: प्रदृप्तो निजभुजबलवीर्यादिनाक्रान्तकाष्ठा-
निष्ठो द्वेष्टा सुराणां स तु युधि पतितो विद्धगात्रो धरित्र्याम्।
व्याप्त: सर्वत्र पश्चाद् बहुतरपरिवृत्त्यैव पृथ्वीं विमथ्नन्
मर्त्या दु:स्था मुनीन्द्रास्त्वपि च मखभुजस्तावदेवं बभूवु: ॥ 27 ॥

----

1. तुलनीय- **मानववास्तुलक्षणे** (16-17), 'भृशखहव्याशांस्तथा पूषणम्' इति पाठ:। 'बाह्यावृतिस्था:' पाठ:।
2. तुलनीय- **मानववास्तुलक्षणे** (18), 'पिलिपिञ्जकश्च' पाठ:। 'देवग्रहाद्या: क्रमात्' पाठ:।
पराशर मते- तत्र बहिर्देवता: प्राक्पर्जन्यकरग्रहमहेन्द्ररविसत्यभृशान्तरिक्षपवना:। दक्षिणत: पूषा वितथ बृहत्क्षत् यमभृङ्ग गन्धर्व मृग पितरश्चेति ॥ पश्चिमतो दौवारिक सुग्रीव पुष्पदन्तासुर वारुण यक्षरोगशेषाश्चेति। उदङ् नागराज मुख्यभल्लाट सोमादिति कुबेर नाग हुतवहा: ॥ तन्मध्ये ब्रह्मा तत्पुरतोऽर्यमा दक्षिणतो विवस्वान्मित्र:। प्रत्युदक् पृथ्वीधर इति ब्राह्मपदानुषङ्गिनोऽष्टावन्ये ॥ आपापवत्सावैश्यान्यां सवित्रसवितारावे वाग्नेयां जयेन्द्रौ। नैर्ऋत्यां रुद्र वायूवायव्यामिति सर्वदेवता: पञ्चचत्वारिंशदिति ॥ तथान्यै: सहैतेषां पदानाम सादृश्यम्। (सविवृत्तिबृहत्संहितायाम् वास्तुविद्याध्याय)

(अब वास्तुपुरुष की उत्पत्ति के विषय में प्राचीन आख्यान कहा जा रहा है कि) पुराकाल में एक दैत्य ने अपने भुजबल, पराक्रम से निखिल विश्व को आक्रान्त कर दिया। वह देवताओं का शत्रु था। संग्राम में वह देवताओं के हाथों पराजित होकर भूमि पर गिरा और सर्वत्र व्याप्त हो गया। वह सर्वत्र विचरण करने लगा और पृथ्वी का मन्थन करने लगा तो मनुज, मुनि और यज्ञभुज कहे जाने वाले देवजन बहुत त्रस्त हुए।

विशेष- सूत्रधार मण्डन ने देवासुर संग्राम में एक बार शिव के पसीने की बूंदों से इस दैत्य की उत्पत्ति बताई है जो भूमि पर गिरते ही महाकार हो गया और त्रिलोक में व्याप्त हो गया। तब देवताओं ने उसको पकड़कर औंधे मुंह गिराया और वे देवता ही उस पर निवास करने लगे।[1]

'वास्तुविद्या' में आया है कि प्राचीनकाल में सभी लोकों को भयभीत करने वाला एक क्रूर, राक्षस उत्पन्न हुआ जो अपने भुजबल अति गर्वित था। उसे देवताओं ने पकड़कर पृथ्वीतल पर पटक दिया और सभी उस पर आसीत् हो गए। वही असुर प्रशान्तभाव से चतुरस्र रूप से पृथ्वी पर अवस्थित है और जिन देवताओं ने उसे लिटाया, वे उस पर स्थित हैं।[2]

---

1. **सूत्रधारमण्डने**- सङ्ग्रामेऽन्धकरुद्रयोश्च पतितः स्वेदो महेशात् क्षितौ तस्माद् भूतमभूच्च भीतिजननं द्यावा-पृथिव्योर्महत्। तद्देवैः रभसा विगृह्य निहितं भूमावधोवक्त्रकम् देवानां वसनाच्च वास्तुपुरुषस्तेनैव पूज्या बुधैः॥ (राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् 2, 1)
2. आसीत् पुरा सकललोकभयङ्करश्च क्रूरोऽसुरो भुजबलादतिगर्वितश्च। क्षोणितले विनिहितो विजितः प्रशान्तो देवैः स वास्तुपुरुषश्चतुरश्रसंस्थः॥ (वास्तुविद्या 4, 47)

एष वास्तुपुरुषकथावस्तुसङ्क्षेपः— पुरा किल देवासुरे युद्धे विष्णुसाह्येन पराजितानां स्वशिष्याणां विजयाय सलक्षणम् छागमभिचारविधानेन जुह्वतः शुक्रस्य स्वेदाम्भःकणिकायामग्नौ पतितायां तत एको महासुरोऽतिभीषणाकारः समुदभूत्। छागाननत्वाच्छागासुर इति प्रख्यातः स चासुरसम्राट स्वपितुः शुक्रस्याज्ञया देवान् भुजबलेन विद्राव्य तदाश्रयाणां लोकानामपि महत् कदनमुपजनयन्नवर्तत। अथ शुक्रतपःप्रभावात् क्षणे-क्षणे वर्धिष्णुनामुना वीर्योत्सिक्तेन महासुरेण बहु कदर्थिता देवाः कालपर्यायात् किञ्चिदपि प्रतिकर्तुमपारयन्तो दुष्टदमनदीक्षितं भगवन्तं त्रिपुरान्तकं शरणमापुः। ततः स्वभक्तेभ्यो द्रुह्यतेऽस्मै क्रूराय क्रुध्यन् कृपानिधिर्महादेवोऽस्य प्रशमनाय स्वतृतीयनेत्रात् सर्वसंहारक्षमं प्रलयानलमुत्थाप्य तमभि प्राहिणोत्। ज्वालामालया व्याप्तदिगन्तराले तस्मिंश्च कालानले त्रिलोकीं भ्रमन्तमपि तमभिद्रुत्य दग्धुमुपस्थिते स छागासुरो भीतभीतः प्रशान्तमनाः शरणकामनया तनीयसीं तनुमाश्रित महेश्वरस्योदरं प्रविवेश। तेन तुष्टो भगवानप्यस्मै अभयं प्रदाय शुक्ररूपेण स्वोदरात् तं निर्गन्तुमाज्ञापयत्। तथा निर्गतत्वात् तदाप्रभृति शुक्र इति प्रथितः स भगवन्तं दण्डवत् प्रणत एव सन् क्षोणीतले वस्तुं, स्वशरीरे ब्रह्मादिकानवस्थापयितुं च वरमयाचत। (तत्रैव)

तदनुसारेण भगवानपि- 'वस्तुं वरं त्वया। वृतोऽहं यत् ततो नाम्ना वास्तुकोऽसि तथास्तु ते। वसन्तु च त्वयि प्रीताः शतानन्दादिदेवताः॥ अद्यप्रभृति भूलोके दैवं वान्यच्च मानुषम्। कुर्वते वास्तु वासार्थं प्रथमं त्वां यजन्तु ते॥ पुष्पैश्च धूमदीपैश्च बलिभिश्च विलक्षणैः। त्वं च त्वद्देहसंस्थाश्च पूज्याः स्युर्देवताः क्रमात्॥ एवं मयैव विहितं कुर्वतां वास्तुपूजनम्। तदायतनवेश्मादौ वसतां सन्तु सम्पदः॥ अकृत्वा वास्तुयजनं प्रासादभवनादिकम्। कृतं

प्रकारान्तर से इसी प्रकार मत्स्यपुराण और तन्त्रसमुच्चयादि साम्प्रदायिक ग्रन्थों में भी वास्तु पुरुषोत्पत्ति का कथानक मिलता है। पूर्वकाल में देवासुर संग्राम में विष्णु के पक्ष के देवता तब पराजित हो गए जब कि शुक्राचार्य ने अपने शिष्यों की सहायता के लिए अपने पसीने की बूंदों से छागरूपेण महान् असुर को उत्पन्न किया। वह क्षण-क्षण विस्तार ही पाता जाता था। ऐसे में देवताओं ने त्रिपुरारी शङ्कर की शरण ली और उनसे इस असुर से मुक्ति की याचना की। शङ्कर ने अपने तृतीय नेत्र को खोला जिससे वह असुर भयाक्रान्त होकर भागने लगा। कई उपायों के बाद उसे भूमितलस्थ किया गया। इसी अवसर पर ब्रह्मादि देवताओं ने उसे मानव द्वारा निर्मित भवन, प्रासाद आदि के लिए कृत वास्तुयज्ञ के दौरान बलि आदि मिलने का वरदान दिया। वराहमिहिर, ईशान शिवगुरुदेव मिश्र ने भी इस आख्यान को दिया है।[3]

वास्तुपुरुषस्यप्रसारणक्षेत्रानि-

सर्वव्याप्तेऽप्यमुष्मिन्नतनु तनुघटाभ्यन्तरे व्योम यद्वत्
तद्वन्नित्यं विशेषान्नगरपुरमहीक्षेत्रखण्डाङ्गणादौ।
उत्ताने नैर्ऋताशाविनिहितचरणे यावदीशात्तशीर्षे
जाते तावन्निषेदुः स्थिरमिह विबुधास्तस्य देहे क्षणेन॥ 28॥

(वास्तुपुरुष के क्षेत्र के विषय में कहा जा रहा है) जिस तरह आकाश लघु व बृहद सभी प्रकार के घट में व्याप्त दिखाई देता है, उसी प्रकार वह पृथ्वी पर्यन्त नगर, पुर, भूमिक्षेत्र, खण्ड, आङ्गन आदि में व्याप्त हो गया। वह सर्वत्र व्याप्यमान् वास्तुपुरुष उत्तान होकर इस प्रकार प्रसारित हुआ कि उसके पद नैर्ऋत्य कोण में और शीर्ष ईशान कोण में है। वह समस्त दिशाओं में परिव्याप्त हो गया। ऐसे ही क्षण में समस्त देवता उसकी काया में सर्वत्र विद्यमान हो गए।

तत्राह वास्तुपुरुषस्यदेहव्याप्यदेवस्थितिकल्पनम्-

मूर्ध्नीशोऽस्य तु संस्थितो नयनयोः पर्जन्यकश्चादिति-
श्चापस्तद्वदने तथा गलतले तस्यापवत्साह्वयः॥

तदासुरं सर्वं भूयात् तत्र च यत् कृतम्॥' (ईशानशिवगुरुदेवपद्धति क्रियापाद, उत्तरार्ध 26, 117-123) **तथा च वराहाचार्यो-** किमपि किल भूतमभवद् रुन्धानं रोदसी शरीरेण। तदमरगणेन सहसा विगृह्याधोमुखं न्यस्तम्॥ यत्र च येन गृहीतं विबुधेनाधिष्ठितः स तत्रैव। तदमरमयं विधाता वास्तुनरं कल्पयामास॥' (बृहत्संहिता 52, 2-3)

वामश्रोत्रगतो जयन्त इतरत्रास्यादितिः संस्थिता
वामांसे स्थितवानमर्त्यपतिरप्यंसेऽर्गलो दक्षिणे ॥ 29 ॥

उक्त वास्तुपुरुष की मूर्धा में ईश को स्थित जानना चाहिए। आँखों के स्थान पर्जन्य और दिति हुए। आप, आपवत्स, जयन्त, अदिति और इन्द्र क्रमशः मुख, ग्रीवा, दाहिने कान, बाँयें कान और बाँयें कन्धे पर स्थित हुए जबकि अर्गला दाहिने कन्धे पर स्थित है।

अन्यान्यदेवस्थितिमाह-

अर्कादयो वामभुजस्थिताः स्युश्चन्द्रादयो दक्षिणहस्तगाश्च।
वामप्रकोष्ठे सविता च सावित्रोऽन्यत्र रुद्रः शिवजित् प्रकोष्ठे ॥ 30 ॥

इसी प्रकार सूर्यादि बायीं भुजा पर विद्यमान है जबकि चन्द्र दाहिनी भुजा, सवित्र व सावित्र बाँयें प्रकोष्ठ, रुद्र एवं शिवजित् दाहिने प्रकोष्ठ पर हुए।

महीधरार्यौ कुचयोर्विवस्वान् मित्रश्च कुक्षौ द्रुहिणोऽथ नाभौ।
इन्द्रोऽस्य मेढ्रेऽण्डयुगे तु तज्जित् पादद्वये[6] तस्य परे प्रविष्टाः ॥ 31 ॥

अन्य देवताओं में महीधर व आर्य स्तनप्रदेश पर, विवस्वान् और मित्र कुक्षिप्रदेश, ब्रह्म नाभि, इन्द्र मेढ्र, इन्द्रजित् अण्डकोश और अन्य देवता वास्तुपुरुष के दोनों ही पाँवों में प्रविष्ट हुए।

विशेष- वास्तुपुरुष के देह में विभिन्न देवताओं की यही स्थिति वास्तुविद्या और ग्रन्थान्तर में भी कही गई है।[1]

----

1. तस्येशः शिरसि स्थितश्च नयने सव्ये तथा दक्षिणे पर्जन्यश्च तथोदितिश्च वदने चापः पुनः संस्थितः। भूयस्तस्य च कन्धरे विनिहितः स्यादापवत्सस्तथा पश्चात् तस्य तथांसयोर्विनिहिते स्यातां जयन्तादिती ॥ भूयो महेन्द्रप्रमुखार्गलाद्याः संस्थापिताः स्युर्भुजयोः क्रमेण। सावित्ररुद्रौ सविता जयश्च भूयः प्रकोष्ठद्वयसंस्थिताः स्युः ॥ ब्रह्मा च नाभौ स्तनयोर्द्वये च संस्थापितावार्यमहीधरौ च। कुक्षौ विवस्वांश्च तथैव मित्रः पादद्वये स्युः पितरो निविष्टाः ॥ इन्द्रश्च मेढ्रे वृषणद्वये च पश्चात् तथैवन्द्रजयो निविष्टः। नाम्ना स्वकेन प्रणवादिनैतान् मन्त्रेण सम्यक् परिपूजयेच्च ॥ (वास्तुविद्या 4, 49-52)
अत्रोक्तानां पर्जन्यादीनां स्वरूपं ग्रन्थान्तरे एवं प्रदर्शितम् - मध्ये य एव देवानां स्थितो ब्रह्माब्जसम्भवः। स सहस्रनयनोऽचिन्त्यविभवो जगतां प्रभुः ॥ योऽयं वह्निरिहोक्तः स सर्वभूतहरो हरः। पर्जन्यनामा यश्चायं वृष्टिमानम्बुदाधिपः ॥ जयन्तस्तु द्विनामाख्यः कश्यपो भगवानृषिः। महेन्द्रस्तु सुराधीशो दनुजानां विमर्दनः ॥ आदित्यं पुनरिच्छन्ति विवस्वन्तमहस्करम्। सत्यो भूतहितो धर्मो भृशः कामोऽथ मन्मथः ॥ योऽन्तरिक्षः स्मृतो देवस्तत्रभः समुदाहृतम्। मारुतो वायुरुद्दिष्टः पूषा मातृगणः स्मृतः ॥ अधर्मो वितथाख्यः स्यात् कलेरप्रतिमः सुतः। गृहक्षतः पुनर्योऽत्र स चन्द्रतनयो बुधः ॥ प्रेताधिपो मतः श्रीमान् यमो वैवस्वतश्च सः। गन्धर्वो भगवान् देवो नारदः

वास्तुपुरुषस्यदेवनां तुष्टोपाय विना फलाफलमाह-

ता देवता वास्तुशरीरसंस्थाः सन्तर्पितास्त्विष्टफलप्रदाः स्युः।
ताश्चेदनिष्टा विपरीतदाः स्युस्तस्माद् विदध्यादिह वास्तुपूजाम्॥ 32॥

उक्त वास्तुपुरुष के देह में विद्यमान उक्त देवताओं को यदि पूजादि कृत्यों से सन्तुष्ट किया जाता है तो वे गृहकर्ता को इष्टफल प्रदान करते हैं और यदि सन्तर्प्य नहीं किया जाता है तो वे विपरीत फल के हेतु हो जाते हैं, इसलिए वास्तुपूजन निश्चित किया जाना चाहिए।

इति मनुष्यालय चन्द्रिकायां दिङ्निर्णयादिशुभवीथीपरिग्रह
वास्तुदेवतानिर्णयो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ 2॥

इस प्रकार मनुष्यालयचन्द्रिका में दिशा निर्णय आदि शुभ वीथी परिग्रह और वास्तुदेवता निर्णय नामक दूसरा अध्याय पूरा हुआ।

*****

परिकीर्तितः॥ भृङ्गराजमिहेच्छन्ति राक्षसं निर्ऋतेः सुतम्। यो मृगोऽस्मिन्ननन्तः स स्वयम्भूर्धर्म इत्यपि॥ पितरस्तु स्मृता देवाः पितृलोकनिवासिनः। स्मृतो दौवारिको नन्दी प्रमथानामधीश्वरः॥ आदिः प्रजापतिः स्रष्टा मनुः सुग्रीव ईरितः। पुष्पदन्तस्तु विनतातनयः स्यान्महाजवः॥ वरुणः पाथसां नाथो लोकपालः स कीर्तितः। असुरो राहुरर्केन्दुमर्दनः सिंहिकात्मजः॥ शोषस्तु भगवानेष सूर्यपुत्रः शनैश्चरः। पापयक्ष्मा क्षयः प्रोक्तो रोगस्तु कथितो ज्वरः॥ भुजङ्गमानामधिपः श्रीमान् नागस्तु वासुकिः। त्वष्टा स्यान्मुख्यसंज्ञोऽत्र विश्वकर्माभिधश्च सः॥ चन्द्रो भल्लाट इत्युक्तः कुबेरः सोमसंज्ञितः। चरको व्यवसायाख्यः श्रीरिहादितिसंज्ञिता॥ दितिरत्रोच्यते शर्वः शूलभृद् वृषभध्वजः। हिमवानाप इत्युक्त आपवत्स उमा स्मृता॥ आदित्यस्त्वर्यमा वेदमाता सावित्र उच्यते। देवी गङ्गाथ विद्वद्भिः सवितेति प्रकीर्तिता॥ मृत्युः शरीरहर्तासौ विवस्वानिति स स्मृतः। जयाभिधस्तु वज्रीति स्यादिन्द्रो बलवान् हरिः॥ मित्रो हलधरो माली रुद्रस्तूक्तो महेश्वरः। राजयक्ष्मा गुहः प्रोक्तः क्षितिध्रोऽनन्त उच्यते॥ चरकी च विदारी च पूतना पापराक्षसी। रक्षोयोनिभवा ह्येता देवतानुचरीर्विदुः॥ (समराङ्गणसूत्रधार 14, 13-30)

1. 'प्य' क. पाठः * इह स्वागतारथोद्धतयोरुपजातिः। 2. 'लतं वा' ग. पाठः 3. 'स्त्वोल्पत' क. पाठः 'स्त्वोच्चत' ख. पाठः 4. 'गौ', 5. 'खमु' (!) 6. 'वृति स्युः' ग. पाठः 7. 'विठिवञ्छकं च च' ग. पाठः 8. 'यः' ख. ग. पाठः।

अथ तृतीयोऽध्यायः

मानभेदयोन्यायव्ययादिनिर्णयः

अथ तृतीयाध्यायाद्ये मानसाधनमेव विवृणोति। तिलयवोदरमात्रादीनां-

शिम्बिः साष्ट$_8$तिलैर्यवोदर*मिति प्राहुस्तदष्टोमिन्मतं
मात्राख्याङ्गुलैरिनमितैः प्रोक्ता वितस्तिस्ततः।
तद्द्वन्द्वं करकिष्करत्निभुजदोर्मुष्ट्यादिसञ्ज्ञ तत-
स्त्वेकैकाङ्गुलवृद्धितोऽङ्गुलविशेषादप्यथो भिद्यते॥ 1॥

(इस अध्याय के आरम्भ में मान साधन का विवरण दिया जा रहा है) तिल की चौड़ाई का आठ गुना एक यवोदर, आठ यवोदर के बराबर मात्राङ्गुल, बारह अङ्गुल के बराबर एक वितस्ति, दो वितस्ति का एक कर है जिसके पर्याय किष्कु, अरत्नि, भुजा, दोर, मुष्टि आदि पर्याय हैं। कर या हाथ का एक-एक अङ्गुल मान से विस्तार करते जाने पर इसके मानादि विशेष हो जाते हैं, जैसा कि आगे कहा जा रहा है।

विशेष - वास्तुविद्या में आया है कि मान-इकाई के अन्तर्गत परमाणु, बालाग्र, लिक्षा, यूका, यव तथा अङ्गुलमान को क्रमशः एक से आठ-आठ गुणा बढ़ा हुआ जानना चाहिए अर्थात् सूक्ष्मतम इकाई परमाणु है। आठ परमाणु एक बालाग्र के बराबर होते हैं। आठ बालाग्र एक लिक्षा, आठ लिक्षा एक यूका, आठ यूका एक यव और आठ यव एक अङ्गुल के बराबर होते हैं। अङ्गुल एक मात्रा है और बारह अङ्गुल के बराबर एक वितस्ति का मान होता है। वितस्ति से दुगुना या चौबीस अङ्गुल का किष्कु होता है, जिसका एक हस्त या गज बनता है। यह प्रथम प्रकार का हस्त है।[1]

----

* 'शिम्बिस्थाष्टतिलैर्यवोदर' मिति पाठान्तरम्।

1. परमाणुभिरष्टाभी रथरेणुरिति स्मृतः। रथरेणुश्च वालाग्रं लिक्षायूकायवास्तथा॥ क्रमशोऽष्टगुणाः प्रोक्ता यवोऽष्टगुणितोऽङ्गुलिः। अङ्गुलं तु भवेन्मात्रं वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलः॥ तद् द्वयं हस्त उद्दिष्टः स च किष्कुरिति स्मृतः। (वास्तुविद्या 1, 5-7)

तत्राह प्राजापत्यादिहस्तमानम्-

मात्राख्याङ्गुलिपञ्चविंशति$_{25}$मितं मानं विमाने स्मृतं
प्राजापत्यकसञ्ज्ञितं सुरगृहे तेनापि मेयं क्वचित्।
एतैरेव वराङ्गुलैः परिमितं षड्विंशति$_{26}$प्रोन्मितै-
र्मानं क्वापि समस्तधाम्नि विहितं नाम्ना धनुर्मुष्टिकम्॥ 2॥

(अब प्राजापत्य, धनुर्मुष्टिक हस्तमान के विषय में कहा जा रहा है कि) कुल 25 मात्राङ्गुल का एक 'प्राजापत्य' नामक हस्तमान कहलाता है।[1] इस हस्तमान का प्रयोग प्राय: विमान और कदाचित् देवगृहों के लिए भी किया जाता है। इसी प्रकार 26 अङ्गुल के हस्तमान से सभी प्रकार के भवनों मापन किया जा सकता है। इस हस्त का नाम 'धनुर्मुष्टिक' है।

अन्य धनुग्रहधनुर्मुष्टिहस्तमानं तेषां यथाक्रमं विनियोगमाह-

सम्प्रोक्ताङ्गुलि सप्तविंशति$_{27}$मितं मानं यदुक्तं बुधै-
र्नाम्ना तत्तु धनुर्ग्रहं[1] यदमुना ग्रामादिकं मीयते।
रथ्याद्यो(ध्वो!)पवनादिसम्मितिविधौ वापीतटाकादिके
चेष्टं तत्रं धनुर्ग्रहं[2] त्वथ धनुर्मुष्टिश्च तत्रेष्यते॥ 3॥

अब अन्य हस्तमान कहते हैं कि 27 मात्राङ्गुल हस्तमान को ज्ञानियों ने 'धनुर्ग्रह' बताया है। इस हस्तमान से ग्रामादि निवेश करते समय मापन किया जाता है। इसी प्रकार मार्ग-रथ्या, उपवन और वापी, जलाश्रयादि को मापने के लिए भी इस धनुर्ग्रह या 'धनुर्मुष्टि' का प्रयोग किया जाता है।[2]

समराङ्गणसूत्रधारे- अष्टाभिः सप्तभिः षड्भिरङ्गुलानि यवोदरैः। ज्येष्ठमध्यकनिष्ठानि तच्चतुर्विंशतिः करः॥ सोऽष्टाभिः पर्वभिर्युक्तः करः कार्यो विजानता। करस्यार्धं चतुष्पर्व शेषं स्याद् भक्तमङ्गुलैः॥ तत्राग्रे पर्वरेखाः स्युस्तिस्रः पुष्पकभूषिताः। शेषास्वङ्गुलिरेखासु पुष्पाणि विदधीत न॥ अत्रार्धे मध्यतः कार्यं द्वेधा पञ्चममङ्गुलम्। मध्यं त्रिधाष्टमं कार्यं चतुर्धा द्वादशं ततः॥ हस्तः स्वाङ्गुलमानेन विधेयाङ्गुल इष्यते। तत् सार्धं द्विगुणं वापि बाहल्यं तु तदर्धतः॥ कथितः करभेदोऽयमङ्गुलानां विभेदतः। तस्य निर्माणदारूणि देवताश्च प्रचक्ष्महे॥ खदिराञ्जनवंशादिश्लक्ष्णरूपं मनोरमम्। सारवच्च भवेदिष्टं दारु हस्तप्रकल्पने॥ ग्रन्थिलं लघु निर्दग्धं जीर्णं विस्फुटितं तथा। अदृढं कोटराक्रान्तं दारु हस्ताय नेष्यते॥ त्रिविधस्याप्यथैतस्य पर्वरेखासु देवताः। मध्यादारभ्य विज्ञेयाः क्रमेण नव वच्मि ताः॥ ब्रह्मा वह्निर्यमो विश्वकर्मा नाथश्च पाथसाम्। वायुर्धनाधिपो रुद्रो विष्णुश्चाग्रे जगत्पतिः॥ वास्तुद्रव्यविभागेषु यानेषु च विशेषतः। प्रारभेत यतो मानं कल्पयेद् देवतास्ततः॥ (9, 5-15)

1. **तथा च-** पञ्चविंशति मात्रस्तु प्रजापत्य इति स्मृत॥ (वास्तुविद्या 1, 7)
कौटल्यस्तु - 'चतुरङ्गुलो धनुर्ग्रहः, अष्टाङ्गुला धनुर्मुष्टिः' इत्याह।
2. षड्विंशतिर्धनुर्मुष्टिः सप्तविंशद्धनुर्ग्रहः। अष्टाविंशङ्गुलः प्राच्यो वैदेहो नवविंशतिः॥ वैपुल्यस्त्रिंशदङ्गुल्यस्त्वेकत्रिंशत्

अन्यदप्याह-

अष्टाविंशति$_{28}$संमिताङ्गुलिमितं प्राच्याख्यमानं भवेद्
वैदेहं नवविंशति$_{29}$प्रतिमितैर्मात्राङ्गुलैः सम्मितम्।
स्यात् त्रिंश$_{30}$त्प्रवराङ्गुलीपरिमितं वैपुल्यमेकाङ्गुली$_{31}$-
युक्तं तत्तु भवेत् प्रकीर्णमिति दोर्मानप्रभेदोऽष्टधा$_{8}$ ॥ 4 ॥

अन्य हस्तमानों में 28 अङ्गुल का हस्तमान 'प्राच्य' नाम से प्रसिद्ध है तथा 29 अङ्गुल का हस्तमान 'वैदेह' कहलाता है। इसी प्रकार 30 अङ्गुल का हस्तमान 'वैपुल्य' कहलाता है और इसमें एक अङ्गुल जोड़ा जाए तो (31 अङ्गुल) उक्त हस्तमान 'प्रकीर्ण' कहा जाता है। हस्तमान इस तरह आठ प्रकार का होता है।

अथ वर्णानुसारेहस्तमानप्रयोजनमाह-

भूसुरकार्ये निलये धनुर्ग्रहं[3] च प्रकीर्णं च।
वैपुल्यधनुर्मुष्टी भूपानां मानसाधने योज्ये॥ 5 ॥

(अब कौनसा हस्तमान किसे प्रयोग करना चाहिए, इस विषय में कहा जा रहा है) ब्राह्मण के गृह निर्माण कार्यार्थ धनुर्ग्रह और प्रकीर्ण हस्तमान का प्रयोग करना चाहिए और क्षत्रियों के लिए वैपुल्य और धनुर्मुष्टि हस्तमान को आधार मानकर कार्य योजना करनी चाहिए।

वैश्यादीनां हस्तमानमाह-

प्राजापत्यं च वैदेहं वैश्यानां सम्मतं भवेत्।
किष्कुः प्राच्यं च शूद्राणां किष्कुः सर्वत्र संमतः ॥ 6 ॥

प्राजापत्य और वैदेह हस्तमान वैश्यों के लिए सम्मत हैं जबकि किष्कु और प्राच्य हस्तमान शूद्रों के लिए ग्राह्य है तथापि किष्कु सबके लिए और सर्वत्र प्रयोजनीय माना गया है।

पुनरपि हस्तमानस्य निर्देशमाह-

स्वस्वोक्तमानादुपरि प्रदिष्टं सर्वं न चेष्टं क्षितिपादिकानाम्।
अधस्स्थमानं सकलं क्रमेण वैश्यक्षितीशद्विजवर्णयोग्यम्॥ 7 ॥

प्रकीर्णकः। याने च शयने किष्कुः प्राजापत्यो विमानके॥ वास्तूनां च धनुर्मुष्टिर्ग्रामादीनां धनुर्ग्रह। सर्वेषामपि वास्तूनां किष्कुरेवाथवा मतः॥ (वास्तुविद्या 1, 8-10)

वर्णानुसार अपने-अपने निर्दिष्ट मान से ऊपर वाले हस्तमान क्षत्रियादि के लिए अभीष्ट नहीं जानने चाहिए हैं। नीचे वाले हस्तमान वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण क्रमेणतः प्रयोग में ला सकते हैं अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र वर्ण के लिए जो हस्तमान निर्धारित किए गए हैं, उससे उच्च के वर्ण के हस्तमान का प्रयोग नहीं करें और वैश्य, क्षत्रिय एवं ब्राह्मण के लिए उससे निम्न वर्ण के लिए निर्धारित हस्तमान का प्रयोग कर सकते हैं। इस प्रकार हस्तमान वर्णानुसार निर्धारित किए गए हैं।

तत्राह सुरालयार्थाभीष्टमानम्-

सुरालये समस्तान्यप्यभीष्टानि यथोप्सितम्।
मानानि श्रेष्ठमध्याधमाङ्गुलोत्थानि च क्वचित्॥ 8॥

देवालय के निर्माण में अपनी इच्छा के अनुसार हस्तमान का प्रयोग कर सकते हैं अर्थात् सभी हस्तमान शुभ हैं। इस कार्य के लिए कभी-कभी श्रेष्ठ, मध्यम तथा अधम अङ्गुल मान का उपयोग भी किया जा सकता है (जैसा कि आगे स्पष्ट किया जा रहा जा है)।

यवोदरानुसाराङ्गुलमानस्य त्रिविधभेदमाह-

यवोदैरष्टा$_8$भिरुन्मितं यन्मात्राङ्गुलं तत् कथितं वरिष्ठम्।
क्रमेण सप्तांश$_7$यवोदैर्यत् तन्मध्यमं चाधमसञ्ज्ञितं च॥ 9॥

(अब यव की चौड़ाई के अनुसार तीन मात्राङ्गुल कहे जा रहे हैं) आठ यवोदर की चौड़ाई का मात्राङ्गुल वरिष्ठ या श्रेष्ठ माना गया है। इसी प्रकार सात मात्राङ्गुल मध्यम और छह मात्राङ्गुल की चौड़ाई को अधम माना गया है।[1]

अथ शाल्यप्रमाणानुसारेण त्रिविधाङ्गुलमानम्-

षाष्टिकशाल्युदैररप्यष्टा$_8$द्य$_7$ङ्गै$_6$र्वराङ्गुलाद्यं वा।
तच्छाल्यायतजलधि$_4$ सार्धत्रितयं त्रि$_3$संमितैर्वापि ॥ 10॥

साठी (एक प्रकार का चावल) की चौड़ाई का आठ, सात और छह गुना विस्तार का मान क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम और अधम अङ्गुल कोटि के अन्तर्गत माना गया है। इसी प्रकार शाल्योदर की लम्बाई के मान से चार, साढ़े तीन और तीन गुना मान क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम अङ्गुल माना गया है।

---

1. **मानववास्तुलक्षणे-** यवोदैरष्टसङ्ख्यैरङ्गुलं तैस्त्रिभिः पुनः। मुष्टिस्तद्द्वितयं तालं पदं स्यादङ्गुलाष्टकम्॥ (22)

तत्राह नवधाप्रकारेण द्विसप्ततिहस्तमानप्रकारा:

नवधे$_{9}$त्युदिताङ्गुलिप्रभेदा नवधा$_{9}$ तत्र करा: स्युरुत्तमाद्या:।
अथ तेऽङ्गुलिवृद्धितोऽष्टधोक्तै:$_{8}$ करभेदै: सहिता द्विसप्तति:$_{72}$ स्यु: ॥ 11 ॥

(शाल्योदर के मानानुसार ही) नौ तरह के अङ्गुल मानानुसार नौ तरह के ही उत्तम, मध्यम और अधम हस्तमान होते हैं। (पूर्व में जो) आठ प्रकार के हस्तमान कहे गए हैं, उनको मिलाकर एक-एक अङ्गुल की वृद्धि करते जाने पर हस्तमान कोटियों की संख्या कुल 72 हो जाती है।

अन्यदप्याह-

आदौ चतुर्विंशति$_{24}$संमितैर्यो मात्राङ्गुलैरुक्तकर: स एव।
सर्वत्र पूज्यो मतभेदतोऽन्ये सर्वेऽपि च क्वापि यथार्हमिष्टा: ॥ 12 ॥

(इस अध्याय के) प्रारम्भ में जो 24 मात्राङ्गुल का हस्तमान कहा गया है उसका प्रयोग सर्वत्र किया जा सकता है। अन्य मतभेदों के अनुरूप इष्ट अङ्गुल का प्रयोग वर्जित नहीं है।

तत्राहान्यमानप्रमाणं रज्जुदण्डयष्टिं-

हस्तेनैव गृहाद्यमुक्तमुदितं कुत्रापि मात्राङ्गुलै-
रत्यावश्यकतो यवैरपि परीणाहं च गत्यादि च।
मानुष्येषु तु बाह्यगेहगतिनिष्ठादौ चतुर्हस्तको$_{4}$
दण्डो यष्टिरिति स्मृतोऽष्ट$_{8}$गुणितो दण्डोऽत्र रज्जुर्भवेत्॥ 13 ॥

वास्तु में गृह आदि का प्रमाण प्राय: हस्तमान से ही कहा गया है। कभी-कभी मात्राङ्गुल भी प्रयोग में लाया जा सकता है। अति आवश्यक स्थिति हो तो परिधि और गमन को यव प्रमाण से लिया जा सकता है तथापि बाह्य आवास और मानवावास का गमन (लम्बाई आदि को) चार हाथ प्रमाण के दण्ड से परिलक्षित करें। इसे 'यष्टि' कहा जाता है[1] और इसका दुगुना प्रमाण अर्थात् आठ दण्ड के प्रमाण को 'रज्जु' भी कहा जाता है।

अथ तालयववितस्त्याङ्गुल तेषां प्रयोगमाह-

तालाद्यै: प्रतिमादिकं खलु यवैर्मेयं च भूषादिकं
वस्त्रप्रावरणांशुकादि परिमेयं स्याद् वितस्त्या तथा।

----

1. दण्डस्तु सुरधिष्ण्येषु मानुष्येषु चतुष्कर: ॥ (वास्तुविद्या 1, 11)

शस्त्राद्यं तदनामिकाङ्गुलियुगेनैवं च तद् व्यासतो मुष्ट्या याज्ञिकभाजनादि यजमानस्यान्यदङ्घ्र्यादिना(म्?)॥ 14 ॥

(अब ताल, यव, वितस्ति, अङ्गुलादि का प्रयोग कहा होता है, इस विषय में कहा जा रहा है) प्रतिमा आदि की ऊँचाई आदि को नापने में ताल प्रयोग होता है (जैसा कि सप्तताल, अष्टताल, उत्तमदशतालादि)। आभूषण आदि में यवमान प्रमाण होता है। वस्त्र, आवरण, साड़ी या कवच-बख्तर, अंशुक या आवसरिक पोशाक आदि का नाप लेने में वितस्ति का प्रयोग होता है। शस्त्र आदि अनामिका अङ्गुली के दोगुने अथवा उसके व्यास से नापे जाते हैं। यज्ञ पात्रादि को मुष्टि और अन्य यज्ञार्थ वस्तु को यजमान के चरणों के प्रमाण से नापा जाता है।

अथ विप्राद्याभवनबहुलतानुसारेण ग्रामस्यभेदाः

द्विजभवनादिबहुत्वाद् ग्रामाद्याः सम्भवन्ति बहुभेदाः।
उत्तममध्याधमतो मानविशेषैश्च सम्भवेदेषाम्॥ 15 ॥

बस्तियों में ब्राह्मण आदि के भवनों की बहुलता से ग्रामों के बहुत से भेद होते हैं। इसी के अन्तर्गत-उत्तम, मध्यम व अधम मान विशेष से भी ग्राम- भेद माने जाते हैं।

विशेष - यह मान्यता मयमतम् में विशेष रूप से आई है जहाँ ब्राह्मणों के घरों के आधार पर तीन उत्तम, तीन मध्यम और तीन ही अधम सहित तीन अधमाधम ग्रामों का विवरण हैं।[1]

गृहसंख्यानुसार स्पष्टार्थचक्र-

ग्राम कोटि	**उत्तम**	**मध्यम**	**अधम**	**अधमाधम**
उत्तम	12000	7000	4000	1000
मध्यम	10000	6000	3000	700
अधम	8000	5000	2000	500

---

1. **तथा च मय-** द्वादशसहस्त्रविप्रैर्यत्रिष्टितमुत्तमोत्तमं ग्रामम्। दशसाहस्त्रैर्मध्यममधमं स्यादष्टसाहस्त्रैः॥ सप्त सहस्त्रैर्विप्रैर्मध्यमोत्तममित्यभीष्टं स्यात्। षट्साहस्त्रैर्मध्यममधमं तु पञ्चसाहस्त्रैः॥ अधमोत्तमं तु चातुःसाहस्त्रैस्तु त्रिसाहस्त्रैः। अधमसमं द्विसहस्त्रैरधमाधममेव निर्दिष्टम्॥ साहस्त्रैर्द्विजसङ्घैर्नीचोत्तममाहुराचार्याः। सप्तशतैरधम मध्यममिह पञ्चशतैस्तु नीचाल्पम्॥ (मयमतम् 9, 25-26)

क्षेत्राकारानुसारेण उच्चमध्यमाधम ग्रामस्यनिर्धारणमाह-

योजनमितचतुरश्रं भूभागं ग्राममुत्तमं प्राहुः।
मध्यममर्धप्रमितं *प्रायशोऽधमं ग्रामम्॥ 16॥

ऐसा ग्राम जिसकी परिधि एक योजन और चतुरस्त्र भूभाग हो वह ग्राम उत्तम कोटि का कहा जाता है। इससे आधे मान वाला मध्यम कोटि का ग्राम कहलाता है जबकि मध्यम मान से भी जो ग्राम आधा हो वह ग्राम अधम कोटि के अन्तर्गत होता है (यह मान के अनुसार ग्राम का वर्गीकरण हैं)।

अथ नगर च पत्तनसञ्ज्ञामाह-

नगरस्य सहस्त्रादि द्विसहस्त्रान्तं च दण्डमानं स्यात्।
पत्तनसञ्ज्ञं तद्वत् पोतान्वितवारि(नि)धितटोपेतम्॥ 17॥

(अब नगर और पत्तन की संज्ञाएँ कही जा रही है) एक हजार दण्ड से लेकर दो हजार दण्ड तक के मान का नगर कहलाता है। उसी प्रकार नौकाओं, पोत अथवा जहाजों का जहाँ आना-जाना हो, ऐसा समुद्र के किनारे का नगर पत्तन कहलाता है।

विशेष - शिल्परत्नम् में श्रीकुमार ने सरितातटीय नगर, द्रोणमुख, गिरिमध्य, कोट्यमकिलम्, शिल्पगणादि नगर, निगम, सन्तावास, अध्ययन केन्द्र-मठ-विहारादि के नाम दिए हैं। इसी प्रकार समराङ्गणसूत्रधार में राजधानी-नगर, शाखानगर, कर्वट, न्यून कर्वट, निगम, न्यूननिगम तथा ग्राम एवं राजधान्योपनगर- पत्तन, वाणिज्यवणिक् बहुल नगरों में पुटभेद, गोकुलवास-गोष्ठ, पुलिन्दावास-पल्लि, स्वल्पल्लिका जैसे नगरादि परिगणित हुए हैं। कामिकागम में महानगर का नाम कुब्ज आया है।[1]

ब्रह्माण्डपुराण में खेट, पुर और ग्रामीण क्षेत्रों के साथ ही वहाँ पर निर्माणयोग्य दुर्गादि का विवरण आया है।[2]

पुर च नगरसञ्ज्ञामाह-

पुरमिति नरवरभवनप्रधानमाहुर्वणिग्जनादियुतम्।
नगरं राजवरालयसकलजनागारमण्डितं विदितम्॥ 18॥

वह पुर होता है जहाँ कि सामन्त-राजा, प्रधान सहित व्यापारियों-वाणिज्य

----

1. वास्तुसारमण्डनम् पृष्ठ 64, तुलनीय—शिल्परत्नम् अध्याय 5
2. खेटानां च पुरानां च ग्रामाणां चैव सर्वशः। त्रिविधानां च दुर्गाणां पार्वतोदकधन्विनाम्॥ (प्रथमखण्ड अनुषाङ्गिक पाद अ. 7)

कर्ताओं का निवास होता है। इसी प्रकार राजा के निवास-महल सहित अन्य समस्त जनों के बहुसंख्य आवासों से मण्डित होने वाली बस्ती को नगर कहा जाता है।

विशेष - मय का कथन है कि जिस स्थान पर केवल ब्राह्मण रहते हों, वह मङ्गल कहा जाता है, राजा और व्यापारियों से युक्त स्थान पुर और अन्य जनों से युक्त बस्ती युक्त ग्राम होती है जबकि जहाँ पर तपस्वी रहते हैं उसकी संज्ञा मठ होती है।[1]

अथैकभोगमाह-

एकविप्रवरागारतत्कुटुम्बसमन्वितम्।
एकभोगं भवेद् ग्रामं तद्भृत्यायतनावृतम्॥ 19 ॥

ऐसा ग्राम जो एक ही ब्राह्मण-परिवार और उसके परिवार के मकान और उसके कुटुम्बियों से युक्त तथा उसके नौकरों के भवनों से घिरा हुआ हो, एकभोग कहलाता है।

विशेष - मयमतम् में कहा गया है कि जिस ग्राम में एक कुटुम्ब परिवार हो, उसे कुटिक अथवा एकभोग कहा जाता है। वहाँ पर सुखालय बनवाना चाहिए।[2] यही मान्यता शब्दकल्पद्रुम में आई है और उसमें मनुष्यालयचन्द्रिका का यही श्लोक उद्धृत किया गया है।

अथ विप्रादिभेदान ग्रामस्यभेदमाह-

ग्रामाद्यखिलं द्विजभवनादिबहुत्वादनेकधा ज्ञेयम्।
मानविशेषैरुत्तममध्याधमसञ्ज्ञितं च सम्भवति॥ 20 ॥

ब्राह्मणादि के भवन आदि की बहुलता से ग्राम अनेक प्रकार के हो जाते हैं। वे ग्राम मान विशेष के कारण उत्तम, मध्यम व अधम संज्ञा से युक्त होते हैं।

विशेष - मय का कथन है कि छोटे ग्राम के दस भेद होते हैं। ब्राह्मणों की संख्या के आधार पर होने वाले ये भेद होते हैं। इनमें 108, 216, 324, 84, 64, 50, 32, 24 तथा 16 ब्राह्मणों का आवास होता है। अन्य स्थितियों में एक से लेकर दस तक की संख्या में भी उनका आवास हो सकता है- वे दान योग्य हैं।[3]

----

1. **मयाह**- द्विजकुलपरिपूर्णं वस्तु यन्मङ्गलाख्यं नृपवणिगभियुक्तं वस्तु यत्तत् पुरं स्यात्। तदितरजनवासं ग्राम-मित्युच्यतेऽस्मिन् मठमिति पठितं यत् तापसानां निवासम्॥ (मयमतम् 9, 40-41)
2. **तथा च मय**- एककुटुम्बिसमेतं कुटिकं स्यादेकभोगमिति कथितम्। तस्य सुखालयमिष्टं शेषाणां दण्डकादीनि॥ (मयमतम् 9, 31)
3. **मयाह**- साष्टशतं तु द्विगुणं त्रिगुणं वेदाधिकं तथाशीतिः। अष्टाष्टकपञ्चाशद् द्वात्रिंशच्च त्रिरष्टौ हि॥ द्वादशषोडश विप्रैर्दशभेदं क्षुद्रकं ग्रामम्। अन्यदशक्तानां चेद् दानं दाशभूसुरान्तमेकादि॥ (मयमतम् 9, 29-30)

अथ देवालयस्य सीमनिर्धारणानुसारेण दण्डलक्षणमाह-

उत्तरयुगबाह्यान्तो मन्दिरविस्तार एव देवगृहे।
श्रेष्ठो दण्डस्तद्वज्जगति प्रान्तावसानिको मध्यः ॥ 21 ॥

(अब देवालय की सीमा के निर्धारण के विषय में कहा जा रहा है।) देवालय में गर्भगृह की चौड़ाई, दो बाह्य उत्तर के मध्य की श्रेष्ठ दूरी दण्ड मानानुसार होती है। इसी भाँति जगती के बाह्य भाग की दूरी मध्यम दण्ड मान से मानी जाती है।

विशेष - वास्तुविद्या में आया है कि उत्तरेण या जगती या जन्म को मनुष्य के चार हस्त के प्रमाण या एक दण्ड के अनुसार जानना चाहिए।[1]

दण्डानुसारेण अन्यप्रमापमाह-

पादुकयुगलावधिको दण्डः प्रोक्तोऽधमः सुरागारे।
प्रासादाद् बहिरेतैर्मर्यादाः पञ्च तत्र कल्प्याः स्युः ॥ 22 ॥

उक्त क्रम में ही पादुक के बाह्य भाग के मध्य की दूरी अधम दण्डानुसार कही जाती है। देवालय के गर्भगृह के बाह्य भाग में पाँच मर्यादा या सीमाओं का निर्धारण दण्ड से ही किया जाता है।

विशेष - यहाँ जिन पाँच मर्यादाओं का निर्धारण किया गया है वे मन्दिर से बाहर की ओर की सीमाओं की द्योतक हैं और अन्यत्र इनको मण्डल कहा गया है। इनके नाम क्रमशः 1. अन्तर्मण्डल 2. अन्तःहार 3. मध्यहार, 4. बाह्यहार तथा 5. मुख्य मर्यादा हैं।

अथ योनिविचारमाह-

यानाङ्गादिषु केतुरेव विहितः सर्वत्र शस्तो ह्ययं
पर्यङ्कादिषु कुञ्जरो मृगपतिः पीठासनादौ हितः।
भाण्डे कूपतटाकपञ्जरविधौ योनिर्वृषो वा ध्वजो-
ऽथाश्वत्थादिसमस्तकुट्टिमविधौ केतुर्विधेयः सदा ॥ 23 ॥

(अब आय-योन्यादि के सन्दर्भ में, किस निर्माण के लिए कौनसी योनि कहाँ प्रयोजनीय है, कहा जा रहा है) वाहन-यानादि के अङ्गों के निर्माण में सर्वत्र ध्वज योनि का विधान प्रशस्त माना गया है। पलङ्ग या शय्या के निर्माण में गजयोनि देय है। पीठ,

---

1. उत्तरेण जगत्या वा जन्मना वा प्रकीर्तितः। दण्डस्तु सुरधिष्ण्येषु मानुष्येषु चतुष्करः ॥ (वास्तुविद्या 1, 11)

आसनादि के निमित्त सिंह योनि हितकारक है। पात्र, कूप, जलाश्रय, यन्त्रों को ले जाने के लिए बनने वाले पञ्जरों के लिए वृष या ध्वज योनि प्रयोजनीय है और अश्वत्थादि के आलवाल, थाले या कुट्टिम आदि के निर्माण में सदा ध्वज योनि ही देनी चाहिए।

विशेष - विश्वकर्मा ने योनि की अपेक्षा ध्वजादि को आय संज्ञा दी है। ज्ञानप्रकाश दीपार्णव, क्षीरार्णव और सूत्रधार मण्डन कृत आयतत्त्वम् आदि में आयों के प्रयोजन पक्ष पर विस्तृत विचार मिलता है। आठ आयों के नाम हैं- 1.ध्वज, 2.धूम्र, 3.सिंह, 4.श्वान, 5.वृष, 6.खर, 7.गज तथा 8.ध्वांक्ष। ये आय पूर्वादि प्रदक्षिणा क्रम से शुभ स्वीकारी गई हैं। इन आयों में एक-एक के अन्तराल की आय को सम्मुख कहा गया है। प्रासादादि में ध्वज, गज, वृष और सिंहाय विषम तथा भवन के लिए को चारों ही आयों को शुभ कहा गया है। खर, ध्वांक्ष, धूम्र और श्वान इन चार आयों को क्षत्रियों या राजगृह के लिए उपयुक्त मानना चाहिए। सिंहासन के निर्माण में सिंहाय शुभ है। ब्राह्मण के आवास के लिए ध्वजाय शुभ है। वैश्य के निवास के लिए वृष, शूद्र के लिए गजाय सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाली तथा शुभ फलप्रदायक होती है। यह भी विचारणीय है कि ध्वजाय का चतुर्दिश उपयोग किया जाए तो लाभ प्राप्ति होती है। धूम्राय संताप का कारण बनता है। सिंहाय हो तो विपुल धन की प्राप्ति तथा श्वानाय से सदा क्लेश होता है। यदि वृषाय को दिया जाए तो धन धान्य की प्राप्ति होती है। खराय से पत्नी की मृत्यु, गजाय से भद्र पुरुषों का दर्शन तथा ध्वांक्षाय से निश्चय ही मृत्यु या मरणतुल्य कष्ट मिलता है। प्रासाद, प्रतिमा, शिवलिङ्ग, जगती, पीठ, मण्डप, देवीकुण्ड, कलश, पताका, छत्र, चामर, बावड़ी, कूप, तड़ाग, कुण्डादि जलाशयों की प्रतिष्ठा और प्रारंभ के लिए ध्वजाय ही शुभ स्वीकारी गई है। आसन, देवी पीठ, वस्त्र, अलङ्काराभूषण, केयूर, मुकुट, घण्टादि के लिए ध्वजाय का ही उपयोग किया जाना चाहिए। सभी अग्नि कर्म के स्थान, ऐरण, होम करने की शाला, रसोई, अग्निकुण्ड और यज्ञ स्थलों के लिए धूम आय देना श्रेष्ठ है। म्लेच्छ समुदाय के गृहों के लिए श्वानाय लें। वेश्याओं और नट-बहुरूपियों के आवास और श्वानतुल्य कर्म से जीवन निर्वाह करने वालों के लिए भी श्वानाय शुभ है। सभी प्रकार के शस्त्रों के लिए, आयुधागार, राजा के सिंहासन, नगर या प्रासाद के सिंहद्वार के लिए सिंह आय श्रेयस्कर है। वाणिज्य कर्म करने वालों की वीथी, हाट, भोजनशाला, मण्डप, रङ्गशाला, अश्वशाला, रसालादि स्थानों के लिए वृषाय को स्वीकारना चाहिए। तत्, वितत् आदि वाद्य वादकों के गृह या नक्कारखाना, कलाल या कौण्डिन्य, धोबी के गृह और जिनकी आय गर्दभ वाहनाधारित हो, उनके लिए खर-गर्दभाय शुभ मानी गई है। गजशाला के लिए गजाय देनी चाहिए, सिंहाय को

प्रयत्नपूर्वक त्याग देना हितकर है। राज्यासन के लिए भी गजाय दें। इससे आनंद, रंजन की प्राप्ति होती है। राजगृह के अन्त:पुर या जनाना महल के सभी निर्माण क्षेत्र के लिए, वहाँ के लिए उपयोगी उपस्कारक व एतद् विषयक कर्म, क्रीडागृह के लिए गजाय देनी चाहिए। साधुगृहों, मठ, यंत्रशाला-नाली-गोलादि के स्थानों के लिए ध्वांक्षाय शुभ है। इसी प्रकार जैन स्थानक, चैत्यालय के लिए भी विचारणीय है। शिल्पकर्म से जीवन निर्वाह करने वाले शिल्पी, सोनी, लोहार, सुथार, चित्रकार, भरावादि के लिए भी ध्वांक्षाय शुभ है। आयों के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि वे अपने-अपने निर्धारित स्थान पर उपयोग किए जाने से ही सर्व प्रकारेण कल्याणकारी है, वहीं वह स्नेह, अनुराग, मैत्री तथा हितचिंतन सहित कामनाओं को पूर्ण करने वाली होती है। वृष आय की जगह गजाय दें, वृषाय और गजाय की जगह सिंहाय दें, ध्वजाय को किसी भी आय की जगह दे सकते हैं, परन्तु वृषाय किसी भी आय की जगह कभी नहीं देना चाहिए। ऐसा वास्तुशास्त्रियों का मत है। आयों के (मुख) स्वरूप के विषय में जानें कि ध्वजाय का रूप पुरुषाकार है, धूम्राय बिडालमुख, सिंहाय सिंहवत् तथा श्वानाय श्वानमुख है। वृषाय का रूप वृषवत्, खराय का गर्दभाकार, गजाय का गजरूप तथा ध्वांक्षाय का मुख काक जैसा होता है। आठ आयों के आठ ही रूप हैं। ये आय पूर्वादि आठों ही दिशाओं की स्वामी हैं और क्रम से आय बली होते हैं, सभी के मुख पूर्वानुसार हैं किंतु उनके गले मदोत्कट सिंह जैसे है, हाथ नर जैसे और पाँव पक्षियों जैसे माने जाते हैं।[1]

----

1. **सूत्रधारमण्डनौ**- ध्वजोधूम्रो तथा सिंहोः श्वानवृषभरोगजः। ध्वांक्षं चैव क्रमेणैव प्राच्यादिशि प्रदक्षिणाम्॥ अन्योनाभिमुखास्ते चः क्रमात्छन्दानुसारतः। ध्वजोगजोवृषोसिंह दृष्यते शुभ वेश्मसुः॥ अधोमानां खरध्वांक्ष धूम्र चैवस्तथैव च। कल्याणां कुरुते सिंह नृपाणां च विशेषतः॥ विप्रस्य ध्वजं दद्यात् वृषं वैश्यमुदाहृतं। शूद्रस्य गजमेवोक्तं सर्वकाम फलप्रदम्॥ ध्वजे चैवार्थ लाभश्च सन्तापो धूम्रमेव च। सिंहश्च विपुलां लक्ष्मी क्लेश श्वान सदा भवेत्॥ धन-धान्यं वृषश्चैव स्त्रीमरणं रासभेणस्तु। गजेभद्राणीपश्यन्ति ध्वांक्ष च मरणं ध्रुवम्॥ प्रासादे प्रतिमालिङ्गे जगतिपीठमण्डपात्। वेदी कुण्डेस्त्रुचेश्चैव पताकाछत्रचामरम्॥ वापी-कूप-तडागानां कुण्डानां च जलाश्रये। ध्वजोसर्वस्य संस्थाने ध्वजं तत्र निवेशयेत्॥ आसने देवपीठेषु वस्त्रालङ्कार भूषणे। केयूर-मुकुटा घण्टा ध्वजं तत्र निवेशयेत्॥ अग्निकर्मसु सर्वेषु होमशालामहानसे। धूम्रोऽग्निकुण्डसंस्थाने होमकर्मगृहेऽपि च॥ आयुधेषु समस्तेषु नृपाणान् भवनेषु च। नृपाणां तु ग्रहेद्वारे सिंह तत्र निवेशयेत् ॥ श्वाने म्लैच्छालये प्रोक्तं वैश्यागारे नटस्य च। वेश्म सर्वेषांऽपिगेहे श्वाने श्वानोपजीविनाम् ॥ वणिक्कर्मेषु सर्वेषु भोज्यपात्रेसु मण्डपात्। वृषस्तु रङ्गशालायां गोशाला गोकुलेषु च॥ तत्तवितत् वाजीत्रं विविधे तथा। कुलालरजकादीनां खरं गर्दभजीविनाम्॥ गजश्चगजशालाय सिंहे यत्नेन वर्जयेत्। राज्ञासने गजश्चैव आनन्दपानयोरणे॥ अन्त:पुरेषु सर्वेषु पिण्ड वेश्मादिकोद्भवः। अन्योपस्कारकर्मेषु मदनाङ्गारे गृहेषु च॥ मठेषु यन्त्र शालायां जिनशालादि सम्भवः। ध्वांक्ष चैव प्रदातव्यं शिल्प कर्मोपजीवनम्॥ स्वकेत्सकेषु स्वस्थाने सर्वकल्याणकारकम्। स्नेहानुगां च मैत्राद्या तत्रार्थे हितकामदाः॥ वृषस्थाने गजं दद्यात् सिंह वृषभ हस्तिनै। ध्वजं सर्वेषु दातव्यं वृषनान्यत्र दीयते॥ ध्वजेपुरुषरूपस्यात् धूम्रं मार्जार रूपकम्। सिंहे च सिंहरूपेण श्वाने श्वानं च रूपकम्॥ वृषे च वृषरूपकं च खरेगर्दभ रूपकम् । गजे

अथ योनिज्ञानार्थं प्रमापनविधिमाह-

अन्तर्योनिर्मानपात्रादिवापीकूपादीनामङ्गणे गर्भगेहे।
तुर्यश्रागारोत्तरव्यासमध्ये कुत्राप्युक्तोऽन्यत्र सर्वत्र बाह्ये॥ 24॥

(अब योनि ज्ञात करने के लिए मान के विषय में कहा गया है कि कौन-सा माप कहाँ प्रयोजनीय है।) योनि ज्ञात करने के लिए मान किसी पात्र, भाण्डादि, वापी, कूप, आङ्गन के प्रसङ्ग में उसके भीतर से माप लिया जाना चाहिए। चौकोर शाला या चतुरस्रशाला में कतिपय प्रसङ्ग से उत्तर से और अन्यान्य स्थितियों में बाहरी छोर से मान लिया जाना चाहिए।

अथ कीदृशी योनिरित्याकांक्षायां योन्यादिकमाह-

इष्टातानवितानमाननिचये त्रि$_{3}$घ्नेऽष्ट$_{8}$भिर्भाजिते
शेषो योनिरिह व्ययो मुनि$_{14}$युजाथायोऽष्ट$_{8}$निघ्नेऽरुणैः।
ऋक्षैर्ऋक्ष$_{27}$मवाप्तिरत्र तु वयो ज्ञेयं तिथिस्त्रिंशता$_{30}$
वारो भूमिधरै$_{7}$र्निधि$_{9}$प्रगुणिते धर्मा$_{10}$हृते वा व्ययः॥ 25॥

(अब योनि, व्यय, आय, नक्षत्र, वयस् तिथि और तिथि आनयन की विधियाँ दी जा रही हैं) इष्ट तान और वितान (लम्बाई-चौड़ाई) के मान का योग कर 3 से गुणा करें और 8 से भाग देने पर शेष जो संख्या आए वह 'योनि' होती है। जब इस संख्या को 14 से भाजित करते हैं तो शेषफल 'व्यय' होता है। यदि इसे 8 से गुणन कर 12 से विभाजित करें तो शेष 'आय', यदि इसे 8 से गुणा कर 27 का भाग दें तो 'नक्षत्र' और इसे ही 'वयस्', 8 से गुणन कर 30 से विभाजित करें तो जो शेष होगा वह 'तिथि', 7 से विभाजित करें तो शेष 'वार' और 9 से गुणाकर 10 से विभाजित करें तो शेष 'व्यय' होगा, ऐसा जानना चाहिए।[1]

च गजरूपाणि ध्वांक्षे च काकरूपकम्॥ सर्वेषुसिंहग्रीवायां प्रबलाश्वमदोत्कटा। महागणेश्वरा प्रोक्ताः दिशाष्टौ च क्षेत्रपाधीपा॥ 26॥ सर्वं कुर्क्कटरूपेण पुरुषाकारेण मुद्गला। हस्ताभ्यां तदरूपाद्या पादाभ्यविहगाकृति॥ (आयतत्त्वम् 11-27 तुलनीय- ज्ञानप्रकाशदीपार्णव 1, 13-37)

1. एषां श्लोकाः तन्त्रसमुच्चयाम्। (2, 3) तथा च व्याख्ये- इष्टातानेति। इष्टातानवितानमाननिचये इष्टस्य प्रासादादेरातानवितानयोर्दैर्घ्यविस्तारयोर्माननिचये प्रमाणसमूहे। त्रिघ्ने त्रिभिर्गुणिते। अष्टभिर्भाजिते हृते सति। यः शेषः स योनिरित्युच्यते। इहेत्यनेन इष्टातानवितानमाननिचये त्रिघ्ने इत्यनुवादः क्रियते। मुनियुजाचतुर्दशभिर्भाजिते सति शेषो व्यय इत्युच्यते। अथेत्यारम्भभेदे। इष्टातानवितानमाननिचये अष्टनिघ्नेऽष्टभिर्गुणिते। अरुणैर्द्वादशभिर्भाजिते शेष आय इत्युच्यते। इहेति अत्राप्याकृप्यते। इहाष्टनिघ्ने ऋक्षैः सप्तविंशत्याभाजिते शेष ऋक्षं नक्षत्रम्। अत्र त्विति तु शब्दो विशेषद्योतकः। अत्र ऋक्षैर्भाजिते। अवाप्तिः आवृत्तिः फलमिति यावत्। तद् वयो ज्ञेयम्।

विशेष - मत यह है कि योनि की अष्टधा का कारण आठ दिशाएँ हैं। ध्वज पूर्व, धूम्र दक्षिण-पूर्व, सिंह दक्षिण। इस प्रकार अन्य योनियों की भी परिगणना की जा सकती है। भवन, विमान अथवा प्रासाद की नाम को आठ से भाग देकर जो शेष होता है, वह उसकी दिशा का सङ्केत करता है। यदि शेष एक है तो वह पहली अर्थात् ध्वज योनि का सङ्केत करती है जो पूर्व की आधायिका है। यदि शेष दो है तो भवन का दिक् सामुख्य दक्षिण-पूर्व निष्पन्न होगा, क्योंकि दो का सङ्केत योनि धूम से होगा। आगे के श्लोकों में इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण दिया गया है।

योनि आदि निकालने के ये सूत्र निम्नानुसार हैं-

सूत्र	**शेषाङ्क की संज्ञा**
(परिधि × 3) ÷ 8	= योनि
(परिधि × 3) ÷ 14	= व्यय
(परिधि × 9) ÷ 10	= व्यय
(परिधि × 8) ÷ 12	= आय
(परिधि × 8) ÷ 27	= नक्षत्र या ऋर्क्ष
(परिधि × 8) ÷ 27	= वयस् (आयु)
(परिधि × 8) ÷ 30	= तिथि
(परिधि × 8) ÷ 7	= वार।

मयादि ने भी आयादि ज्ञात करने के सूत्र दिए हैं। इनके विपरीत होने पर हानि की आशंका रहती है।[1] मानसार, सकलाधिकार में भी ये विधियाँ आई हैं।

इहाष्टनिघ्ने त्रिंशता भाजिते शेषस्तिथिरित्युच्यते। इहैव भूमिधरैः सप्तभिर्भाजिते शेषो वारः। व्ययस्य पक्षान्तरमाह- निधीति। इष्टातानवितानमाननिचये निधिप्रगुणिते नवभिर्गुणिते धर्माहृते दशभिर्हृते शेषो वा व्ययः।

तथाहुः- विस्तारायामराशौ वसुगुणित इनैर्भाजिते शेष आयो रामघ्ने मन्ववाप्ते व्यय इह वसुभिर्भक्तशेषस्तु योनिः। अष्टाभिर्वर्धितेऽस्मिस्त्रिनवहृतफलं तद्वयः शेष ऋक्षं पर्यन्ते त्रिंशदाप्ते तिथिर्ऋषिभिर्भाजिते वार आदित्यपूर्वः॥

तुलनीय- **मानववास्तुलक्षणे** (26)

1. **तथा च मय**- आयादिसंपदर्थं वृद्धि हानिं च यष्टिभिः कुर्यात्॥ आयव्ययर्क्षयोन्यायुभिरथ तिथिभिश्च वारैश्च। यजमानवस्तुनामजन्मर्क्षेणाविरोधिकं यत्तु॥ तन्मानेन समेतं गृह्णीयात् सर्वसम्पत्त्यै। व्यासायामसमूहे वसुनिधिगुणिते दिनेशधर्महृते॥ आयव्ययमवशिष्टं रामघ्नेऽष्टापहृच्छेषम्। ध्वजधूमसिंहश्वावृषखरगजकाकाश्च योनिगणाः॥ अष्टौ योनय उदिता ध्वजहरिवृषहस्तिनः शुभदाः। पुनरपि वसुभिर्गुणिते त्रिनव(?)हान्या फलं वयः शिष्टम्॥ नक्षत्रं परिणाहे त्रिंशद्व्यासे तिथिर्यमीशहृते। वारं सूर्यमुखं स्याद् बुद्धैवं सर्ववस्तु करणीयम्॥ आयाधिकमथ सुखदं व्ययमधिकं सर्वनाशं स्यात्। विपरीते तु विपत्त्यै तस्मात् सम्यक् परीक्ष्य कर्तव्यम्॥ (मयमतम् 9, 18-24)

अथ योनीनां नामानि कथयति च शुभाशुभमविचारमाह-

ध्वजधूमसिंहकुक्कुरवृषखरगजवायसाः क्रमेण स्युः।
प्रागादियोनयोऽष्टौ तेष्वयुजः सम्पदे युजो विपदे ॥ 26 ॥

(अब योनि की दिशा और उनके शुभाशुभ पर विचार किया जा रहा है) 1. ध्वज या केतु 2. धूम या धूम्र 3. सिंह 4. श्वान 5. वृष 6. खर 7. कुञ्जर या गज और 8. वायस या ध्वांक्ष आदि क्रम से पूर्वादि दिशाओं की योनियाँ हैं। इनमें विषम योनि सम्पत्ति की कारक हैं जबकि सम योनि विपत्तिकारक मानी जाती है।

विशेष - रचनाकार पूर्व श्लोकानुसार इस श्लोक के लिए तन्त्रसमुच्चय का ऋणि है क्योंकि यह द्वितीय पटल में आया है।[1]

अथ केतुयोनिविचारमाह-

केतुयोनिरभिवाञ्छितार्थदः सात्त्विकोऽमरगुरुर्द्विजो भवेत्।
पूर्वदिक्ष्वभिहितोऽपि सर्वदा सर्वदिक्ष्वविहितो विशेषतः ॥ 27 ॥

केतु अथवा ध्वज योनि अभीष्ट फल प्रदान करने वाली सात्विक, बृहस्पति ग्रही, ब्राह्मण वर्ण की होती है। इसकी पूर्व दिशा कही गई है तथापि यह वास्तुकार्य में सभी दिशाओं में शुभ और विशेषतः विहित मानी गई है।

तत्रैव सिंहगजवृषयोनिविचारमाह-

सिंहो दक्षिणदिक्स्थितः क्षितिसुतो लक्ष्मीप्रदस्तामसो
भूपोऽथो वणिगुत्तरे शुभकरो दन्ती बुधो राजसः।
शूद्रः पश्चिमदिक्स्थितोऽर्कतनयो धान्यप्रदस्तामसः
सम्प्रोक्तोऽथ विदिक्षु ये निगदितास्तत्रापि ते निन्दिताः ॥ 28 ॥

(अब सिंहादि योनियों के विषय में कहा जा रहा है) सिंह योनि की स्थिति दक्षिण दिशा में कही गई है। यह क्षितिसुत अथवा मङ्गल ग्रही और लक्ष्मी प्रदाता है।

----

1. एषां श्लोकाः तन्त्रसमुच्चयाम्। (2, 4) तथा च व्याख्ये- ध्वजेति। प्रागादिक्रमेण ध्वजधूमसिंहकुक्कुरवृषखर-गजवायसाः ध्वजधूमेत्यादिसञ्ज्ञाः। तेषु ध्वजादिषु अयुजः दिग्भवाः सम्पदेऽभ्युदयाय, युजः कोणभवा नाशाय। तथा पाशुपते- तत्रैकाद्यष्टपर्यन्ता ध्वजधूमादयः क्रमात्। ध्वजो धूमश्च सिंहश्च शुनको वृषभस्तथा॥ खरश्चैव गजश्चैव वायसो वास्तुयोनयः। आदिप्रभतिचत्वार एकैकान्तरिताः शुभा॥ द्वितीयाद्यास्तथैवान्ये चत्वारस्त्वशुभाः स्मृताः। इति।

तथा च **मानववास्तुलक्षणे**- प्रागाद्या ध्वजधूमसिंहसरमागोगर्दभेभद्विजान् योनीनोजसमान् शुभाशुभकृतोऽथा बाल्यकौमारके। भूयो यौवनवार्धके च निधनं चाहुर्वयांस्यन्तिमं नेष्टं ज्ञेयमिहर्क्षवारतियोगाद्यं बुधैर्लोकृतः॥ (27)

इसका गुण तामस कहा गया है और यह क्षत्रिय वर्ण है। इसी प्रकार गज संज्ञक योनि उत्तर दिशीय, शुभकारी, बुध ग्रही और राजसी गुणों से युक्त है। वृष योनि की दिशा पश्चिम, ग्रह शनि, गुण तामस है और यह धान्य प्रदाता है। (इनको दिशानुसार ही दिया जाना चाहिए क्योंकि) विदिशाओं की योनि निन्दित है। इनको भी दिशा की अपेक्षा विदिशा में नहीं देना चाहिए।

विशेष - काश्यपशिल्पम् में इनके ग्रहादि पृथक कहे गए हैं। ध्वज, सिंह, वृष, गज का ग्रह क्रमशः गुरु, शुक्र, बुध और चन्द्रमा कहा गया है।[1]

तथा च धूमश्वानखरयोनिविचारमाह-

उद्वेगः स्याद् धूमे शुनि कलहश्चपलता खरे भवति।
ध्वाङ्क्षे कुलहानिः स्यात् सर्वविदिग्योनयस्ततो निन्द्याः॥ 29॥

(इसी प्रकार धूम, श्वानादि योनियों के विषय में कहा जा रहा है, जो कि विदिशाओं की योनियाँ है। यदि वे दिशाओं में दी जाए तो) धूम संज्ञक योनि उद्वेगकारी है। श्वान योनि में कलह, खर योनि में चपलता और ध्वांक्ष योनि में कुल की हानि होती है। इस प्रकार विदिशाओं की योनियाँ निन्दित कही गई हैं।

पुनश्च दिशानुसारेण शुभयोनिमाह-

प्राच्यां केतुर्विधेयः स तु भवति विधानेषु सर्वत्र नित्यं
शालायां दक्षिणस्यां मृगपतिरुदितः केतुयोनिश्च योज्यः।
मातङ्ग केतुसिंहवपि च धनपतौ पश्चिमे स्याद् वृषोऽन्ये
केतुःसिंहो गजश्चापि च निजनिजकोणालयेऽप्येवमेव॥ 30॥

(पुनः स्पष्ट किया जा रहा है कि) पूर्व दिशा में केतु या ध्वज योनि श्रेष्ठ है, जिसे सर्वत्र रखना चाहिए। यह सभी दिशाओं में श्रेयस्कर कही गई है। दक्षिण दिशा में सिंह शुभ है किन्तु केतु या ध्वज योनि भी रखी जा सकती है। उत्तर दिशा में गज शुभ हैं किन्तु पूर्वोक्त द्वय-केतु और सिंह भी अशुभ नहीं हैं। पश्चिम दिशा में वृष योनि शुभ मानी गई है तथापि केतु आदि त्रय- केतु, सिंह और गज को भी शुभ जानना चाहिए। इसी प्रकार धूम, श्वान, खर व वायस के निज-निज कोण के विषय में निर्णय करना चाहिए अर्थात् ये वहाँ पर देय हैं।

----

1. केतुः सिंहो वृषो हस्ती गुरुः शुक्रो बुधः शशी॥ (काश्यपशिल्पम् 25, 6)

अथ योनिमाहात्म्यमाह-

योनिः प्राणा एव धाम्नां यदस्माद् ग्राह्यस्तत्तद्योग्ययोनिप्रभेदः।
मृत्युर्वर्ज्यः सर्वगेहेष्ववश्यं सर्वव्यापत् प्राप्यतेऽस्मिन् गृहीते ॥ 31 ॥

(अब योनि का महत्व कहा जा रहा है) सभी भवनों, निर्मितियों में योनि वास्तव में प्राण कही गई है। इसलिए गृहादि के लिए योग्य योनि का ही चयन करना चाहिए। सभी घरों में मृत्युयोग सर्वथा वर्जित है। इसे ग्रहण करने से खतरा रहता है।

विशेष - यहाँ यह स्मरणीय है कि योनि और आय का सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ है और ये तथाकथित पाशव आय वास्तव में आठ वास्तु पुरुष है जो भवन के दिक् सामुख्य की साधना करते हैं। मृत्युयोग को वास्तुविद्याकार ने स्पष्ट किया है। विष्टि और मरणयोग के विषय में कहा गया है कि गृहकार्य में अशुभतिथियों में परिगणित तिथि विष्टि और मरणयोग पर विचार कर उनको सदा ही त्याग दिया जाना चाहिए।[1]

मरणयोग के विषय में यह भी कहा गया है कि गृह पर्यन्तमान को आठ से गुणाकर यदि उसमें सत्ताइस का भाग दिया जाए तो शेष एक से पाँच तक की संख्या के आधार पर उनका फल जाने। यदि पाँच शेष हो तो मरणयोग, चार हो तो वार्धकयोग, तीन हो तो यौवनयोग, दो हो तो कौमारयोग और एक शेष बचे तो बाल्ययोग जानकर तद्नुसार विचार करना चाहिए।[2]

अथायव्ययस्य विचारमाह-

आयाधिक्यं व्ययतः सम्पाद्यं सर्वथान्यथापत्तिः।
नक्षत्रादिशुभत्वं ज्योतिःशास्त्रादिभिः सुविज्ञेयम् ॥ 32 ॥

(गृह पिण्ड की गणित के अनुसार आय-व्यय पर विचार किया जा रहा है) व्यय से अधिक आय होने पर सम्पत्तिकारक होती है। अन्यथा, आय से अधिक व्यय

----

1. विष्टिर्मरणयोगो वा मा भून्मनुजधामसु॥ (वास्तुविद्या 8, 29)
2. **मरणयोगो वेति**। गृहपर्यन्तमाने अष्टभिर्हत्वा सप्तविंशत्या हृते हरणफलं पञ्च चेत् स मरणयोगो भवति। एवं तत् चत्वारि चेत् वार्धकयोगः। त्रीणि चेद् यौवन-योगः। द्वे चेत् कौमारयोगः। एकं चेद् बाल्ययोग इति विवेकः। इदमेवाभिप्रेत्य पूर्वमुक्तं— बाल्यादिमरणान्तं च फलेनैव विधीयते। इति। इह मरणवय एव मरणयोगशब्देन व्यपदिश्यते, नतु ज्योतिश्शास्त्रप्रसिद्धो नक्षत्रवारविशेषयोगः, 'मनुजधामसु' इत्यनेन मनुजधामगतस्यैवात्र स्पष्टभिहितत्वात्॥ (तत्रैव)

होने पर अनेक प्रकार की विपत्तियाँ मिलती हैं। नक्षत्र आदि की शुभता ज्योतिष शास्त्र से ज्ञात करनी चाहिए।[1]

अथ वयांसि कथयति-

बालत्वं कौमारं यौवनमथ वार्द्धकं च निधनं च।
पञ्च वयांस्येष्वन्त्यं नेष्टं शिष्टानि वास्तुनीष्टानि॥ 33॥

(अब पाँच प्रकार के वयों के विषय में कहा जा रहा है) 1. बालपन 2. कुमारावस्था 3. यौवनावस्था 5. वृद्धावस्था और 5. निधन- ये पाँच वय अथवा आयु कहलाती हैं। अन्तिम वय शुभ नहीं है जबकि शेष सभी वय इष्ट और शुभ कही जाती हैं।

विशेष - यह श्लोक भी तन्त्रसमुच्चय से लिया गया है।[1] पिण्ड ज्ञात कर उसको आठ से गुणा कर यदि 27 से विभाजित करें तो जो संख्या आती है, उसमें पाँच का भाग दें। इस क्रिया से यदि 1, 2, 3, 4 और 5 आते हैं तो क्रमशः बालत्व आदि वय अथवा आयु का आनयन होता है।[2]

वास्तुविद्या और उसकी टीका में कहा गया है कि विष्टि, मृत्युयोगादि में निवास करने के फलों को सम्यक् प्रकार से जानना चाहिए। मरणयोग में वास्तु स्थापना, खात, प्रतिष्ठादि से वह स्थान यमालय तुल्य हो जाता है। विष्टियोग में निवास से सर्वनाश होता है, अतः उसे त्याग दिया जाना चाहिए। इसी प्रकार बाल्य व वार्धकयोग तथा रिक्ता तिथि (चतुर्थी, नवमी एवं चतुर्दशी तिथियाँ) भी निन्दित होती है। इसलिए वास्तु, आवास-निवासादि के लिए शास्त्रकारों के योग्यायोग्य निर्देशों पर अवश्य ही विचार किया जाना चाहिए अर्थात् शुभयोग में ही वास्तु विषयक कर्मों का सम्पादन हो।[3]

---

1. एषां श्लोकाः तन्त्रसमुच्चयाम्। (2, 4) तथा च व्याख्ये- व्ययतः व्ययात्। आयाधिक्यम् आयस्याधिकत्वम्। सर्वथा सर्वप्रकारेण सम्पाद्यं ग्राह्यम्। अन्यथा चेदापत्तिः नाशः स्यात्। नक्षत्रादिशुभत्वं नक्षत्रतिथ्यादीनां शुभत्वम् ज्योतिःशास्त्रादिभिर्लोकत एव सुविज्ञेयम्।
तथा च **मयः**- आयाधिकमथ वसुदं व्ययाधिकं सर्वनाशः स्यात्। विपरीते तु विपत्त्यै तस्मात् सम्यक् परीक्ष्य कर्तव्यम्॥ (मयमतम् 9, 24)
2. एषां श्लोकाः तन्त्रसमुच्चयाम्। (2, 6) तथा च व्याख्ये- बालत्वमिति। अथ बालत्वं कौमारं यौवनं वार्धकं निधनं मरणं चेति पञ्च वयांसि। एषु वयस्सु। अन्त्यमरणमेव नेष्टम्। वास्तुनि शिष्टानीष्टान्येव।
3. मृतियोगगधामस्थो द्रुतं याति यमालयम्। विष्टिगः सर्वनाशाय तस्मात् तौ परिवर्जयेत्॥ बाल्यवार्धकयोगौ च रिक्ता चापि विनिन्दिताः। तथापि ते गृहीताः स्युर्योग्यायोग्यनिदर्शिभिः॥ (तत्रैव 30-31)
तत्र पक्षान्तरमाह **श्रीकुमारः** - बालत्वं कौमारं यौवनमथ वार्धकं च निधनं च। पञ्च वयांस्येष्वन्त्यं नेष्टं शिष्टानि वास्तुनीष्टानि। मध्यमे बाल्यवार्धक्ये मरणं त्वधमाधमम्। अनुत्तमे तु कौमारयौवने वेति केचन॥ (शिल्परत्नम् 15, 16-18)

अथ योन्यादीनां विशिष्टभेदमाह-

द्वेधा$_2$ योनिश्चतुर्धा$_4$ व्ययविधिरुदितश्च द्विधायो$_2$ वयश्चा-
प्यृक्षं विप्रादिवर्णास्तिथिरपि च तथा राशयो द्विप्रकाराः$_2$ ।
त्रेधा$_3$ वारो ध्रुवादिस्त्रिविध$_3$ इति विकल्पेन योन्यादयः स्युः
प्रोक्तेष्वेतेषु पूर्वोदितमखिलमतं कार्यमावश्यकेऽन्यत् ॥ 34 ॥

(अब योनि, व्यय, आय, वयस्, नक्षत्र, वर्ण, तिथि, राशि, वार, ध्रुवादि गृह आदि के एकाधिक प्रकारों के विषय में कहा जा रहा है) दो प्रकार से योनि, चार प्रकार से व्यय, दो प्रकार से आय और वय ज्ञात करने की विधियाँ कही गई हैं। इसी प्रकार नक्षत्र, विप्रादि वर्ण, तिथि और राशि भी दो-दो प्रकार से निकाली जा सकती है। तीन प्रकार से वार, तीन प्रकार से ध्रुवादि गृहानयन होता है। इस प्रकार योनि आदि के बहु विकल्प होने पर भी पूर्व में कहे हुए (श्लोक 25वें में) प्रकार सभी को आवश्यक कार्यों में मान्य है तथापि यदि आवश्यकता हो तो अन्य विधियों का भी यथेष्ट प्रयोग किया जा सकता है।

अथान्य प्रकारेण योन्याद्यानयन ग्राह्यविचारमाह-

सामान्यं परिणाहतः सुविहिता योन्यादयो दीर्घतो
विस्तारेण च पादमान चरणाधिष्ठानतुङ्गैरपि।
विस्ताराहतदैर्घ्यतोऽपि च पृथक् स्वस्वोक्तयोन्यादयो
जाताश्चेदतिशोभना गृहविधौ पक्षान्तरोक्तैरपि ॥ 35 ॥

वास्तु कार्य में सामान्य रूप से परिणाह या लम्बाई-चौड़ाई के अनुसार तथा ही योनि आदि को भली प्रकारेण निकाला जाता है तथापि गृहादि के पादमान, चरण, अधिष्ठान या आधार के लिए योन्यादि को किसी तरह ज्ञात कर लिया जाता है तथा उसकी लम्बाई और चौड़ाई को गुणा करके भी वे ज्ञात कर लिए जाते हैं तो वे अन्य पक्षादि भी अनुचित नहीं है, ये पक्षान्तर विधियाँ भी शोभित जाननी चाहिए अर्थात् गृहार्थ दूसरे पक्ष द्वारा निकाली गई योनि आदि भी शुभ ही जाननी चाहिए।

तत्रैव भिन्नमान निर्धारणमाह-

सर्वागारे प्रधानोत्तरपरिधिवशाद् दीर्घविस्तारतुङ्ग-
स्तम्भाधिष्ठानगर्भालयमितिविधयो द्वारबिम्बादयोऽपि।
आरूढाद्युत्तरं च द्वितलविधिसमस्ताङ्गभेदा विकल्पे-
नोक्तैरंशैश्च कार्या यदि निकटगता योनिभेदाश्च योज्याः ॥ 36 ॥

समस्त प्रकार के आगारों या स्थानों के प्रसङ्ग में लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई को स्तम्भ, अधिष्ठान, गर्भालय, द्वार, बिम्ब या प्रतिमा के मान, आरूढ़ोत्तर भित्ति और अन्य उत्तर से और दो तल वाले सारे ही अङ्गों का मान प्रधान उत्तर की परिधि से ही निर्धारित किए जाते हैं। यदि अन्य किसी विधि से ऐसा निर्धारण किया जाता है तो उनको योनि के अनुसार ही निकटस्थ कर विचार करना चाहिए।

अन्यदप्याह-

गेहे क्षेत्रफलं वितानिहतायामं विदुश्श्रेष्टदिग्
योनिर्यन्मितदीर्घविस्तृतिविधानादत्र पूर्णो भवेत्।
तावद्विस्तृतिदीर्घमानमभिकल्प्य प्रागथो नाहवत्
सर्वं कल्प्यतु व्ययादिकमिदं त्वभ्यन्तरव्यापि हि ॥ 37 ॥

गृह के लिए कुल पिण्ड या लम्बाई और चौड़ाई के गुणे से ज्ञात किए गए क्षेत्रफल से निर्धारित एवं उचित योनि प्राप्त की जा सकती है। परिधि के निमित्त जो कहा गया है, उसके अनुसार व्ययादि आनयन करें। यह पद्धति आन्तरिक, अन्तराल के विषय में जाननी चाहिए।

अथ व्यादिनामानयन विधिमाह-

पूर्वं त्रि$_3$घ्नचतुर्दशा$_{14}$प्तपरिधेः सामान्यमुक्तो व्ययो
नन्द$_9$घ्नेऽष्ट$_8$हते च पङ्क्ति$_{10}$विहृते शिष्टो व्ययो वा भवेत्।
सिद्धर्क्षे वसु$_8$भाजितेऽपि च चतुर्धेति$_4$ व्ययः सर्वथा-
स्याल्पत्वं परिकल्प्यमात्मजधनादीनां विनाशोऽन्यथा ॥ 38 ॥

पूर्व में जैसा कि कहा जा चुका है कि परिधि को यदि तीन से गुणाकर चौदह से विभाजित करें तो व्यय प्राप्त होता है। अब यदि इसे नौ से गुणाकर आठ या दस से विभाजित करें तो नक्षत्र ज्ञात किया जा सकता है। इसी प्रकार जो अङ्ग मिला हो, उसे यदि आठ से विभाजित करें तो लब्धफल व्यय होता है। इस प्रकार चार प्रकार से व्ययानयन हो सकता है। व्यय को सदैव आय से कम रखना चाहिए अन्यथा आत्मज और धन का विनाश ही होता है।[1]

---

1. इत्यमनन्तर 'दीर्घे तु विस्तारहतेषभक्ते यथेष्टयोनिः परिशिष्यतेत्र। तथा प्रकल्प्यै शितधीदीरुच्चैर्विचार्यपूर्व्वं गृहतारदीर्घौ' श्लोकाधिकः (के. नीलकण्ठाचार्य शास्त्रीणां सम्पादित पाठः)। (अर्थात्- बुद्धिमान लोगों को अपने भवन का चयन उसकी लम्बाई तथा चौड़ाई को पूर्व में ही ध्यान रखकर इस प्रकार चयनित करना चाहिए कि यदि उसकी लम्बाई तथा चौड़ाई का गुणाकर आठ से भाजित किया जाए तो वाञ्छित योनि लब्ध हो जाए)।

विशेष - इस विधि से चार प्रकार से व्यय को निम्नलिखित सूत्रों से निकाला जा सकता है-

(परिधि × 3) ÷ 14	=	व्यय
(परिधि × 9) ÷ 8	=	व्यय
(परिधि × 9) ÷ 10	=	व्यय
(परिधि × 8) ÷ 27 × 1/8	=	व्यय

अथायव्ययार्थान्य विधिमाह-

स्वत्र्यंशेन$_3$ युते$_2$ तथेक्षणहते नाहेऽष्ट$_8$भक्ते भवे-
दायो वा पुनर्ऋक्ष$_{27}$निघ्नपरिधौ दिग्द्वन्द्व$_{20}$भक्ते वयः।
[4]बालत्वादिविशेषमात्रमवगन्तव्यं फलैःशेषत-
स्तेषामेव गताब्दमानमिह तारुण्यं वयः शोभनम्॥ 39॥

अपनी किसी संख्या में उसके एक तिहाई अंश का गुणन करें और दो से गुणा कर आठ का भाग दें तो लब्धफलानुसार आय को जानना चाहिए। यदि परिणाह या क्षेत्रफल को 27 से गुणाकर 20 से भाजित करें तो जो लब्ध होगा, वह वय कहा जाएगा। इसे ही बालपन आदि वय या आयु जानना चाहिए। लब्धफल के अनुसार ही कितने वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, यह मान निकाला जा सकता है। इनमें यदि तारुण्य वय ज्ञात हो जाए तो उसे शुभकारक जानना चाहिए अर्थात् गृहादि की तरुणावस्था अच्छी रहती है।

अथ तिथ्यादिनामानयनविधिं-

नन्द$_9$घ्ने परिधौ च केवलपरीणाहेऽथवा त्रिंशता$_{30}$
भक्ते तत्र विकल्पपक्षयुगले प्राग्वत् तिथिः शिष्यते।
त्रि$_3$घ्नेऽङ्कादि$_9$हतेऽथवार्णवहते नाहे द्विजाद्याः क्रमाद्
वर्णाः स्युर्निगमा$_4$हते वसु$_8$हते वार्का$_{12}$हते राशयः॥ 40॥

यदि परिधि को नौ से गुणा करने पर अथवा क्षेत्रफल में 30 का भाग दिए जाने पर जो लब्ध शेष रहता है वह पूर्वानुसार पक्ष एवं शेष तिथि कहलाती है। इसी प्रकार अन्य विधि के अनुसार यदि परिधि को तीन अथवा नौ से गुणा कर चार का भाग देने से जो बचे वे क्रमशः विप्र आदि वर्ण होते हैं। इसी प्रकार यदि परिणाह को चार अथवा

आठ से गुणा करें और प्राप्त फल में 12 का भाग दें तो जो शेष होगा, उसे राशि जानना चाहिए।

विशेष - इनका सूत्र इस प्रकार होगा-

(परिधि × 9)	÷ 30	=	तिथि
(परिधि)	÷ 30	=	पक्ष/तिथि
(परिधि × 3)	÷ 4	=	विप्रादि वर्ण
(परिधि × 9)	÷ 4	=	विप्रादि वर्ण
(परिधि × 4)	÷ 12	=	राशि
(परिधि × 8)	÷ 12	=	राशि

अथ वार च ध्रुवानयनमाह-

केवलनाहेऽद्रि$_7$हृते त्रि$_3$घ्ने नाहे च शिष्यते वारः।
द्वि$_2$घ्ने वा त्रि$_3$घ्ने वा नाहे नृप$_{16}$भाजिते ध्रुवाद्याः स्युः॥ 41॥

यदि मात्र परिधि अथवा उसे तीन से गुणा कर सात से विभाजित करें तो लब्धाङ्क से सूर्यादि क्रम से वार जानना चाहिए। इसी प्रकार परिधि को दो अथवा तीन से गुणकर सोलह से विभाजित करें तो ध्रुवादि भवनों का ज्ञान हो सकेगा।

विशेष- वार और ध्रुव निकालने के सूत्र इस प्रकार होंगे-

(परिधि × 3)	÷ 7	=	वार
(परिधि)	÷ 7	=	वार
(परिधि × 2)	÷ 16	=	ध्रुवादि षोडश भवन
(परिधि × 3)	÷ 16	=	ध्रुवादि षोडश भवन

अथान्य ध्रुवादिगृहषोडशविधिं-

क्षेत्रफले व्ययुक्ते नृपभक्ते$_{16}$ वा ध्रुवादयाः शिष्टाः।
ध्रुवऽधान्यजयविनाशाः खरकान्तमनःप्रसादसुमुखत्वम्॥ 42॥

(अब ध्रुवादि गृह ज्ञात करने की अन्य विधि कही जा रही है) यदि क्षेत्रफल

में व्यय को मिलाकर सोलह का भाग देवें तो जो शेष बचेगा वह भी ध्रुवादि गृह को बतलाता है। इनके नाम क्रमशः निम्न हैं- 1. ध्रुव 2. धान्य 3. जय 4. विनाश 5. खर 6. कान्त 7. मनःप्रसाद 8. सुमुखत्व-

सौमुख्यासौम्यत्वे विरोधवित्तोद्भवक्षयाक्रन्दाः।
वृद्धिजयौ च क्रमशः सञ्ज्ञातुल्यं फलं भवेदेषाम्॥ 43॥

(अन्य नाम होंगे) 9. सौमुख्य 10. सौम्यत्व 11. विरोध 12. वित्तोद्भव 13. क्षय 14. आक्रान्द 15. वृद्धि और 16. जय ये क्रम से इनके सोलह नाम हैं और नाम के अनुसार ही इनका फल होता है।

विशेष - वास्तुमञ्जरी, राजवल्लभवास्तुशास्त्रम्, वास्तुसारमण्डनम्, नारदपुराण, ज्योतिषरत्नमाला, वत्थुसारपयरणम् आदि में गृहों के लक्षण और प्रस्तार विधि का वर्णन मिलता है। प्रारम्भ में सृष्टिक्रम से प्रथम चार गुरु (ऽऽऽऽ) रखें फिर प्रथम गुरु के नीचे लघु (।) एवं शेष वैसे ही लिखें। तदन्तर पीछे से लघु के स्थान पर गुरु रखते हुए ऐसा तब तक करें, जब तक सभी लघु न हो जाएँ। अन्त में निचली पङ्क्ति में सभी गुरु हो जाते हैं। (पहली पङ्क्ति में एक लघु एक गुरु, दूसरी पङ्क्ति में दो गुरु दो लघु, तीसरी पङ्क्ति में चार गुरु चार लघु एवं चौथी पङ्क्ति में आठ गुरु एवं आठ लघु होगा।) इस प्रकार छन्दशास्त्रानुसार चार गुरु से षोडश प्रस्तार भेद बनते हैं। इसमें सृष्टि क्रमानुक्रम से मुख पर अलिन्द बनाए जाएँगे।

उपर्युक्तानुसार बनने वाले सोलह गृहों के नाम इस प्रकार हैं- ध्रुव, धान्य, जय, नन्द, खर, कान्त, मनोरम, सुमुख (सुवक्त्र), दुर्मुख, क्रूर, सुपक्ष, धनद, क्षय, आक्रन्द, विपुल तथा विजय। इन सभी गृहों के फल इनके नामानुसार ही कहे गए हैं।

मान्यता यह है कि ध्रुव (ऽऽऽऽ) गृह में कोई भी अलिन्द (बरामदा) नहीं होता। धान्य (।ऽऽऽ)पूर्व की ओर बरामदा होता है। जय (ऽ ।ऽऽ) में दक्षिण की ओर बरामदा होता है। जय या नन्द (।।ऽऽ) में पूर्व एवं दक्षिण में, खर (ऽऽ ।।) में पश्चिम एवं उत्तर में, कान्त (।ऽ ।ऽ) में पूर्व एवं पश्चिम में, मनोरम (ऽ ।।ऽ) में दक्षिण एवं पश्चिम में, सुमुख (।।।ऽ) में पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम में, दुर्मुख (ऽऽऽ ।) में उत्तर में, क्रूर (।ऽऽ ।) में पूर्व एवं उत्तर में, सुपक्ष में (ऽ ।ऽ ।) उत्तर एवं दक्षिण में, धनद (।।ऽ ।) में पूर्व, दक्षिण एवं उत्तर में, क्षय में (ऽऽ ।।) पश्चिम एवं उत्तर में, आक्रन्द में

(।ऽ।।) में पूर्व, पश्चिम तथा उत्तर में, विपुल में (ऽ।।।) दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर में तथा विजय (।।।।) में सभी दिशाओं में अलिन्द होता है।[1]

वशिष्ठ ने इनके नामानुसार ही फलों का विवरण विस्तार से दिया है।[2]

स्पष्टार्थचक्र-

सं.	प्रस्तारभेद	गृह नाम	द्वार नाम
1	ऽ ऽ ऽ ऽ	ध्रुव	ऊर्ध्वमुख
2	। ऽ ऽ ऽ	धान्य	पूर्वमुख
3	ऽ । ऽ ऽ	जयसंज्ञ	दक्षिणद्वार
4	। । ऽ ऽ	नन्दसंज्ञ	पूर्व-दक्षिणद्वार
5	ऽ ऽ । ऽ	खर	पश्चिमद्वार
6	। ऽ । ऽ	कान्त	पूर्व-पश्चिमद्वार
7	ऽ । । ऽ	मनोरम	दक्षिण-पश्चिमद्वार
8	। । । ऽ	सुमुख	पूर्व-याम्य-पश्चिमद्वार
9	ऽ ऽ ऽ ।	दुर्मुख	उत्तरद्वार
10	। ऽ ऽ ।	उग्र	पूर्वोत्तरद्वार
11	ऽ । ऽ ।	रिपुद	दक्षिणोत्तरद्वार
12	। । ऽ ।	वित्तद	पूर्व-याम्योत्तरद्वार
13	ऽ ऽ । ।	नाशाख्य	पश्चिमोत्तरद्वार
14	। ऽ । ।	आक्रन्द	पूर्व-पश्चिमोत्तरद्वार
15	ऽ । । ।	विपुल	याम्य-पश्चिमोत्तरमुख
16	। । । ।	विजयसंज्ञ	चतुर्मुख

---

1. **ध्रुवादिगृहाणि-प्रस्तारविधिः** — गुरोर्रधो लघु न्यस्ये पूर्वशेषं यथोपरि। गुरुभिः पूरयेत्पश्चाद्यावत्सर्व लघुः भवेत्॥ चतुर्गुरूणां प्रस्तारे गृहं षोडशकं भवेत्। लघुस्थानि गृहर्मुखादलिन्द सृष्टितो न्यसेत्॥ ध्रुवं धान्यं जयं नन्दं खरं कान्त मनोरमम्। सुमुखं दुर्मुखं क्रूरं सुपक्षं धनदं क्षयम्॥ आक्रन्दं विपुलं चैव विजयं नामवत् फलम्। (वास्तुमञ्जरी 1, 278-281)
2. ध्रुवसञ्ज्ञं गृहं त्वायं धनधान्यसुखप्रदं। धान्यं धनप्रदं नृणां जयं तद्विजयप्रदम्॥ नन्दं स्त्रीहानिदं नूनं खरं सम्पद्विनाशनम्। पुत्रपौत्र प्रदं कांत श्रीप्रदं यन्मनोरमम्॥ सुवक्त्रं (सुमुखं) भोगदं नूनं दुर्मुखं विसुखप्रदम्। सर्वदुःखप्रदं क्रूरं विपक्षं शत्रुभीतिदम्॥ वित्तदं धनदं गेहं क्षयं सर्वक्षयप्रदम्। आक्रन्दं शोककजननं विपुलश्री यशःप्रदम्। विपुलं नामसदृशं धनदं विजयाभिधम्॥ (वशिष्ठसंहिता 39, 100-103)

इति मनुष्यालयचन्द्रिकायां मानभेदयोन्यायव्ययादिनिर्णयो
नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ 3 ॥

इस प्रकार मनुष्यालयचन्द्रिका में मानभेदान्याय व्ययादि निर्णय नामक तीसरा अध्याय पूर्ण हुआ ॥ 3 ॥

*****

1., 2. व 3. 'नुग्रहं' क. ख. पाठः * इह 'तदर्धकम्' इत्यपेक्षितं भाति 4. 'ल्य' क. ख. पाठः 5. 'वधनधा' ख. पाठः ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

गृहाणामिष्टदीर्घपरिणाहदीर्घविस्तार-शालाभेदादिनिर्णयः

अथ इष्टविस्ताराधारेशालामानमाह-

स्वाभीष्टालयदीर्घमङ्गणविधिं तेषां पृथङ् नाहतो
योन्यायर्क्षवयोव्ययादि शुभदं सर्व प्रकारादपि।
सम्पाद्याथ गृहेऽष्टदीर्घगुणविस्तारादिभेदान् पृथग्
दीर्घव्यासमितिं करोतु च यथात्राल्पान्तरालं सुधीः ॥ 1 ॥

अपने अभीष्ट आवास के निमित्त सर्वप्रकारेण लम्बाई-चौड़ाई और आङ्गन के परिणाह का मान इसी तरह लेना चाहिए कि उस विधि से योनि, आय, नक्षत्र, वयस् एवं व्यय आदि सभी पहलु भली प्रकार से ज्ञात हो जाए। कारीगर को चाहिए कि वह लम्बाई और चौड़ाई को इस प्रकार लें कि वे इष्ट दैर्घ्य और गुणांश (लम्बाई-चौड़ाई) की अर्हताओं को पूर्ण करते हों जबकि अन्तराल अल्प हो।

अथ भवनाङ्गमानपरिगणनाह-

इष्टाद्दीर्घात् सर्वधाम्नां च नाहो
विस्तारोऽस्माद् विस्तृतेः पादमानम्।
तस्मान्मासूरं च तच्छेषतः स्यात्
स्तम्भः स्तम्भाद् विस्तृतिश्चोत्तराणाम् ॥ 2 ॥

(अब आवास के अङ्गों के परस्पर आधारित मान-गणित के विषय में कहते हैं) आवासों के लिए अपेक्षित आङ्गन की परिधि से लम्बाई का मान ज्ञात होता है। परिधि की लम्बाई से चौड़ाई का मान ज्ञात किया जाता है। चौड़ाई से पादमान अथवा समग्रतया ऊँचाई का मान, पादमान से मासूर या आधार की ऊँचाई को जाना जाता है।

इसमें से जो अवशिष्ट हो, उससे स्तम्भ की ऊँचाई जानी जाती है और स्तम्भ की ऊँचाई से ही उत्तर की चौड़ाई का मान समझा जा सकता है।

उत्तरप्रमाणात् लुपानीप्रादीनां प्रमाणमाह-

तत्तदुत्तरविस्ताराल्लुपानीप्रादिविस्तृतिः।
उत्तरादेर्घनं तत्तद्विस्तारादेव कल्प्यते॥ 3॥

इसी प्रकार उत्तर की चौड़ाई से वहाँ स्थापित होने योग्य लुपा और नीप्र आदि के विस्तार और उत्तर के दैर्घ्य से लुपा व नीप्र की मोटाई को ज्ञात किया जाता है।

अथ विस्तारदैर्घ्यं च योन्यापरिणाहादीनां-

षड्$_6$ह(षड्ढ!)स्तादिनिजेष्ट$_8$दीर्घकरसङ्ख्यानेऽष्ट$_8$निघ्ने स्वदिग्-
योन्याढ्ये सति तत्त्रिभाग इह तद्गेहस्य नाहो भवेत्।
व्यत्यासक्रियया भवेदपि च तद्दीर्घोऽथ नाहेऽर्धिते
दीर्घोने परिशिष्यतेऽत्र विततिः सर्वत्र मर्त्यालये॥ 4॥

(अब दैर्घ्य-विस्तार, योनि-परिधि आदि के विषय में कहते हैं) गृह के प्रसङ्ग में छह हाथ-मान से आरम्भ करते हुए अपेक्षित लम्बाई को आठ से गुणा करें और उसमें प्राप्त योनि की संख्या (1 से 8 तक) का योग कर लब्ध को यदि एक तिहाई करें तो उस आवास की परिधि को ज्ञात किया जा सकता है। यदि इसका विलोम किया जाए तो लम्बाई को निकाला जा सकता है। इसी प्रकार सर्व प्रकार के मनुष्यालयों में परिधि को आधा कर यदि लम्बाई को घटाया जाए तो जो अवशेष होगा, वह उसकी चौड़ाई होगी, ऐसा जानना चाहिए।[1]

विशेष - इसका सूत्र इस प्रकार होगा-

[(लम्बाई × 8) + योनि] ÷ 3 = परिधि

(भवन की परिधि ÷ 2) - लम्बाई = चौड़ाई

पुनश्च नाहानयनमाह-

स्वाभीष्टदीर्घहस्ते द्वि$_2$घ्न सति तत्त्रि$_3$भागसंयुक्ते।
स्वाभीष्टयोनिसङ्ख्यात्र्यंश$_3$युते नाह इति च सम्भवति॥ 5॥

----

1. **मानववास्तुलक्षणे**- षड्ढस्तादिकवंशमाननिचयेऽष्टघ्ने सदिक्संख्यके त्र्यंशीकृत्य तदेकैकेन गृहनाहे कल्पितेऽर्धीकृते। वेदघ्ने रविविश्ववासवविकारात्यष्टिसाष्टादशाशाद्व्यमहतफलेन विततिस्तन्न्यूननाहा ततिः॥ (24)

(अब लम्बाई से परिधि निकालने की विधि कहते हैं) गृह पिण्ड का जो दैर्घ्य हो, उसे हस्त मानानुसार 2 से गुणा करें अर्थात् लम्बाई को दोगुना करें और उसमें उसका एक तिहाई योग करें। इसके बाद योनि की संख्या का एक तिहाई जोड़ा जाए तो लब्ध संख्या को परिधि अथवा क्षेत्रफल जानना चाहिए।

विशेष - यहाँ समस्त गणना को इस्तमान से करने का निर्देश है।

अथ देवालयार्थ गुणविस्तारविधिमाह-

नाहाङ्घ्र्यंशेन दीर्घो विततिरपि भवेत् तुल्यवेदाश्र$_4$ गेहे
नाहार्धे नन्द$_9$ भक्ते विततिरुदधि$_4$ भागैश्च दीर्घो विशिष्टैः।
स स्यात् पादाधिकोऽर्धाधिक इह परिणाहेऽर्धिते दिग्विभक्ते$_{10}$
षड्$_6$ भिर्दीर्घश्चतु$_4$ र्भिर्विततिरिति सुरागारयोग्यास्त्रयो$_3$ऽमी ॥ 6 ॥

(अब गुण विस्तार संज्ञक विधि कही जाती है) यदि आवास चौकोर हो तो उसमें लम्बाई, चौड़ाई परिधि की एक चौथाई जाननी चाहिए। ऐसे गृहों में लम्बाई और चौड़ाई बराबर होती है अर्थात् अनुपात 1 : 1 होता है। यदि परिधि के अर्धमान को 9 से विभाजित करते हैं तो 4 भाग चौड़ाई और अवशिष्ट पाँच भाग को लम्बाई कहा जाता है। इसे पादाधिक भी कहा जाता है अर्थात् इसका अनुपात 4 : 5 होगा। इसी प्रकार यदि आधी परिधि को 10 से विभाजित करें तो 6 भाग लम्बाई और 4 भाग चौड़ाई होती है। इसको अर्धाधिक कहा जाता है। इसके अनुसार अनुपात 6 : 4 होता है। इस प्रकार यह तीन प्रकार का अनुपात सुरालयों के निमित्त अभीष्ट कहा जाता है।

मनुजसद्मने पादोनानुपातनिषिद्धमाह-

पादाधिको मनुजसद्मनि गृह्यते त-
त्रावश्यके समततायतिकोऽपि कैश्चित्।
अर्धाधिकोऽत्र न हितो मुनिभिः समस्त-
पादोनतापि कथिताखिलनाशिनीति॥ 7 ॥

(अब मानव वास्तु के प्रसङ्ग में पादाधिक अनुपात के विषय में कहते हैं) मानवीय आवासों के लिए पूर्व में कहे गए पादाधिक अनुपात अर्थात् एक अनुपात सवा का प्रयोग किया जाता है तथापि ऐसे आवास में बहुत अपरिहार्य हो तो समानानुपात या (1 : 1) भी लिया जा सकता है किन्तु अर्धाधिकानुपात कदापि हितावह नहीं होता। मुनीश्वरों का मत है कि समस्त निर्माण कार्यों में सभी प्रकार के पादोनानुपात अर्थात् पौन भाग वाले अनुपात अशुभ ही जानने चाहिए।

अथ विस्तारदैर्घ्यानुपातमाह-

नाहार्धे द्वादशा$_{12}$द्यैस्त्रिभिरपि च विभक्तेऽथवा षोडशा$_{16}$द्यै-
विंशत्या$_{20}$द्यैश्च तत्त्वादि$_{24}$भिरपि मनु$_{24}$युग्मादि$_{26}$भिर्दन्त$_{32}$सङ्ख्यैः ।
तत्तत्तुर्यप्रहीणैरथ विततिरुध्यंशतः शेषभागै-
दीर्घो वस्वङ्कपङ्क्त्यादिरपि गुणविस्तारमाहुर्मुनीन्द्राः ॥ 8 ॥

(अब भवन में लम्बाई और चौड़ाई का अनुपात कहते हैं) पिण्ड में जब आधी परिधि को 12, 13, 14 से विभाजित किया जाता है तो चौथाई लम्बाई और अवशिष्ट लम्बाई होती है। इसी प्रकार यदि अर्ध परिधि को 16, 17, 18 से अथवा 20, 21, 22 से, 24, 25, 26 से अथवा 32, 33, 34 से विभाजित किया जाता है तो भी चौथाई भाग चौड़ाई और शेष लम्बाई होती है। परिधि को आधा कर 8, 9 एवं 10 भागों में भी बाँट सकते हैं। मुनीश्वरों ने यहाँ गुणांश विस्तार को स्वीकारा है जो क्रमशः एक-एक कर बढ़ता जाता है।

स्पष्टार्थचक्र

भाजन	अर्धपरिधि की चौड़ाई	लम्बाई	चौ : लं
12	4	8	1 : 2
13	4	9	1 : 2.25
14	4	10	1 : 2.5
16	4	12	1 : 3
17	4	13	1 : 3.25
18	4	14	1 : 3.5
20	4	16	1 : 4
21	4	17	1 : 4.25
22	4	18	1 : 4.5
24	4	20	1 : 5
26	4	21	1 : 5.25
28	4	24	1 : 6
32	4	28	1 :7

अन्यदप्याह-

नाहार्धे शिव$_{11}$भक्ते विततिस्त्रि$_3$भिरष्ट$_8$भिश्चं दीर्घो वा।
दीर्घार्धादधिकतरं व्यासं नेच्छन्ति गर्गदक्षाद्याः ॥ 9 ॥

यदि परिधि के आधे भाग को 11 से विभाजित किया जाता है तो तीन भाग चौड़ाई और आठ भाग लम्बाई स्वीकारना चाहिए अर्थात् चौड़ाई और लम्बाई का अनुपात 3 : 8 होगा। गर्ग, दक्ष आदि ने इस बात की मनाही की है कि चौड़ाई कभी लम्बाई की आधी से अधिक नहीं हो।

तत्राह चतुश्शालस्य दिग्गृहाकोणालयादीनां-

चत्वारोऽत्र तु दिग्गृहाः पृथगथो कोणालयाश्चैवमि-
त्यष्टावेव नृणां गृहा मुनिमताः संस्थानभिन्नास्ततः।
भिद्यन्ते नवधोत्तरस्य गतिभिर्मानेन नामादिभि-
श्चैतेषां द्वितलादिलक्षणविधौ मानानि तान्येव च ॥ 10 ॥

(अब पूर्वसूरियों मत से मानव वास्तु में दिशाओं और कोणों के अनुसार गृह निवेश कहते हैं) पूर्वकाल में मुनियों ने मानवों के लिए आठ गृह निर्धारित किए हैं जिनमें से चार गृह पूर्वादि चारों ही दिशाओं में और चार गृह ईशादि कोणों में बताए गए हैं। यदि उत्तर के संयोजन की विधि को आधार बनाएँ, मान को आधार रखें और नाम भेद को दृष्टिगत रखें तो इनके तीन-तीन भेदों को मिलाकर इन गृहों की संख्या नौ हो जाती है। इसी प्रकार द्वितल या द्वितीय, तृतीय मंजिल के अनुसार भी गृहों के लक्षण माने गए हैं।

विशेष - उत्तरादि के संयोजन आधार पर बनने वाले नौ गृहों के नाम रचनाकार ने आगे प्रकट किए हैं। ऐसे भवन जिसमें चारों दिशाओं में शाला होते हैं जबकि कोणों में इनका अभाव होता है वे 'विशुद्धभिन्नशाला' कहे जाते हैं। जिनमें एक या दो कोणालय नहीं होते, उनको 'श्लिष्टभिन्नशाला' कहा जाता है। तीसरे प्रकार की शाला का नाम संश्लिष्टभिन्नशाला है जिसे नन्द्यावर्तशाला भी कहा जाता है जबकि अन्य के नाम विशिष्टभिन्नशाला, मिश्रभिन्नशाला, सम्मिश्रभिन्नशाला, मिश्रचतुश्शाला, चतुश्शाला और मध्यप्ररूढशाला। इसी प्रकार सूत्रधार मण्डन और सूत्रधार नाथा ने एकशाला, द्विशाला, त्रिशाल, चतुश्शालाओं का वर्णन किया है।[1] मत्स्यपुराण में चतुश्शाल भवनों के स्वरूप उनके विशिष्ट नामों के साथ बताए गए हैं।[2] मयमतम् में भी एक से दशशाल भवन के लक्षण 26-27वें अध्याय में आए हैं।

---

1. राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् एवं वास्तुमण्डनम् तथा वास्तुमञ्जरी।
2. मत्स्यपुराण 254, 1-13

अथ चतुश्शाला प्रकारमाह-

भिन्नाभिन्नवशाद् द्विधैव, विदिता शालात्र भिन्ना पृथग्
दिक्स्था स्वाङ्गविशेषपूर्णविभवा कोणालयासम्भवात्।
अन्तर्बाह्यभवोत्तराभिमिलनादेकीभवेत् कोणगेहा-
पर्यन्तलसद्ध्वजो भवति यत्राभिन्नशालैव सा॥ 11॥

चतुश्शाला 1. भिन्न और 2. अभिन्न- इन दो प्रकारों की कही गई है। भिन्न शाला दिशाओं में स्थित अपने विशेषाङ्गों सहित पूर्ण वैभव वाली होती है किन्तु इसमें कोणों पर गृह नहीं होते अर्थात यह अपने स्वतन्त्र शाला होती है जबकि अभिन्नशाला का निर्माण कोणालय के उत्तर को, आन्तरिक और बाह्य भाग को संयुक्त किए जाने से और ध्वज संज्ञक योनि के नियमानुसार होता है। अभिन्न शाला अन्य कक्षों से जुड़ी हुई होती है।

अथ विशुद्धभिन्नशालाप्रकारमाह-

शालास्त्वन्योन्यभिन्ना निजविहितगतिव्यासयोन्यादियुक्ताः
पर्युद्यत्पत्रमानावधिनिहितलसत्पादुकाभिन्नशालाः।
सर्वार्हास्ता विशेषादवनिसुरहिताः कोणवेश्म[1] प्रहीणा-
स्तत्रापि प्राङ्गणं केतुजमिति विदिता भिन्नशाला विशुद्धा॥ 12॥

(अब चतुश्शाला में विशुद्धभिन्नशाला के विन्यासादि के विषय में कहते हैं) जो शाला एक-दूसरी से भिन्न हो, जिसमें प्रत्येक शाला का अपना गमन या गति हो वह बिना कोणालय के भिन्न शाला होती है तथापि इसमें चौड़ाई, निश्चित योनि, उचित पादुक और पत्रमान अपरिहार्य है। यूँ तो यह सभी वर्णों के लिए शुभ है तथापि विप्रों के लिए प्रशस्तकारक है। इसमें आङ्गन और ध्वज योनि मान-दिशा हो तो इसको विशुद्धभिन्नशाला कहना चाहिए।

अथ श्लिष्टभिन्नशालामाह-

मित्रे दक्षिणपश्चिमे पुनरुदक्प्राच्ये च गेहे मिथ-
स्तस्मात् तद्युगलोत्थकोणनिलयः शेषो विधेयोऽपि च।
अन्यत् कोणयुगं तथैकमथवा न श्लेषयेत् सूतिका-
शूद्राद्यागमननिष्क्रमार्थमुदितो मार्गोऽयमेवात्र तु॥ 13॥

(अब श्लिष्टभिन्नशाला की विशेषताएँ बताते हैं जिसमें मित्र दिशाओं के अनुसार

निर्माण होता है) ऐसी शाला जिसमें कि दक्षिण-पश्चिम और उत्तर-पूर्व पर कोणालय हो चूंकि ये दिशाएँ सृष्टि क्रम से, परस्पर मित्र होती हैं और शेष, मध्य स्थान पर आवास हो, उक्त दोनों ही कोणों के आलय या न्यूनतम एक-एक आवास को मुख्य सदन से युक्त नहीं करे (वह श्लिष्टभिन्नशाला होती है) किन्तु इसके अन्तराल में सूतिका और शूद्रादि के आगमन-निष्क्रमण के लिए मार्ग रखना चाहिए।

एक$_1$ द्वि$_2$ त्रिक$_3$ कोणश्लेषवशाच्छ्लिष्टभिन्नशाला स्यात्।
धरणीदेवहिता साप्यखिलार्हा भिन्नमिश्रभावेन॥ 14॥

इस प्रकार एक, दो अथवा तीन कोणालयों में परस्पर मिली हुई होने के कारण यह श्लिष्टभिन्नशाला होती है। यह भी विप्रों के लिए हितावह होने के साथ अन्य सभी के लिए भी शुभकारक है क्योंकि यह मिश्रभावेन जो कही गई है।

अथ संश्लिष्टभिन्नशालामाह-

दिग्गेहोत्तरपृष्ठसंहितविदिग्गेहोत्तराणि क्रमा-
न्नन्द्यावर्तपदप्रदक्षिणगतीन्यातत्य संयोजयेत्।
अन्तःस्थोत्तरयोगनाहमिह सर्वत्रापि केतूद्भवं
बाह्यस्थं च तथैव चेदतिशुभं संश्लिष्टभिन्ना त्वियम्॥ 15॥

(अब संश्लिष्टभिन्नशाला के विषय में कहते हैं) संश्लिष्टभिन्नशाला में कोण में गृह का उत्तर रखें जो कि पूर्वादि दिशाओं में विद्यमान उत्तर के मान के समान होता है। इसको सृष्टिमार्ग के विपरीत नन्द्यावर्त के समान संयोजित करना चाहिए। इस शाला में आङ्गन की परिधि को ध्वज योनिगत रखना चाहिए। इस संश्लिष्टशाला में यदि बाह्य परिधि में भी ध्वज योनि का मानादि हो तो अति शुभ समझना चाहिए।

तत्राह कोणालयस्य योनिं-

सर्वत्रापि च कोणगेहपरिणाहाप्त्यै स्वदिग्योनिरे-
वोक्तस्तत्र विदिग्गृहास्तु सकला जन्या भवन्त्येव हि।
दिक्शालाजनका भवन्ति च ततः केतुर्भवेदीश्वरे-
सिंहोऽग्नौ निर्ऋतौ वृषः करिवरो वायौ नृणां धामनि॥ 16॥

(अब कोणालयों के अनुसार वहाँ ग्राह्य योनि के विषय में कहा जा रहा है) विशुद्धादि समस्त प्रकार की शालाओं में कोणालयों के नाह या परिधि में वही योनि

रखनी चाहिए जो कि मुख्य गृह की हो। नियम यह है कि मानवालयों में विदिशाओं या कोणों में ईशान से क्रमशः ध्वज योनि, सिंह, वृष और गज योनि रखी जाती है।

स्पष्टार्थ

क्रम	कोणालय	देय योनि
1.	ईशानकोण	ध्वज योनि
2.	आग्नेयकोण	सिंह योनि
3.	नैर्ऋत्यकोण	वृष योनि
4.	वायव्यकोण	गज योनि

अथ श्लिष्टभिन्नाष्टशालामाह-

एवं संश्लिष्टभिन्नालयविधिवदथाकल्प्य सर्वोत्तराणि
स्वोक्तैर्दिग्योनिभिश्चैव च परिधिमुपादाय कोणालयानाम्।
दिग्गेहान्तान्तराले पृथगपि च महाद्वारमध्यं विनान्य-
त्रादध्यात् कोणगेहोत्तरमपरिमितिश्लिष्टभिन्नाष्टशाला॥ 17॥

(अब श्लिष्टभिन्नशाला के विषय में कहते हैं) पूर्वोक्त संश्लिष्टभिन्नालय की विधि सम्मत ही सभी उत्तरों अर्थात् भित्तियों को बनाएँ और कोणालय के नाह या परिधि की योनि, मुख्यावास अथवा प्रधान गृह की योनि के अनुरूप ही प्राप्त कर कोणों के कक्षों की उत्तराओं को मुख्यावास के उत्तर से और मुख्यावास के अन्तिम अन्तराल में महाद्वार के बीच के अतिरिक्त जोड़ने पर श्लिष्टभिन्नाष्टशाला बनती है, ऐसी शाला में मुख्य गृह और कोणगृह के बीच अन्तराल होता है जबकि उत्तर संयोजित होते हैं।

तत्रैव उत्तरसन्धिकर्माह-

कोणगृहोत्तरयोगः सन्धिमृते दिग्गृहोत्तरान्तेषु।
यत्र स्यात् तत्र भवेद् भिन्नत्वं तद्गृहाश्चतुर्धेति॥ 18॥

(अब उत्तर के सन्धिकर्म की विधि कहते हैं) पूर्वोक्त विन्यास में कोणगृह के उत्तर की सन्धि इस प्रकार से होनी चाहिए कि मुख्यावास की उत्तर के छोर पर शालाओं के पार्थक्य को योजित किए बिना ही हो जाए अर्थात् शालाएँ परस्पर पृथक् रहेंगी। इस प्रकार, यहाँ अब तक चार भिन्नशालाओं (विशुद्धभिन्नशाला, संश्लिष्टभिन्नशाला, श्लिष्टभिन्नशाला और श्लिष्टभिन्नाष्टशाला) के विषय में कहा गया।

तत्राह उत्तरसंयोजनम्-

दीर्घव्यासाद्यभावे पृथगथ विधिवत् सन्ति कर्मोक्तनीत्या
सन्धायाकोणगेहावधि बहिरुदितान्युत्तराण्यत्र धीमान्।
आधारीकृत्य पूर्वापरनिलयबहिष्ठोत्तरस्याग्रमूला-
वाधेयत्वेन चान्यद् द्वितयमिति चतुष्कोणसन्धिं विधाय॥ 19॥

(अब उत्तर संयोजन विधि कही जाती है) भवन में उत्तर या भित्तियों के संयोजन के लिए यह ज्ञातव्य है कि यदि उत्तर के दैर्घ्य-व्यास के लिए एक ही खण्ड न मिले तो बाह्य उत्तर को नियमानुसार संयोजित करना चाहिए अर्थात् उसको किसी अन्य भाग को जोड़कर पूरा करें। विज्ञजन को चाहिए कि उसको स्वतन्त्ररूप से कोणगृह के अन्तिम सिरे तक बढ़ाएँ। इसमें चारों ही सिरों पर जो जोड़ विद्यमान हो, उनको इस प्रकार से रखा जाए कि उनका मूल भाग और आगे का पूर्वी तथा पश्चिमी आधार का छोर हो और इसके साथ दो आधेय या लगाने में सहायक रचनाएँ हों।

विशेष - विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् में भवन लक्षणों का विस्तार से वर्णन आया है। यह यहाँ तुलनीय है।[1]

----

1. भवनं तत्समाख्यातं भूपावासस्थलान्वितम्। चतुरश्रप्रमाणेन कल्पनेन समज्ज्वलम्॥ तदैव मालिकोपेतं सनिशान्तं विशेषतः। दीर्घकल्पनसंयुक्त नानालिन्द मनोहरम्॥ नानाभौमसमोपेतं नानाशालासमुज्ज्वलम्। विमानरचनायुक्तं बहिरान्धारिकान्वितम्॥ समन्ताद्भित्तिसंयुक्तं महाशालासमायुतम्। चतुरश्रैरायतैर्त्रा कल्पनैरपि शोभितम्॥ चूलीहर्म्यसमोपेतं मध्यालिन्दसमुज्ज्वलम्। कूटकोष्ठसमायुक्तं पक्षिभित्त्यादिभासुरम्॥ पञ्चभिर्दशभिर्दण्डेः कल्पनैश्च समन्वितम्। हर्म्यमेतदपि प्रोक्तं शिल्पज्ञैर्मुनिपृङ्गवैः॥ भूपदण्डद्वादशकमानहीनं तु नोत्तमम्। शताधिकं तु देवानां नेष्यते मानवे गृहे॥ तस्मात्सर्वत्र शिल्पज्ञः खण्डहर्म्ययुतं तु वा। शुद्धं वा मिश्रित वापि कल्पयेत्कल्पनाक्रमात्॥ मध्ये वार्स्थलसंयुक्तं कचित्तेन विहीनकम्। द्वारोपद्वारसंयुक्तमेकादितलभासुरम्॥ वास्तुदेही रङ्गवेदी देववेदीति सा त्रिधा। तदादिमानं कथितं दिङ्भानमपि सिद्धये॥ वास्तुवेदी स्थले शाला महती सा प्रकीर्तिता। षडादिदशदण्डान्तं मानमस्याः प्रकीर्तितम्॥ पञ्चाद्भागे पुरोभागे तदर्धा वा तदर्धका। क्षुद्रशालाथवा गेहं द्वाश्चतुष्कसमन्वितम्॥ सव्यापसव्ययोरेवं कल्पनं स्थापयेत्क्रमात्। भित्तिशालासमायुक्तं ससोपानाधिपीठकम्॥ भवने यत्समाख्यातं मानं तदधिकैर्युतम्। तन्मानोपेतमथवा मध्यशालाप्रकल्पनम्॥ चतुर्दिक्स्थचतुष्कूटं तन्मध्ये वार्स्थलान्वितम्। मध्यशालाप्रमाणेन मानं दैर्घ्यादिकं भवेत्॥ चतुर्दण्डायतिश्शस्ता तद्दैर्घ्य भानुदण्डकम्। एकादिपञ्चदण्डान्तं वार्स्थलं तत्र कल्पयेत्॥ तुष्कोणचतुश्शालां तालवारादिमेलनम्। मध्यशाला प्रस्तरान्ता द्वितलादिरिहोच्यते॥ वार्स्थलेन विहीनाश्चेत्तत्सीमान्तं हि कल्पनम्। द्वारमेलनमेवोक्तमिह सर्वत्र दैर्ध्यके॥ भित्तिशाला समायुक्तमेकद्वित्रिचतुस्तलम्। वातायनशतोपेतं चन्द्रशालासमन्वितम्॥ प्रासादनिर्माणयुतं सर्वर्तुसुखदं मतम्। हर्म्यमानाधिकोपेतं चतुर्दिग्भद्रसंयुतम्॥ पूर्वशालाकलायुक्तं भित्तिशालाश्रितं तु वा। द्विपक्षं वा चतुःपक्ष द्विशालं वा त्रिशालकम्॥ चतुष्कोणे चतुर्दिक्षु शाला वा कूट एव वा। मुखीकरणवैखर्या दृढभित्तिसमन्वितम्॥ जन्माधिष्ठानसंयुक्तमुत्तुङ्गाग्रिक शालकम्। चतुर्मुखं पञ्चमुखं षण्मुखं सप्तवक्त्रकम्॥ मुखीकरणमेवोक्तं भेदशालासमन्वितम्। भद्राकारं भद्ररूपं भद्रहीनमथापि वा॥ कल्पनं कल्पयेच्छिल्पी युक्त्या मानादिना दृढम्॥ (विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् 14, 1-24)

अथ मिश्रभिन्नचतुश्शालमाह–

नाहं केतुजमेवमत्र बहिरप्यन्तश्च कृत्वा विदिग्-
गेहान्तर्विहितोत्तरैर्विरहितं त्वन्तःस्थकोणेष्वपि।
सन्दध्याद् बहिरुत्तरोक्तवदिदं स्यान्मिश्रभिन्नं चतुःशालं
दिङ्निलयाः स्वयोनिगतिभिर्युक्ताः समस्ता अपि॥ 20॥

(अब आगे की अन्य शालाओं में मिश्रभिन्नशाला के विषय में कहा जा रहा है) मिश्रभिन्नशाला में बाह्य और आङ्गन के नाह या परिधि को केतु या ध्वज योनिगत रखा जाए। इसमें दोनों उत्तर को कोणगत संयोजित करना चाहिए। कोणालयों में आभ्यन्तर उत्तर नहीं रखें और समस्त दिशाओं की शालाओं को उनके लिए निर्धारित योनि और गमन पूर्वक रखना चाहिए। इस प्रकार बनने वाली भवन निर्मिति मिश्रभिन्नचतुश्शाला कही जाती है।

कोणेषु सर्वनिलयोत्तरयोगभेदा-
न्मिश्रत्वमत्र तु विदिग्गृहहीनभावान्।
दिङ्मन्दिराणि निजयोनिगतिप्रभेदै-
र्युक्तान्यमूनि यदतोऽपि च भिन्नतात्र॥ 21॥

(पूर्वोक्त प्रकार से बनने वाली शाला को मिश्रभिन्नशाला क्यों कहा जाता है इसका कारण कहते हैं) मिश्रभिन्नशाला में सभी गृहों में उत्तराओं को कोणों में संयोजित किया जाता है। यह प्रयोग मिश्रित कहा जाता है। इनमें नानाभेद भी होते हैं, कारण कि दिक्शाला अपनी योनि और गमन के साथ होती है और कोणगृह आभ्यन्तरिक उत्तरा के अभाव में पूर्ण नहीं होते है।

अथ संमिश्रभिन्नालयविन्यासमाह–

पर्यन्तं ध्वजमादधीत बहिरप्यन्तश्च तत्पत्रमा-
नान्तश्चाङ्गणनाहमप्यथ बहिर्नाहं च दिग्धामसु।
कोणागारगतोत्तरान्तरुदितं नाहं च केतूद्भवं
युक्त्या तूत्तरविस्तृतिं च जनयेत् संमिश्रभिन्नालये॥ 22॥

ऐसी शाला जिसमें बाह्य एवं अन्तःपरिधि ध्वज योनि के अनुसार हो, पत्रमान से बाह्य परिधि भीतर और बाह्य भी ध्वज योनि में होती है, संमिश्रभिन्नालय कही जाती है किन्तु इसमें प्रधान शाला की बाह्य नाह या परिधि और कोणालय की उत्तर की भीतरी

परिधि भी ध्वज योनि के अनुसार ही बनी होनी चाहिए। इस शाला की उत्तर के विस्तार को (आगे लिखी) युक्ति से निकाला जाना चाहिए।[1]

अथ उत्तरविस्तरमानमाह-

मानाद् बाह्यान्निजेष्टाद् रहयतु मितिमाभ्यन्तरीं शेषमानात्
कोणाब्ध्यश्रोदरोद्यद्भुजमपि शितधीरष्टनिघ्नं विजह्यात्।
तच्छेषादुत्तराणामपि जनयतु विष्कम्भमष्ट्यंशतोऽमू-
न्यापर्यन्तायतान्याकलयतु च चतुर्दिक्षु बाह्यान्तराणि ॥ 23 ॥

(उत्तर की चौड़ाई के बारे में कहते हैं) उक्त भवनों के प्रसङ्ग में बाह्य परिधि से आभ्यन्तरिक परिधि को यदि घटाएँ तो उसका मान कोणालय के भीतरी वर्गाकार क्षेत्र का आठ गुना होना चाहिए। इसी प्रकार बाह्य परिधि से आभ्यन्तरिक परिधि को निकालने पर अवशेष मान से आठवाँ भाग उत्तर की चौड़ाई होगी। आभ्यन्तरिक और बाह्य उत्तर के बाह्य छोर को लेकर सभी चारों ही स्थानों पर जोड़ दिया जाना चाहिए।

अथ मिश्रकचतुश्शालमाह-

प्राग्वत् प्राङ्गणपत्रमानबहिरन्तर्नाहकोणालयाः
केतूत्था हि दिगालयास्तु निजयोन्याढ्याः सगत्यन्विताः।
राजार्हं तदपीह मिश्रकचतुःशालं नृगेहं विदु-
र्दिक्शाला निजयोनिजा यदखिलार्हं तद् द्विजेष्टं न वा ॥ 24 ॥

(अब मिश्रकचतुश्शाला के विषय में कहा जा रहा है) पूर्व में कहे अनुसार जि... भवन के आङ्गन के आधार के अनुसार ही कोणगृह, आङ्गन व पत्रमान के भीतर-बाहर के नाह या परिधि को ध्वज योनि की रखा जाए तो वह मिश्रकचतुश्शाल हो जाता है। यह राजाओं के लिए उपयुक्त कहा गया है। इसमें पूर्वादि प्रधान दिशाओं के गृह, उनकी योनि और गमन के साथ रखना चाहिए। पूर्वादि प्रधान दिशाओं के गृह स्व-योन्यानुरूप होने से ये गृह विप्र के अतिरिक्त सभी के लिए शुभकारक कहे गए हैं।

तत्राह चतुश्शालम्-

तुल्यातानवितानताङ्गणविधौ गत्या विनान्तर्बहि-
र्योगे तूत्तरपत्रमानपरिणाहोऽप्यस्तु केतूद्भवः।

---

1. **मानववास्तुलक्षणे-** पर्यन्तं ध्वजमादधीत चतुरश्रं मध्यतश्चाङ्गणं तत्पार्श्वेऽप्यतिपत्रमानमपरं चाभ्यन्तरं केतनम्। तत्तुर्यश्रयुजोत्थकोणचतुरश्रेषूत्तरान्तर्ध्वजं युक्त्यातूत्तरविस्तृतिं च जनयेत् तुर्यश्रशालाविधौ ॥ (56)

केतूत्था अपि दिग्विदिङ्निलयनान्तर्बाह्यनाहाः स्वम-
ध्योद्यद्द्वारपदा भवन्ति च चतुःशालं गृहं भूभुजाम्॥ 25॥

(अब चतुश्शाल के विषय में कहा जा रहा है) ऐसी शाला जिसके आङ्गन का तान-वितान या लम्बाई और चौड़ाई समान हो और जो गत्या या गमन के बिना हो, जिसमें उत्तर के भीतर व बाहर की परिधि भूस्तरी, पत्रमान ध्वज योनि युक्त हो तथा मुख्यावास व कोणालय के कक्ष के भीतर परिधि भी ध्वज योनि में बनी हो, जिसमें मुख्य द्वार भी इसी योनि के अनुरूप बना हो, चतुश्शाल कहा जाता है। यह राजाओं के लिए ही निर्दिष्ट माना गया है।

अथ मध्यप्ररूढशालावर्णनम्-

क्वचिच्चतुःशालगृहे समस्ते सर्वोत्तराणामपि मध्यसूत्रे।
नाहो विधेयो यदि मध्यप्ररूढमानं भवनं वदन्ति॥ 26॥

(अब मध्यप्ररूढशाला के विषय में कहा जाता है) जहाँ कहीं पूरे चतुश्शाल गृह में नाह या परिधि की गणना चतुश्शाल की उत्तर की मध्य रेखा (गमन) से की जाती है तो वह मध्यप्ररूढ़शाला कहा जाता है।

अथ एकद्वित्रिशालचतुःशालभवनस्य विशेषमाह-

एकं स्याद् यदि दक्षिणं गृहमुभे चेत् तच्च पाश्चात्त्यकं
ते सौम्यं च गृहत्रिके गृहचतुष्के प्राच्यमेतानि च।
वाञ्छन्ति क्वचिदेकमेव भवनं यद्यत्र पाश्चात्त्यकं
चेष्टं गेहयुगादिनिर्मितिविधौ प्रागुक्तवत् कल्प्यताम्॥ 27॥

(अब एकशाल, द्विशाल, त्रिशाल व चतुश्शाल के विषय में विशेष रूप से कहा जाता है) इन शालाओं के निर्माण प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि यदि एकशाला बनवानी हो तो उसके दक्षिण दिशा में बनवानी चाहिए, द्विशाला का निर्माण करना हो तो उसे दक्षिण और पश्चिम, त्रिशाला बनवानी हो तो दक्षिण, पश्चिम और उत्तर तथा चतुश्शाला बनवाई जानी हो तो उसे इन तीनों अर्थात् दक्षिण, पश्चिम, उत्तर पूर्व दिशा में बनवानी चाहिए। यहाँ यह भी विचारणीय है कि यदि किञ्चित् स्थान पर एकशाला (प्रकोष्ठ) का निर्माण करवाया जाना हो तो उसे पूर्व में भी बनवाया जा सकता है किन्तु यदि युग्म शालाओं का निर्माण करवाया जाना हो तो पूर्वोक्त नियम के अनुरूप ही निर्माण होना चाहिए।[1]

----

1. **मानववास्तुलक्षणे-** एकं स्याद् यदि दक्षिणं गृहमुभे चेत् तच्च पाश्चात्यकं ते सौम्यं च गृहत्रिके गृहचतुष्के प्राच्यमेतानि च। प्राच्यां केतु जमेणराजजमिदं चापद्यवाच्यां तथोदीच्यां ते गजजं च तानि वृषजं चाहुः प्रतीच्यां गृहम्॥ (23)

अथ त्रिशालभवनवर्णनम्-

प्राक्शालारहितं गृहत्रिकमथो सुक्षेत्रमत्यृद्धिदं
चुल्लीदक्षिणमन्दिरेण रहितं तद् वित्तहानिप्रदम्।
ध्वंसः पश्चिमशालया विरहितं पुत्रक्षयारिप्रदं
सौम्योनं तु हिरण्यना[3]भमिति तद् वित्तप्रदं सर्वदा॥ 28॥

(अब त्रिशालभवन का वर्णन किया जाता है) पूर्व दिशा की ओर शाला से रहित त्रिशाल को 'सुक्षेत्र' संज्ञा दी गई है। यह ऋद्धि या समद्धि देने वाला होता है। दक्षिण दिशा की ओर शाला से रहित त्रिशाल की संज्ञा 'चुल्ली' है। यह आर्थिक हानि देने वाला है। पश्चिम दिशा में शाला से रहित त्रिशाल की संज्ञा 'ध्वंस' है और यह पुत्रक्षय, शत्रुभय देने वाला होता है। इसी प्रकार उत्तर दिशा में शाला से रहित त्रिशाल को 'हिरण्यनाभ' कहा जाता है और सदा ही धनदायक होता है।

विशेष - वराहमिहिर ने भी ये संज्ञाएँ दी हैं और कहा है कि जिसके उत्तर में शाला नहीं हो और शेष दिशाओं में हो, उसे हिरण्य नामक त्रिशाल कहते हैं। यह धन्य वास्तु है। जिसके पूर्व की ओर शाला नहीं हो और शेष तीन दिशाओं में शाला हो, वह सुक्षेत्र है और यह धन, पुत्रादि प्रदान करने वाला है। जिसके दक्षिण की ओर शाला नहीं हो और शेष तीन दिशाओं में हो उसे चुल्ली कहा जाता है यह वास्तु धन का विनाश करता है। जिसमें पश्चिम की ओर शाला नहीं हो और शेष तीन ओर हों, उसे पक्षघ्न नामक त्रिशाल वास्तु कहा जाता है, यह पुत्र नाश करता है और वैर बढ़ाता है।[1]

स्पष्टार्थचक्र

शाला विहीन दिशा	**त्रिशाल**	**फलाफल**
पूर्व दिशा	सुक्षेत्र	ऋद्धि
दक्षिण दिशा	चुल्ली	अर्थहानि
पश्चिम दिशा	ध्वंस	सन्ततिक्षय, वैरवर्द्धन
उत्तर दिशा	हिरण्यनाभ	धनागम

1. **तथा च वराह**- उत्तरशालाहीनं हिरण्यनाभं त्रिशालकं धन्यम्। प्राक्शालया वियुक्तं सुक्षेत्रं वृद्धिदं वास्तु॥ याम्याहीनं चुल्ली त्रिशालं वित्तनाशकरमेतत्। पक्षघ्नमपरया वर्जितं सुतध्वंसवैरकम्॥ (बृहत्संहिता 53, 37-38)
तथैव किरणाख्यतन्त्रे - शस्तं हिरण्यनाभाख्यं हीन चोत्तरशालया। सुक्षेत्रं पूर्वतो हीनं शालयां वृद्धिदं मतम्॥ चुल्ली दक्षिणया हीनं धनार्थप्राणनाशनम्। यत्स्यादपरया हीनं पक्षघ्नं तत्सुतान्तकृत्॥ (सविवृत्तिबृहत्संहितायां तत्रैव)

इसी प्रकार मत्स्यपुराण में इनके नाम क्रमशः धान्यक, सुक्षेत्र, विशाल और पक्षघ्न आए हैं।[1]

अथ द्विशालभवनवर्णनम्-

प्राक्पाश्चात्यविहीनके कलहमुद्वेगं च 4काचाभिधे
याम्योदग्रहितेऽर्थसिद्धिरुदिता सिद्धार्थकाख्ये द्विके।
प्रागादिद्वितयोनिते क्रमवशान्मृत्युं भयं विक्रमं
चार्थाप्तिं प्रवदन्त्यतः क्रमवशाद् याम्यादिकं कल्पयेत्॥ 29॥

(अब द्विशाल भवनों का वर्णन किया जा रहा है) ऐसी शाला जो पूर्व और पश्चिम में शाला से रहित हो 'काच' कही जाती है। ऐसी शाला कलह और उद्वेग को उत्पन्न करने वाली है। दक्षिण और उत्तर से रहित द्विशाला को 'सिद्धार्थ' कहा जाता है। यह अपने नामानुसार ही धन की सिद्धि देने वाली है। पूर्व आदि से क्रम से प्रारम्भ कर बनने वाली द्विशालाएँ मृत्य, भय, विक्रम और धनागम में सहायक मानी गई हैं, ऐसे में याम्यादिक या दक्षिण के क्रम से द्विशालाओं का कार्य करवाया जाना चाहिए।

विशेष - सिद्धार्थादि नाम मत्स्यपुराण, बृहत्संहिता आदि में आए हैं। मत्स्यपुराण में कहा गया है कि दक्षिण-पश्चिम दो शालाओं से युक्त भवन को धन-धान्यप्रद कहा जाता है, यह मनुष्यों के लिए कल्याणकारी तथा पुत्रप्रद होता है। पश्चिम-उत्तरशाला वाले भवन को यमसूर्य कहा गया है जो मनुष्यों के लिए राजा और अग्नि भयकारी तथा कुल का विनाशक होता है। जिस भवन में केवल पूर्व-उत्तर की ही दो शालाएँ हों, उसे दण्ड कहा जाता है। यह अकालमृत्यु और शत्रुपक्ष से भयोत्पादक होता है। पूर्व-दक्षिण की शालाओं से युक्त द्विशालभवन धन कहा जाता है। यह शस्त्र व पराजय का भय देने वाला है। केवल पूर्व-पश्चिम की ओर बना हुआ चुल्ली संज्ञक द्विशालभवन मृत्युसूचक और शोककारक होता है। केवल उत्तर-दक्षिण की शाला वाला द्विशालभवन भयकारी होता है अतः उसे नहीं बनवाना चाहिए।[2]

---

1. **सूत वाक्यम्** - सौम्यशालाविहीनं यत् त्रिशालं धान्यकं च तत्॥ क्षेमवृद्धिकरं नृणां बहुपुत्रफलप्रदम्। शालया पूर्वया हीनं सुक्षेत्रमिति विश्रुतम्॥ धन्यं यशस्यमानुष्यं शोकमोहविनाशनम्। शालया याम्यया हीनं यद् विशालं तु शालया॥ कुलक्षयकरं नृणां सर्वव्याधिभयावहम्। हीनं पश्चिमया यत् तु पक्षघ्नं नाम तत् पुनः॥ मित्र बन्धुसुतान् हन्ति तथा सर्वभयावहम्। (मत्स्यपुराण 254, 4-8)
2. **सूत उक्ति** - याम्यापराभ्यां शालाभ्यां धनधान्य फलप्रदम्॥ क्षेमवृद्धिकरं नृणां तथा पुत्रफलप्रदम्। यमसूर्यं च विज्ञेयं पश्चिमोत्तरशालकम्॥ राजाग्निभयदं नृणां कुलक्षयकरं च यत्। उदक्पूर्वे तु शाले दण्डाख्ये यत्र तद्भवेत्॥ अकालमृत्युभयदं परचक्रभयावहम्। धनाख्यं पूर्वयाम्याभ्यां शालाभ्यां यद् शालकम्॥ तच्छस्त्रभयदं नृणां पराभव

प्रकारान्तर से बृहत्संहिताकार का मत है कि जिस शाला के पश्चिम और दक्षिण में शाला हो, उसको 'सिद्धार्थ', जिसके पश्चिम और उत्तर में हो उसको 'यमसूर्य', जिसके उत्तर व पूर्व में हो उसे 'दण्ड', जिसके पूर्व व दक्षिण में हो उसे 'वात', जिसके पूर्व व पश्चिम में हो उसे 'गृहचुल्ली' और जिसके दक्षिण व उत्तर में हो उसे 'काच' संज्ञक वास्तु कहा गया है। सिद्धार्थ वास्तु में धनागम, यमसूर्य में गृहकर्ता की मृत्यु, दण्ड में दण्ड या वध, वात में नित्य कलह, गृहचुल्ली में धन विनाश और काच संज्ञक वास्तु में भ्रातृ या जाति विरोध होता है।[1]

स्पष्टार्थचक्र

शाला विहीन दिशा	द्विशाल	फलाफल
पूर्व-पश्चिम	काच	कलह, उद्वेग
दक्षिण-उत्तर	सिद्धार्थ	धनदायक

इति मनुष्यालयचन्द्रिकायां गृहाणामिष्टदीर्घपरिणाहदीर्घ-
विस्तारशालाभेदादिनिर्णयो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ 4 ॥

इस प्रकार मनुष्यालयचन्द्रिका अन्तर्गत गृहाणामिष्टदीर्घ परिणाहदीर्घविस्तार-शालाभेदादि निर्णय नामक चौथा अध्याय पूर्ण हुआ।

*****

भयावहम्। चुल्ली पूर्वापराभ्यां तु सा भवेन्मृत्युसूचनी ॥ वैधव्यदायकं स्त्रीणामनेकभयकारकम्। कार्यमुत्तरयाम्याभ्यां शालाभ्यां भयदं नृणाम्॥ सिद्धार्थवज्रवर्ज्याणि द्विशालानि सदा बुधैः। (254, 8-14)

1. वराहोक्ति- सिद्धार्थमपरयाम्ये यमसूर्यं पश्चिमोत्तरे शाले। दण्डाख्यमुदक्पूर्वे वाताख्यं प्राग्युता याम्या॥ पूर्वापरे तु शाले गृहचुल्ली दक्षिणोत्तरे काचम्। सिद्धार्थेऽर्थावाप्तिर्यमसूर्ये गृहपतेर्मृत्युः ॥ दण्डवधो दण्डाख्ये कलहोद्वेगः सदैव वाताख्ये। वित्तविनाशश्चुल्यां ज्ञातिविरोधः स्मृतः काचे॥ (बृहत्संहिता 54, 39-41)

1. 'श्मं' क. ग. पाठः 2. 'त्या' क. पाठः 3.'नाभिरिति' क.ख. पाठ 4. 'कोपाभि' ग.पाठ

अथ पञ्चमोऽध्यायः

स्तम्भादिगृहावयवविधयः

अथ वास्तुकार्ये उच्छ्रायनिर्देशमाह-

कुर्याद् गृहाय कृतवास्तुपदं समस्तं मातङ्ग$_{8}$
भास्कर$_{12}$नृपाङ्गुल$_{16}$मात्रतुङ्गम्।
बाह्यान्तराङ्गणगतान् गमनाय
मध्यनिम्नत्वदोषविरहाय च मृच्छिलाद्यैः ॥ 1 ॥

(अध्यायारम्भ गृहादि में आङ्गन और मध्य स्थान के निम्नस्थ होने के दोष के निवारण का उपाय कहते हैं) गृह के समस्त वास्तुपद को मध्य और निम्नत्व दोष से मुक्त करना चाहिए। इसके लिए वास्तु को मिट्टी भरकर अथवा पत्थर आदि डलवाकर आठ, बारह या सोलह अङ्गुल ऊँचा करने का उपाय करना चाहिए। यह इसलिए भी आवश्यक है कि बाह्य और भीतर के आङ्गन और मध्य भाग का निम्नत्व नहीं रहे (अन्दर भरने वाला पानी भी बहकर बाहर निकल जाए)।

अथोपपीठप्रणालञ्च-

रक्षाशोभोच्छ्रयार्थं सकलनिलयमासूरतोऽधः समन्तात्
कुर्यादेक$_{1}$द्वि$_{2}$हस्तप्रविततमुपपीठं गजा$_{8}$द्यङ्गुलाढ्यम्।
अन्तर्भागे तु गर्ताङ्गणमथ वृषजं केतुजं वायताढ्यं
दिश्यैशान्यामथोदङ्मुखमपि रचयेत् प्राङ्मुखं वाम्बुमार्गम् ॥ 2 ॥

(अब भवन में उपपीठ की आवश्यकता और उपयोग के विषय में कहा जा रहा है) प्रत्येक भवन में रक्षा, शोभा और ऊँचाई के निमित्त मासूर अथवा अधिष्ठान के नीचे एक हाथ से लेकर दो हाथ चौड़ाई वाली और आठ-आठ अङ्गुल बढ़ते हुए क्रम से एक अतिरिक्त उपपीठ बनानी चाहिए। भवन में जल निष्कासन के लिए प्रणाल या नाली बनाई जानी चाहिए। यह गर्त आङ्गन में होनी ही चाहिए और उत्तर-दक्षिण क्रम से

विस्तार लिए हो। इसमें वृष या ध्वज योनि हो। पानी का रास्ता या प्रणाल ईशान कोण में उत्तर अथवा पूर्व की ओर मुख वाला बनाएँ।

अथोपपीठोच्छ्रय:

गेहाधिष्ठानोच्चतुल्यो रसा$_{6}$द्य$_{7}$ष्टा$_{8}$ङ्का$_{9}$शां$_{10}$शैरूनितौ वा यथेष्टम्।
मर्त्यागारस्योपपीठोच्छ्रयः स्यात् तत्तद्भागैः पादुकाद्यं विधेयम्॥ 3॥

मानव वास्तु में उपपीठ की ऊँचाई प्रथमतः अधिष्ठान के तुल्य ही रखनी चाहिए अथवा यदि उसके छह भाग करें तो पाँच भाग, सात करें तो छह, आठ करें तो सात, नौ करें तो आठ या फिर दस भाग करें तो नौ भाग के बराबर रखना चाहिए। इसी अनुपात में पादुक का निर्धारण किया जाना चाहिए।

विशेष - मयमतम् में उपपीठ का वर्णन आया है। यह अधिष्ठान के नीचे बनाई जाती है। इस दृष्टि से यह नींव के ऊपर भूमि से ऊपर की निर्मिति है जबकि भवन में निम्नस्थ रचना है। उपपीठ के निर्माण के तीन प्रयोजन हैं- गृह की रक्षा, ऊँचा बनाना और शोभाकारक। उपपीठ की ऊँचाई अधिष्ठान के तुल्य या उसकी तीन चौथाई, आधी, पञ्चांशद्वय, सपाद, सार्ध, पादोन या द्विगुणी रखी जाती है। उसका निर्गम अधिष्ठान के जन्म तक की ऊँचाई को दस भागों में विभाजित कर एक-एक भाग बढ़ाते हुए एक से पाँच भाग तक रखें या इसे एक, डेढ़, दो या तीन दण्ड तक रखें। इसे पाद के बाहर अधिष्ठान की जगती के निर्गम के बराबर भी रखा जा सकता है। इसके तीन प्रकार होते हैं- वेदीभद्र, प्रतिभद्र और सुभद्र।[1]

अथ मल्लीकुट्टिमाह-

गर्तप्राङ्गणतारतोऽधिककृतायामार्धमप्युत्तरे
निक्षिप्यार्धमवाक् च मध्यचतुरश्रेष्टा$_{8}$ष्ट$_{8}$कोष्ठात्मके।
मल्लीकुट्टिममापसञ्ज्ञपदयोः कुर्यात् पदे दक्षिणे
यद्वा तत्पुनरापवत्सपदयोश्चोदक्पदेऽन्तर्वृतौ[1]॥ 4॥

(गृह में वनमल्लिका, चमेली, तुलसी आदि की पौध के रोपण के लिए बनाए

---

1. **तथा च मय** - अधिष्ठानस्य चाधस्तादुपपीठं प्रयोजयेत्। रक्षार्थमुन्नतार्थं च शोभार्थं तत् प्रवक्ष्यते॥ समं त्रिपादमर्धं वा पञ्चांशद्वयशमेव वा। सपादं वाथ साध्रं वा पादोनद्विगुणं तु वा॥ द्विगुणं वा प्रकर्तव्यमात्ताधिष्ठानतुङ्गतः। उत्सेधे दशभागे तु एकेनैकेन वर्धनात्॥ पञ्चांशान्तमधिष्ठानजन्माद् बाह्ये तु निर्गमम्। दण्डं वा सार्धदण्डं वा द्विदण्डं वा त्रिदण्डकम्॥ अधिष्ठानजगत्या वा समं तत्पादबाह्यकम्। वेदीभद्रं प्रतिभद्र सुभद्रं च त्रिधा मतम्॥ (मयमतम् 13, 1-5)

जाने वाले स्थान के विषय में कहते हैं) गृह का जो भी गर्त आङ्गन हो, उसकी चौड़ाई के उत्तर तथा दक्षिण में आधा-आधा आयाम या विस्तार को छोड़कर मध्य भाग को आठ-आठ के क्रम से, 64 भागों में विभाजित करें अर्थात् चौंसठपद वास्तु की रचना करें। इसमें (देवादि के न्यास के क्रम से) दो पद वाले आप संज्ञक पद के उत्तर या इतने ही पद वाले आपवत्स के दक्षिण में मल्लिकुट्टिम या पौधरोपण योग्य स्थान रखें।

'वास्तुविद्या' में कहा गया है कि चौंसठपद वास्तु की रचना करें और उसके मुख से आठ पद कम करें। इस प्रकार दो पद उत्तर तथा एक पद पूर्व में त्यागकर उचित पद पर मल्लिकाकुट्टिम या गृहदेवालय (तुलसी-क्यारा, पौधशाला भी) का निर्माण करना चाहिए, ऐसा ज्ञानीजनों का कहना है।[1]

अन्यदप्याह-

केतूत्थं तुल्यताराततिजलनिधि$_{4}$कोणं च वस्व$_{8}$ष्टि$_{16}$कोणं
वृत्तं वा सोपपीठाद्यवयवसहितं कैरवाद्यन्वितं वा।
गेहाधिष्ठानतुङ्ग कुहचिदपि तदूर्म्यादिरुद्रान्त$_{11}$भागै-
र्हीनं वा रज्जुवेधाद्यपगतमुदितं मल्लिकाकुट्टिमं तत्॥ 5॥

मल्लिकुट्टिम (जैसा कि कई देवालयों, गृहों में तुलसी क्यारा, पथवारी, पौधे के लिए स्थण्डिल आदि होते हैं) को ध्वज योनि से बनवाएँ। इसको चतुरस्र या चौकोर, अष्टकोणाकार, षोडशकोणाकार, वृत्ताकार बनवाया जाना चाहिए और आधार से ही उपपीठ आदि के अवयवों अथवा कुमुदबन्ध सहित हों। इसकी ऊँचाई आदि के प्रसङ्ग में ज्ञातव्य है कि इसको अधिष्ठान की ऊँचाई के समानानुपात या अधिष्ठान की ऊँचाई को यदि छह से लेकर एकादश (6, 7, 8, 9, 10, 11) भागों में विभाजित करें तो इसको केवल एक भाग ही न्यून (5, 6, 7, 8, 9, 10) रखना चाहिए। इसको रज्जुवेध से बचाना चाहिए।

तत्राह मासूरोपनाह-

उपपीठोच्चसमोच्चा मासूरोपानहं करोतु दृढम्।
तदुपरि परितः पादुकमथ कुर्यादुक्तपत्रमानान्ता॥ 6॥

(अब मासूर के उपानह या पदत्राण के विषय में कहा जाता है) गृह में मासूर

---

1. अङ्गणेन मुखायामहीनेनाष्टकृतेः पदम्। कृत्वा पदद्वयं त्यक्त्वा सौम्ये प्राच्यां पदं त्यजेत्॥ पदेऽन्यस्मिन् प्रकर्तव्यं मल्लिकाकुट्टिमं बुधैः। (वास्तुविद्या 13, 11-12)

का उपानह या निम्नस्थ भाग को उपपीठ की ऊँचाई के समतुल्य रखें और दृढ़ रखें। उसी पर पादुक की रचना पत्रमान के अन्त तक रखना चाहिए।

विशेष - उपानह के प्रसङ्ग में मय का निर्देश है कि मूल आधार को एक हाथ ऊँचा उठाकर ठोस बनाया जाना चाहिए। इसके ऊपर जो उपान बनाया जाता है वह जन्म कहा जाता है।[1]

तत्रैव पत्रमानमाह-

सर्वत्रोत्तरबाह्यपार्श्वविहितालम्बाद् बहिः कुट्टिम-
स्याष्टाष्टा$_8$ङ्गुलनिष्क्रमो य उदितस्तत् पत्रमानं विदुः।
यद्वा तद्द्वि$_2$गुणं च तत्त्रि$_3$गुणितं वा तद्विधेयं तथै-
वावाच्युत्तरयोः षड्$_6$ङ्गुलमदो द्वन्द्वं$_{12}$ प्रतीच्यां क्वचित्॥ 7॥

(अब पत्रमान के विषय में कहा जाता है) विद्वज्जनों ने सभी गृहों में कुट्टिम या भित्ति के बाह्य भाग और पार्श्व में आठ-आठ अङ्गुल के उदय वाले निष्क्रम को पत्रमान माना है। यह आठ से दुगुना अर्थात् 16 और तीन गुना अर्थात् 24 अङ्गुल भी हो सकता है। (यह मान सम्भवतः पूर्व का है) दक्षिण और उत्तर में यह मान 6 अङ्गुल होगा जबकि पश्चिम और अन्यत्र दुगुना अर्थात् 12 अङ्गुल प्रमाण से रखना चाहिए।

तत्राह मानप्रमाणम्-

तत्पत्रमानमसमं च समं च बाह्येऽप्यन्तश्च तद्विहितयोनिकनाहयुक्तम्।
मर्त्यालयेषु विहितं सुरमन्दिरान्तहाराप्रदीपनिलयेषु च गोपुरेषु॥ 8॥

(पत्रमान के मान के विषय में जानें कि) मानव वास्तु हो अथवा देवालय, अन्तहार प्रदीप (दीपाधार स्तम्भ, प्रदीप निलय) या फिर गोपुर हो, उनके लिए भीतर और बाहर पत्रमान सम या विषम रखा जा सकता है किन्तु नाह या परिधि उसकी योनि के अनुरूप होनी चाहिए।

अथ प्राङ्गण तेषां स्वरूपयोन्याऽयामाह-

प्राहुर्गेहचतुष्कपादुकबहिर्भागं बुधाः प्राङ्गणं
याम्योदग्विहितायतं च चतुरश्रं केतुयोन्यन्वितम्।
भूम्य$_1$श्वा$_2$म्बुधि$_4$नाग$_8$रन्ध्र$_9$दिननाथा$_{12}$ष्टद्वि$_{16}$सङ्ख्याङ्गुलै-
रेक$_1$द्वि$_2$त्रि$_3$करैस्तथैव गुणविस्तारादिभिर्वायतिः॥ 9॥

---

1. उन्नतां प्रकृतिं भूमिं कृत्वा हस्तप्रमाणतः। घनीकृत्य तदूर्ध्वस्थमुपानं जन्म चोच्यते॥ (मयमतम् 14, 9)

(अब प्राङ्गण, उसके स्वरूप, योनि, आयाम आदि के विषय में कहा जा रहा है) विद्वान लोग चतु:शाला विन्यास के अनुसार चारों ही गृहों के पादुक के बाह्य भाग को प्राङ्गण कहते हैं। यह उत्तर-दक्षिण आयत, चतुरस्र होता है। इसका निर्माण ध्वज-योनि से युक्त किया जाना चाहिए। प्राङ्गण का विस्तार, लम्बाई-चौड़ाई के अनुसार एक, दो, चार, आठ, नौ, बारह अथवा सोलह की संख्या से अङ्गुल मान से अधिक अथवा यदि हस्तमान या गुणांश मान का प्रयोग किया जाए तो एक, दो, तीन- इस क्रम से विस्तृत किया जाता है।

अथ गृहयोनि गमनस्य नियमाह-

सूत्रैः प्राङ्गणगेहमध्यविहितैरन्योन्यविद्धैर्भवेत्
तद्गेहस्थितपुत्रपौत्रविलयस्तस्माद् गृहाणां क्रमात्।
कर्तव्यं गमनं प्रदक्षिणतया प्रागादितो वह्नि$_{3}$र-
न्धा$_{9}$द्री$_{7}$ष्व$_{5}$ङ्गुलकैः स्वयोनिजनकैरावश्यके वा यवै॥ 10॥

(अब गृह की योनि और गमन का नियम कहा जाता है जो सूत्र-विद्ध के प्रसङ्ग में विचारणीय है) गृह के आन्तरिक प्राङ्गण के मध्य सूत्र द्वार और अन्य योनि द्वारा कोई वेध हो जाए तो वह अशुभ है। इस वेध से वहाँ रहने वाले व्यक्ति के क्रमशः पुत्र, पौत्र अर्थात् पीढ़ी-दर-पीढ़ी विनाश होता चला जाता है या वंशवर्द्धन नहीं होता। इसलिए यह कर्त्तव्य है कि पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर इस प्रदक्षिण क्रमानुसार ही गमन या गृह की मध्य रेखा हो जो कि 3, 9, 7 व 5 अङ्गुल मान से हो और यदि विशेष ही आवश्यकता हो तो यव मान में वृद्धि की जाकर स्व-योनिगत करना चाहिए। गमन पूर्व से प्रारम्भ कर प्रदक्षिण क्रम से करना चाहिए।

विशेष - यहाँ गमन से आशय भूखण्ड की रेखा से है, जैसा कि पूर्व में भी कहा गया है। भूखण्ड की मध्यरेखा और अन्यान्य दिशाओं में निर्मित शाला की मध्यरेखा समसूत्र में कदापि नहीं होनी चाहिए। यह अशुभ माना गया है।

स्पष्टार्थचक्र-

गमन	दूरी का प्रमाण
पूर्व शाला	3 अङ्गुल
दक्षिण शाला	9 अङ्गुल
पश्चिम शाला	7 अङ्गुल
उत्तर शाला	5 अङ्गुल

योन्यार्थ अन्योपायाह-

गत्यङ्गुलानि निजदिग्वहितानि यानि
तान्यष्ट$_{8}$तद्द्विगुणि$_{16}$तत्रिगुणाङ्गुलैश्च$_{24}$।
युक्तानि तद्द्विगुचितानि भवन्ति यत् त-
दल्पान्तरालनिलयादिषु तानि युञ्ज्यात्॥ 11॥

(योनि-साधन के लिए पुनः विशेष कहा जा रहा है) पूर्व में कहे गए गमन के अङ्गुल में दिशानुसार गुणित विधि से यदि (प्रथम को छोड़कर शेष में) क्रमशः 8, 16 और 24 अङ्गुल प्रमाण को अतिरिक्त जोड़ दिया जाए तो यह प्रमाण दिशा सम्मत हो जाएगा। इसका उपयोग अल्प अन्तराल के गृहों में किया जा सकता है।

विशेष - यह विधि योनि निष्कासन के लिए कही गई है क्योंकि पूर्व दिशा के लिए जैसे कि तीन अङ्गुल गमंन का प्रमाण कहा गया है, उसमें निर्देशानुसार यदि आठ जोड़ दिया जाए तो मान क्रमशः 11 हो जाएगा और इस विधि से पूर्व शाला की योनि 1 अङ्क के अनुसार ध्वज हो जाएगी।

अथान्तराल वर्णनम्-

दिक्कोणालयभेदकृन्ति च भवन्त्यष्टा$_{8}$न्तरालानि तद्-
बाहुल्यं तु धनक्षयाय हि भवेदत्यल्पता व्याधये।
मृत्युर्भित्तिविरोधनेऽन्तरविहीनत्वादतः प्रायशो
नेष्टं गेहरसां$_{6}$शतोऽधिकतरं द्वि$_{2}$त्र्य$_{3}$ङ्गुलोच्चोनितम्॥ 12॥

किसी भी प्रधान गृह में दिशा सम्मत शाला और कोण के कक्ष का भेद करने वाले आठ अन्तराल होते हैं। इससे अधिक अन्तराल गृह में हो तो धन का क्षय करने वाले और कम अन्तराल व्याधिकारक होते हैं। नियम के विपरीत यदि इन अन्तरालों का भित्ति से विरोध हो या स्पर्श करे तो मृत्यु समझनी चाहिए क्योंकि उनमें अन्तर स्पष्ट नहीं होता है। ऐसे में अन्तराल का विस्तार बहुत अधिक नहीं रखना चाहिए। यह विस्तार गृह की कुल लम्बाई के छठे अंश से दो अथवा तीन अङ्गुल ऊँच-नीच का हो सकता है।

अन्तरालोपरान्त पादमानमाह-

नृणां धामनि पादमानमुदितं स्वस्वोत्तरोपानहो-
र्मध्यं साङ्घ्रि$_{6}$करत्रि$_{3}$कोन्मितमिदं त्वल्पालये दृश्यते।

गेहव्याससमं तदर्धसहितं व्यासाब्धि$_{4}$षट्$_{6}$सप्त$_{7}$व-
स्व$_{8}$ङ्का$_{9}$शांश$_{10}$युतं$_{11}$ च तैर्विरहितं चैवं मुनीन्द्रा जगु: ॥ 13 ॥

(अन्तराल के विवरण के बाद अब पादमान कहा जाता है) लोगों के गृहों में पादमान से आशय है उस गृह के उपनाह और उत्तर के बीच का उदय अथवा ऊँचाई। यदि गृह का आकार, विस्तार आदि अल्प हो तो पादमान 3 हस्त 6 अङ्गुल का रखा जाएगा। मुनियों का मत है कि पादमान को किसी गृह की चौड़ाई के बराबर रखना चाहिए अथवा उसकी चौड़ाई का 1 1/4, 1 1/6, 1 1/7, 1 1/8, 1 1/9, 1 1/10, 3/4, 5/6, 6/7, 7/8, 8/9 अथवा 9/10वाँ भाग हो सकता है अर्थात् सामान्यतया इसे आवास की कुल चौड़ाई से पौना अथवा डेढ़ा रखा जा सकता है, इस मान के विपरीत नहीं।

अथाधिष्ठानप्रमाणमाह-

भक्तेऽस्मिन् पादमाने गुण$_{3}$चतु$_{4}$रिषु$_{5}$षट्$_{6}$सप्त$_{7}$नागा$_{8}$ङ्क$_{9}$दिग्भि$_{10}$-
स्तेष्वेकांशो भवेत् कुट्टिममपि च तथेध्मांशिते वा रसांश:$_{6}$।
नन्दद्वन्द्वै:$_{18}$ शरांशो$_{5}$ दिनकरयुग$_{24}$भक्तेऽद्रि$_{7}$भागो मुनीन्द्रै$_{7}$-
र्द्वे$_{2}$वंशं तिथ्यंशिते$_{15}$स्याज्जलधि$_{4}$परिमितो विश्व$_{14}$भक्तेऽपि चैवम्॥ 14 ॥

(अब गृह में अधिष्ठान के प्रमाण के विषय में कहा जाता है) किसी गृह में अधिष्ठान (कुट्टिम) का प्रमाण कितना हो, इसके लिए पादमान को 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9 या 10 भागों में विभाजित करें तो उसमें एक भाग का अधिष्ठान होगा। इसी प्रकार एक अन्य प्रकार से यदि 21 भाग किए जाएँ तो छह भाग, 18 भाग हों तो 5, 24 भाग हो तो 7, सात भाग में विभाजन पर 2 और चौदह अथवा पन्द्रह भाग में बाँटें तो 4 भाग का अधिष्ठान का प्रमाण होगा, ऐसा जानना चाहिए।

पादमान और अधिष्ठान के भागों का स्पष्टार्थचक्र

पादमान	3	4	5	6	7	8	9	10	21	18	24	7	14/15
अधिष्ठान	1	1	1	1	1	1	1	1	6	5	7	2	4/4

पुनरपि मासूरमानमाह-

मासूरमानानि चतुर्दशैवं$_{14}$ भवन्ति तेभ्य: पृथगूनिताश्चेत्।
रसा$_{6}$द्रि$_{7}$नागा$_{8}$ङ्क$_{9}$दशे$_{10}$शभागाश्चतुर्युताशीति$_{84}$मितानि सन्ति॥ 15 ॥

इस प्रकार मासूर अथवा आधार तल (अधिष्ठान या कुट्टिम) के कुल 14 प्रकार

के मान कहे गए हैं। पूर्व में कहे गए निर्देश के अनुसार यदि इन सभी चौदह मानों के छह, सात, आठ, नौ, दस और ग्यारह अंशों में से एक खण्ड को अलग से मान किया जाए (अर्थात् 5/6, 6/7, 7/8, 8/9, 9/10, 10/11) तो इन छह भेद से सभी 84 प्रकार के अधिष्ठान मान-प्रमाण लब्ध हो जाते हैं।

अथाधिष्ठानाङ्ग कथ्यते-

इष्टाधिष्ठानमाने नव$_9$भिरथ विभक्ते त्रि$_3$भिः पादुकोच्चं
षड्भिः$_6$ कुर्याज्जगत्युच्छ्रयमथ नयना$_2$द्र्यंश$_7$कैर्वा क्रमेण।
द्वेधैवं$_2$ मञ्चकं स्यात् प्रतिगलरहितं सर्वतः पादुकस्य
स्वोच्चाङ्घ्र्यूनार्धवह्न्यंशत$_3$ इह शर$_5$भक्ते त्रि$_3$भिर्निष्क्रमो वा॥ 16॥

(अब अधिष्ठान के अङ्गों के विषय में कहा जाता है) यदि किसी भवन के अधिष्ठान की अपेक्षित ऊँचाई को 9 से विभाजित किया जाए तो उसमें से 3 भाग पादुक और 6 भाग जगती की ऊँचाई मानी जाती है या फिर 2 अथवा 7 भाग के भी किए जा सकते हैं। यहाँ मञ्चक दो प्रकार का होता है जो प्रति और गल रहित होता है। पादुक के बाह्य छोर या निष्क्रम का प्रमाण सर्वत्र ही उसके उदय (ऊँचाई) का पौन भाग वाला, आधा अथवा एक तिहाई प्रमाण का ही होगा। यह पादुक के प्रमाण को पाँच हिस्सों में बाँटने पर उसका तीसरा अंश भी हो सकता है।

तत्राह पादुकजगतीप्रतिगलप्रमाणम्-

रसांशिते$_6$ वाञ्छितकुट्टिमोच्चे प्रकल्पयेत् पादुकमेक$_1$तोऽथ।
त्रि$_3$भिर्जगत्युच्छ्रयमेक$_1$तस्तद्गलं प्रतिं तद्वदिहैक$_1$तोऽपि॥ 17॥

(अब अधिष्ठान के उदय से पादुक, जगती, गल और प्रति के प्रमाण के विषय में कहा जा रहा है) किसी भी गृह में कुट्टिम अथवा अधिष्ठान की जो ऊँचाई हो, उसे छह से विभाजित करना चाहिए। जो प्रमाण लब्ध हो, उसमें से एक भाग का पादुक, तीन भाग की जगती, एक भाग गल और एक ही भाग की प्रति रखनी चाहिए, इस प्रकार छहों भाग का विभाजन समझना चाहिए।

अथान्य प्रमाणमाह-

सायकांशिनि$_5$ तु कुट्टिमोच्छ्रये पादुकोच्छ्रयमिहैक$_1$भागतः।
द्व्यंशतोऽथ$_2$ जगतीं गलं प्रतिं चैकतो$_1$ विरचयेदथेति वा॥ 18॥

(एक अन्य प्रमाण कहते हैं) यदि कुट्टिम के उदय को पाँच से विभाजित किया

जाता है तो एक अंश का पादुक, दो भाग की जगती, एक भाग का गल और इतना ही प्रति को रखना चाहिए।

अथ कुट्टिमचतुर्दशेत् विभाजनोपरान्त पादुकादीनां प्रमाणमाह-

देवेन्द्रांशिनि$_{14}$ कुट्टिमे द्वितयतः$_{2}$ सम्पादयेत् पादुकं
षड्भागै$_{6}$र्जगतीगलाङ्घ्रिमिलया कुर्यादधो वाजनम्।
अश्विभ्यां$_{2}$ गलमूर्ध्ववाजनमवन्यंशेन नेत्रांशतः$_{2}$
प्रत्युच्चं गलमञ्चकाऽभिधमिदं सद्वाजनं भूतिकृत॥ 19॥

(अब चौदह से विभाजन करने और अन्य अङ्गों के प्रमाण के विषय में कहा जा रहा है) यदि कुट्टिम को 14 भागों में बाँटा जाए तो 2 अंश पादुक प्रमाण, 6 अंश की जगती, 1 अंश से अधो वाजन (जो कि गल के नीचे स्थापित होता है), 2 अंश गल, 1 अंश ऊर्ध्व वाजन, 2 अंश प्रति की ऊँचाई रखी जाती है। इस प्रमाण से वाजन समेत एकांश से गल मञ्चक को जानना चाहिए, यह सुखद है।

अन्यदप्याह-

एवं त्रिधोक्तं$_{3}$ गलमञ्चकाख्यं प्रतिर्जगत्या समनिष्क्रमैव।
तेषां गलान्तर्गमनं गलोत्सेधाङ्घ्र्यंशतः$_{4}$ स्याद् गलमञ्चकानाम्॥ 20॥

इस तरह पूर्वोक्तानुसार गलमञ्च के तीन प्रकार कहे गए हैं। इनमें बाह्य प्रति को जगती के समनिष्क्रम अथवा बराबर ही रखना चाहिए और आन्तरिक भाग जो गल हैं, को गल की ऊँचाई का एक चौथाई रखना चाहिए।

अधिष्ठानोपरान्त स्तम्भप्रमाणाङ्ग च-

कृत्वाधिष्ठानमेवं दृढतरमथ तच्छेषितं पादमानं
विद्यादङ्घ्र्युच्चमस्मिन्नृतु$_{6}$तुरग$_{7}$भुजङ्गा$_{8}$ङ्क$_{9}$पङ्क्तीश$_{10}$भक्ते।
एकांशेनान्वितं$_{1}$ वा विरहितमथवेतीप्सितात्ताङ्घ्रिदीर्घादोमा-
सञ्ज्ञाङ्घ्रिपीठोच्चयमपनयता पोतिकाया घनं च॥ 21॥

(अब स्तम्भ के प्रमाणादि के विषय में कहा जा रहा है) जब अधिष्ठान सुदृढ़ बन जाए तो स्तम्भ रचना करनी चाहिए। भवन में जो भी पादमान अवशिष्ट होता है, उसको स्तम्भ की ऊँचाई माना जाना चाहिए। अधिष्ठान को यथा कार्य 6, 7, 8, 9, 10 अथवा 11 से विभाजित करके एक अंश न्यूनाधिक करते हुए भी स्तम्भ की ऊँचाई प्राप्त

की जा सकती है। स्तम्भ की अभीष्ट लम्बाई में से पादपीठ की ऊँचाई, जिसकी संज्ञा 'ओमा' है और 'पोतिका' की मोटाई को कम कर दिया जाना चाहिए। पोतिका स्तम्भ के ऊपर रखी जाती है।

अथ स्तम्भपीठस्य ओमाख्यस्य प्रमाणमाह-

विन्यस्येत् पादपीठं सुदृढतरशिलासारदारुप्रक्लृप्तं
मासूरोपर्यथाब्ध्यश्रक$_{4}$वसु$_{8}$नृप$_{16}$कोणं क्वचिद् वर्तुलं वा।
स्तम्भाधोभागकर्णोन्मितविततदर्धोच्छ्रयं वा तदङ्घ्र्य-
ग्न्यर्धांशोनं च पद्मोपममपि कुहचिद् वाजनाद्यन्वितं च॥ 22॥

(अब स्तम्भ की पीठ पर स्थापित करने वाली ओमा नामक पादपीठ के विषय में कहा जा रहा है) अधिष्ठान पर सुदृढ़ शिला से निर्मित, सार की लकड़ी से बना हुआ पादपीठ रखें। यह ओमा चौकोर, अष्टकोणी, सोलहकोणी अथवा वर्तुल-गोलाकार हो सकती है। इसको मासूर से ऊपर लगाया जाए। यह स्तम्भ के नीचे के भाग में कर्ण के बराबर विस्तीर्ण होनी चाहिए। कर्ण से आधी ऊँची अथवा एक तिहाई, एक चौथाई या फिर उससे आधा अंश कम भी हो सकती है। यह पद्म-स्वरूपा या कदाचित् वाजन इत्यादि समेत भी हो सकती है।

विशेष - वास्तुविद्या में कहा गया है कि ओमा की ऊँचाई स्तम्भ के विष्कम्भ या विस्तार से चतुर्थांश, अर्धांश अधिक रखना चाहिए।[1]

अन्यदप्याह-

स्तम्भाः स्वविस्तारहुताश$_{3}$भागप्रकृल्पप्तमूलाग्रशिखासमेताः।
स्थाप्या यथार्हं निजपीठिकोर्ध्वं तद्गर्तसंलग्नशिखाः समस्ताः॥ 23॥

भवन में ऐसे ही स्तम्भों का प्रयोग किया जाना चाहिए जो कि वर्गाकार और मूलाग्र एवं शिखा समेत हो। इनमें शिखा का विस्तार स्तम्भ की कुल चौड़ाई से एक-तिहाई अपेक्षित है। उनको अपनी पीठिका के ऊपर ही समस्त होमादि के साथ ही स्थापित किया जाना चाहिए।

----

1. ओमा विष्कम्भतः कार्या पादेनार्धेन वा युता॥ (वास्तुविद्या 8, 45) ओमेत्यादि। विष्कम्भत इति। स्तम्भस्येत्यार्थम्। विष्कम्भो विस्तारः। पादेनार्धेन वा युतेति। पादः चतुर्थांशः। तथाच ओमोच्छ्रयः स्तम्भविस्तारात् चतुर्थांशेन अर्धांशेन वाधिकः कार्य इति सिध्यति।
अन्यत्र च- स्तम्भमूलघनाः शैला ओमा द्विगुणविस्ताराः। तुर्यश्रा मध्यतोगती दण्डपादेन चोद्गताः॥ (तत्रैव)

अथ स्तम्भे दण्डमानमाह-

स्तम्भोच्चाब्धी$_{4}$षु$_{5}$षड्$_{6}$भूधर$_{7}$वसु$_{8}$नव$_{9}$दिग्रु$_{10}$द्र$_{11}$भागैकतः स्यात्
स्तम्भाधोविस्तृतिस्तद्वसु$_{8}$नव$_{9}$दश$_{10}$रुद्रांश$_{11}$हीनोग्रतारः।
दण्डा'प्यश्रायमेतेन च कुहचिदथो मीयते दारुक्लृप्तौ
कुड्यस्तम्भाग्रतारोऽप्यथ तदवयवाकल्पने दण्डसञ्ज्ञः ॥ 24 ॥

(अब स्तम्भ के अन्य मान-प्रमाण व दण्ड का विवरण कहते हैं) भवन में स्थापित किए जाने वाले स्तम्भ की ऊँचाई की अपेक्षा उसके निम्न भाग की चौड़ाई एक चौथाई, 1/5, 1/6, 1/7, 1/8, 1/9, 1/10 अथवा 1/11 अंश की रखी जानी चाहिए। इसी प्रकार स्तम्भ में नीचे के भाग की चौड़ाई की अपेक्षा ऊपर के हिस्से की चौड़ाई को 1/8, 1/9, 1/10, 1/11वें अंश न्यून रखनी चाहिए। ऊपर जो अग्र भाग होता है उसको 'दण्ड' कहा जाता है। यदि काष्ठ का कार्य किया जाना हो तो भी इस प्रकार से प्रमाण रखना चाहिए। यदि दीवार के स्तम्भ का कार्य किया जाना हो तो अग्र भाग के विस्तार के अनुसार ही उसके अन्य अवयवों की रचना की जानी चाहिए। यह कल्पन दण्ड संज्ञक है।

स्तम्भाग्रभागमूलकर्णातिचतुरश्रकार कथ्यते-

स्तम्भास्तन्मूलतारश्रुतिमितचतुरश्रोर्ध्वभागाः$_{4}$ समस्ता
मूलेऽध्यर्धाग्नि$_{3}$वेदा$_{4}$शुगरस$_{6}$ततिकर्णोन्मिताब्ध्यश्र$_{4}$रूपाः।
मध्ये व्या'सश्रुतिप्रोन्मितकृतचतुरश्रास्तदूर्ध्वाधरोद्यद्-
वस्वश्राः$_{8}$ सर्वतो वर्तुलनृप$_{16}$वसु$_{8}$कोणाश्च यद्वा विधेयाः ॥ 25 ॥

स्तम्भ का अग्र अंश मूल के कर्ण के समतुल्य लम्बमान वाला और चतुरस्र या चौकोर रखना चाहिए और मूल भाग कर्णपत्र की लम्बाई के प्रमाण से साढ़े तीन, चार, सात और छह गुना प्रमाण से चतुरस्र रखना चाहिए। इसी प्रकार मध्य में उसकी ऊँचाई को कर्णपत्र के प्रमाण ही रखें किन्तु वर्गाकार बनाएँ। इस पर अष्टकोण हो किन्तु प्रधानतः स्तम्भ को चौकोर, वृत्ताकार या अष्टकोणीय अथवा षोडशकोणीय बनाया जाना चाहिए।

तत्राह स्तम्भस्य वृत्तादि त्रयविधापरिकल्पनम्-

वृत्तादयस्ते चरणास्त्रयोऽमी$_{3}$ मध्यादधस्ताच्चतुरश्रका$_{4}$ वा।
यद्वा वितानश्रवणोपक्लृप्ततुर्यश्रमूलाश्च तथा विधेयाः ॥ 26 ॥

(अब वृत्ताकार व अन्य स्तम्भों के विषय में कहते हैं) स्तम्भ के तीन चरण होते हैं। नीचे से क्रमशः प्रारम्भिक चरण, मध्य से नीचे का चरण चतुरस्र या चौकोर बनवाना चाहिए अथवा मूल वर्गाकार रखे। इसका प्रमाण कर्ण की चौड़ाई या विस्तार के समतुल्य रखना चाहिए। (अन्य आकार आठ या सोलह कोणीय है)।

स्तम्भप्रमाणार्थे अन्यदप्याह-

अत्युच्चेऽङ्घ्रौ तु तत्तत्यधिचरणदलद्विघ्नविस्तारमासू-
रोच्चोच्चाध्यर्धतुङ्गं रचयतु चरणं कुत्रचिन्मध्यतोऽधः।
कुर्यादेवं शिलाभिः प्रणिगदितसुधाभेदसंमेलिताभि-
र्यद्वा सारेष्टकाभिः क्वचिदखिलसमुत्सेधमर्धोच्छ्रयं वा॥ 27॥

(अब स्तम्भ के विषय में अन्य प्रमाण कहते हैं) ऐसे स्तम्भ जिनका कि उदय अधिक होता है, में ऊँचाई का प्रमाण मासूर के उदय के समतुल्य अथवा डेढ़ गुना हो सकता है। ऐसे प्रसङ्ग में कहीं-कहीं मध्य से निम्न स्थान पर उसकी चौड़ाई को सवाया अथवा डेढ़ गुना भी रखा जा सकता है। भवनों में स्तम्भों को भली भाँति तैयार किए गए चूने, पत्थर अथवा परिपक्व ईंटों से निर्मित करें और यदि कहीं आवश्यकता पड़े तो उक्त सामग्री से पूर्व निर्देश की अपेक्षा आधी अथवा पूरी ऊँचाई के प्रमाण से भी स्तम्भ की रचना की जा सकती है।

विशेष - यहाँ चूना या सुधा का विवरण आया है। मयमतम् (अध्याय 18), विष्णुधर्मोत्तर (खण्ड 3, अ. 92), बृहत्संहिता (56, 1-8), कल्पसूत्र, वास्तुविद्या आदि में भी इस सम्बन्ध में उल्लेख है। मय ने सुधा तैयार करने की विधि दी है, वहीं वास्तुविद्या में भी इसका विवरण आया है। वास्तुविद्याकार का मत है कि स्तम्भ में मध्यखण्ड-कल्पन, केवल उत्तरोत्तर अलङ्करणों का विन्यास, पाषाणमय अधिष्ठान, विशेष लेप या चूना युक्त अनुचित दीवार और रूपोत्तर अथवा लघुवाजन परिकल्पन- ये पाँच मनुष्यभवन की दृष्टि से वर्जित माने गए हैं। मान्यता यह भी है कि केवल शिलामय अधिष्ठान ही वर्ज्य है अन्य चार उत्तम हो तो लक्षित होते हैं।[1]

---

1. अङ्घ्रेस्तथा मध्यखण्डमारूढं भूषणाय च॥ शिलाबद्धमसूरं च सुधामिलितभित्तिकम्। पञ्चैतान्यपि निन्ध्यानि दृश्यन्ते नरसद्मनि॥ (वास्तुविद्या 8, 54-55)

सुधायोगादि सङ्ग्रहस्तु— पूर्वं द्व्यंशं करालं मधुघृतकदलीनालिकेराम्बुमाषव्योषं वार्क्षः कषायः स्तनजदधिगुलत्रैफलाम्भांसि चैवम्। वृद्धान्यंशक्रमेण स्फुटशशिधवलं चूर्णमुक्तं शतांशं पिष्टं सर्वं यथावद् भवति वरसुधां वज्रबद्धं यथैव॥ चतुस्त्रिद्वयमासान्तमुषिता युक्तिमर्दिता। श्रेष्ठमध्याधमा ज्ञेया सुधा सौधादिबन्धनी॥

अथ उत्तरेवाजनप्रमाणमाह-

एकं वाजनमुत्तरस्य यदि तत् स्तम्भान्तराब्ध्यश्रकं
नेष्टं संमतल्पवाजयुते पत्रान्विते चोत्तरे।
स्तम्भा मौक्तिकदामशुण्ड'वलयाद्याढ्यस्तथेष्टास्तयो-
र्गेहाङ्गं च समस्तमुत्तरवशादूर्ध्वाधरस्थं भवेत्॥ 28॥

(अब उत्तर के लिए वाजन आदि का विवरण कहा जाता है। वाजन स्तम्भ और भित्ति के उपर लगाया जाने वाला गृहाङ्ग है जिस पर छत का भार या वजन होता है, इसलिए इसे वाजन कहा जाता है) यदि किसी गृह के स्तम्भ में उत्तर के लिए एक ही वाजन प्रयुक्त होती है तो उसको पाद से चौकोर या वर्गाकार रखना अभीष्ट नहीं होता

अथ कुड्यादिकं शुष्कं नीरन्ध्रं सुसमं मृदु। शुद्धाम्भसादौ प्रक्षाल्य दधिक्षीरगुलान्वितम्॥ बद्धोदकेन चालिप्य व्यपोह्यैकदिनं ततः। सुधां नियोजयेद् युक्त्या यथा यत्रोचितं भवेत्॥ (ईशानशिवगुरुदेव. उत्तर. 33, 66-69) **मयोक्त वज्रलेपविधिः—** करालमुद्रीगुल्माषकल्कचिक्कणसाह्वयाः॥ चूर्णोपयुक्ताः पञ्चैते सर्वकर्मसनातनाः। अभयाक्षबीज मात्रशर्करा स्वार्धचूर्णकाः॥ मुद्गबीजसमा क्षुद्रशर्करा मुद्गमिष्यते। सार्धत्रिपादद्विगुणकिञ्जल्क सिकतान्वितम्॥ चूर्णस्य शर्कराशुक्त्योर्यद् गुल्मासं तदुच्यते। करालं चापि मुर्द्गी च तेन मानेन योजयेत्॥ पूर्वोक्तमात्र सिकताचणकश्चूर्णमानतः। क्रियार्थं पेषितं कल्कं चिक्कणं मस्तु केवलम्॥ निश्छिद्रमिष्टमानेन गोत्रमिष्टकया दृढम्। पूर्वोक्तानां च पञ्चानां विधातव्यं पृथक्-पृथक्॥ तत्र तत्र तदुक्तेन द्रव्येण परिकल्पयेत्। केवलेनाम्भसा पूर्वं पूर्वास्त्रिस्त्रिः प्रकुट्टयेत्॥ क्षीरद्रुमकदम्बाम्राभयात्वग्जलैः पुनः। त्रिफलो दैस्ततस्तद्वन्माष-यूषैस्ततस्तथा॥ संयम्य शर्कराशुक्तिं चूर्णं तत् खातवारिणि। खुरसङ्कुट्टनं कृत्वा स्रावयित्वाथ वाससा॥ कल्कं च चिक्कणं तेन कल्कनीयं विचक्षणैः। दधिदुग्धमाषयूषगुडाज्यकदलीफलैः॥ जलैश्च नालिकेरस्य चूतपक्वरसैः सह। कल्पितं शिल्पिभिर्यत् तद् बन्धोदकमिति स्मृतम्॥ शुद्धिं शुद्धोदकेनादौ कृत्वा बन्धाम्भसा ततः आलिप्य सुधया कार्या नानारूपान्वितक्रिया॥ दग्धेश्च मृण्मयैश्चापि लोहलोष्टैर्यथोचितम्। गोपानस्योपरिष्टात् तुच्छादनीयं विचक्षणैः॥ करालमुद्गिगुल्माषधनमेकैकमङ्गुलम्। कल्कमानं तदर्धेन तदर्धार्धं तु चिक्कणम्॥ (मयमतम् 18, 92-105) तुलनीय- शिल्परत्नम् (पूर्वभागः 14, 58-75)

तथा च विष्णुधर्मोत्तरपुराणे— अतः परं प्रवक्ष्यामि वज्रलेपविधिं तव। तिन्दुकांश्च कपित्थांश्च आम्रान्संहृत्य यत्नतः॥ शाल्मलीनां तथा पुण्यं सल्लकीबीजमेव च। धनुषश्च तथा कल्कं वचां च मनुजेश्वर। एतेषां समवेतानां समानां मनुजोत्तम। तोयमष्टगुणं क्वाथमष्टभागा विशेषतम्॥ ततस्तत्र क्षिपेद्द्रव्यं शृणु तच्च समासतः। मल्लीकानां तु विन्यासं वत्सलस्य च गुग्गुलम्॥ भल्लातकानि बिल्वानि कुर्मुरुं सर्ज मेव च। अतसीं वसुतस्तोऽयं वज्रलेपः प्रकीर्तितः॥ लाक्षां च कुन्दुरुं चैव गृहधूमं तथैव च। कपित्थबिल्वमध्यानि तथा नागफलं नृप॥ बलां च मधुकं चैव किंजापं मदनं तथा। मञ्जिष्ठासल्लकं सर्जं वज्रलेपः प्रकीर्तितः॥ विषाणानि गवां राजन्महिषाणां तथैव च। अजानां च तथा चर्म माहिष्यं गव्यमेव च॥ रसबिम्ब(बिम्बार्कस्तु?)कपित्थास्तु वज्रलेप प्रकीर्तितः। अष्टौ भागास्तु नागस्य कांस्यभागद्वयं तथा॥ रीतिभागं च कथितो वज्रलेपस्तथैव च। सुधा- पक्वा ततः क्लिन्ना गव्यचर्म समन्विता॥ खररोमयुता राजन्वज्रलेपस्तथैव च। तेषामेकैकसंयुक्ताः कार्याः शैल- गृहा नृप॥ पक्वेष्टगताश्चैव स्थायिनो मनुजोत्तम। वज्रलेपयुता ह्येते भवन्त्यपि दृढास्तथा॥ तिष्ठन्ति सुमहाराज संवत्सरशतान्यपि। सहस्राणि च धर्मज्ञ चायुतान्यर्बुदानि च॥ सुधावर्णेन सर्वत्र लेपं दद्यात्तथा बहिः। ततश्च तां सुधां दद्याच्छोभार्थमारिर्मदन॥ वज्रलेपविधानं तु प्रोक्तं सम्यक्तया तव। देवायतनमुख्येषु तथा च भवनेषु च॥ (तृतीयखण्डे 92, 1-15)

किन्तु उत्तर यदि लघु वाजन सहित हो और पत्रोत्तर (ऐसे उत्तर जिनकी पृथुलता उसकी चौड़ाई की अपेक्षा पौन हो) से विजड़ित हो तो यह ज्ञातव्य है कि स्तम्भ को (सुन्दरता के निमित्त) मुक्तामाल, शुण्ड ऊपर किए गज और (एकाधिक) चूड़ियों से अलंकृत किया जाना चाहिए। यहाँ अन्य गृह संरचनाओं को उत्तर के प्रमाण के अनुसार ही रखना उचित होगा।

तत्राह स्तम्भोपरि निवेशनीयेष्ववयवेषु पोतिकाख्यस्य मानम्-

स्तम्भाग्रोत्तरतारयोगदलविस्तारं तथा स्तम्भम-
ध्योद्यद्व्यासततां च तद्दलघनां रूपोत्तरे पोतिकाम्।
स्तम्भाग्रोदितदण्डवह्न्यु$_3$दधि$_4$बाणा$_5$यामिनीं वोत्तर-
व्यासत्रिघ्न$_3$समायतां कलयतु स्तम्भे लसद्वाजनाम्॥ 29॥

(अब पोतिका के मान विषय में कहा जाता है) किसी भी स्तम्भ के शीर्ष पर रूपोत्तर की मदद के लिए 'पोतिका' का विन्यास किया जाता है। स्तम्भ के आगे के भाग की चौड़ाई और उत्तर के योग से आधे प्रमाण से पोतिका की चौड़ाई रखी जाती है अथवा स्तम्भ के मध्य भाग के विस्तार के समान भी इसका आकार किया जा सकता है। इसमें पृथुलता को चौड़ाई की अपेक्षा आधा ही रखना चाहिए किन्तु लम्बाई को तीन, चार अथवा पाँच दण्ड प्रमाण रखें। यहाँ दण्ड का प्रमाण स्तम्भ के आगे का मान ही जानना चाहिए या फिर लम्बाई को चौड़ाई की अपेक्षा तीन गुना रखा सकता है।

विशेष - पोतिका के विषय में ईशानशिवगुरुदेवपद्धति और वास्तुविद्या प्रभृति ग्रन्थों में विस्तृत उल्लेख पाया जाता है। ईशानशिवगुरुदेवपद्धति में स्तम्भ पर स्थापित की जाने वाली पोतिका के लक्षण बताते हुए कहा गया है कि स्तम्भ के विस्तार से तीन, चार या पाँच गुणा मान प्रमाण वाली पोतिका क्रमशः नीच, मध्यम और उत्तम नाम से जानी जाती है। ये क्रमशः नागवृत्ता, पत्रचित्रा और समुद्रोर्मि संज्ञक होती हैं।[1]

---

1. **तथाह गुरुदेवः**— तदूर्ध्वं पोतिका स्थाप्या तस्या लक्षणमुच्यते। सा च स्यात् स्तम्भविस्तारात् त्रिगुणं वा चतुर्गुणम्॥ दीर्घा पञ्चगुणं वापि नीचमध्योत्तमा स्मृता। नागवृत्ता पत्रचित्रा समुद्रार्मिश्च पोतिकाः॥ त्रिविधा नामभिर्ज्ञेयास्तासां लक्षणमुच्यते। स्तम्भव्याससमोत्सेधविस्तारा श्रेष्ठपोतिका॥ शरांशोना मध्यमा स्यादूनद्व्यंशा कनिष्ठिका। भूतेभमकरव्यालरत्नबन्धविचित्रिता॥ वल्लीचित्राग्रपट्टा च सा ख्याता चित्रपोतिका। केवलं पत्रवल्लीभिर्विचित्रा पत्रपोतिका॥ तरङ्गमात्रचित्रा या पोतिका स्यात् तरङ्गिणी। तरङ्गाश्चात्र वेदर्तुवस्वङ्काशादि संख्यया॥ कार्यास्तूभयतस्तुल्याः पट्टिकाछन्नमध्यगाः। त्रिभागे पोतिकोत्सेधे सार्धांशेनाग्रपट्टकम्॥ तदर्धार्धेन तदधः क्षेपच्छायान्वितं भवेत्। तदुच्चार्धात् त्रिभिर्वांशैरंशाभ्यां वात्र कल्पयेत्। स्वव्यासार्धात् त्रिपादाद् वा कुर्यात् तास्वग्रमण्डनम्॥ (ईशानशिवगुरुदेव. पूर्वार्द्ध. 31, 65-73)

वास्तुविद्या में इसका नाम 'बोधिका' भी आया है। पोतिका अपने न्यूनाधिक विस्तार के अनुसार तीन नामों वाली होती है। ये भित्ति के स्तम्भाग्र के आधार पर दण्डसंज्ञक, स्तम्भाग्र विस्तार के अनुसार उशन्तिदण्ड और चरणाग्रप्रतान से दण्ड नाम वाली हो जाती है, जैसा कि ग्रन्थान्तर में कहा गया है। प्रतिलोम क्रम से इनके नाम होते हैं- अधम प्रकार की त्रिदण्ड पोतिका पत्री कही जाती है। मध्यम प्रकार की चतुर्दण्ड पोतिका चित्री नामक और उत्तम प्रकार की पञ्चदण्ड पोतिका महार्णवी संज्ञक होती है।[1]

तथान्य पोतिका प्रमाणम्-

पत्रोत्तरे चेद् वितताङ्घ्रिहीनतीव्रा विधेया खलु पोतिकेयम्।
खण्डोत्तरे तुल्यवितानतीव्रा सर्वाश्च सर्वेषु यथोपशोभम्॥ 30 ॥

इसी प्रकार यदि पोतिका को पत्रोत्तर के लिए प्रयुक्त किया जाना हो तो उसकी पृथुलता और चौड़ाई को पौन अंश से कम रखना चाहिए। यदि खण्डोत्तर के लिए प्रयुक्त करनी हो तो मोटाई को चौड़ाई के समतुल्य ही रखें किन्तु यह ज्ञातव्य है कि सर्वदा पोतिका के समस्त अङ्गों को यथोचित रूप से शोभाजनक रखना चाहिए।

अथ उत्तरायामाह-

स्तम्भाधस्तारभेदप्रकथनविधिनैवोत्तराणां च तारं
स्वाभीष्टं कल्पयेद् वा वसु$_{8}$ वसुयुगला$_{16}$ कोर्मिसङ्ख्याङ्गुलैर्वा।
श्रेष्ठं खण्डोत्तरं तद्विततिसमघनं मध्यमं पत्रसञ्ज्ञं
पादोनोच्चं कनिष्ठं विततिदलघनं तत्तु रूपोत्तराख्यम्॥ 31 ॥

(उत्तर के विस्तार के विषय में कहा जा रहा है) स्तम्भ के निम्नभाग की चौड़ाई के कहे गए प्रमाण के अनुसार ही उत्तर की चौड़ाई को रखा जाए अथवा छह, आठ, बारह या फिर सोलह अङ्गुल भी रखा जा सकता है। यदि उसकी चौड़ाई जितनी ही पृथुलता या मोटाई हो तो वह श्रेष्ठ कोटि की और 'खण्डोत्तर' हो जाती है और यदि

----

1. पोतिका तु त्रिधा ज्ञेया नामभेदेन दैर्घ्यतः। त्रिदण्डा च चतुर्दण्डा पञ्चदण्डा यथाक्रमम्॥ महार्णवी च चित्री च पत्री च प्रतिलोमतः। (वास्तुविद्या 8, 44-45) पोतिकेत्यादि। 'बोधिके'ति क्वचित् पाठः। नामभेदेन दैर्घ्यत इति। दैर्घ्यस्य न्यूनत्वाधिकत्वाभ्यां कृतेन नामभेदेनेत्यर्थः। तादृशं दैर्घ्यमेवाह— त्रिदण्डेनत्यादि। इह दण्डप्रमाणं तु 'कुड्यस्तम्भाग्रतारोऽप्यथ तदवयवाकल्पने दण्डसंज्ञः', 'स्तम्भाग्र-विस्तारमुशन्ति दण्डम्', 'चरणाग्रप्रतानो दण्डः' इत्यादि ग्रन्थान्तरोक्तं ग्राह्यम्। त्रिदण्डादीनां संज्ञा आह—महार्णवीत्यादि। प्रतिलोमत इति। प्रतिलोमक्रममनुसृत्येत्यर्थः। तथाच त्रिदण्डा पोतिका पत्री नामधमा। चतुर्दण्डा पोतिका चित्री नाम मध्यमा। पञ्चदण्डा पोतिका महार्णवी नाम उत्तमेति सिद्धम्। (तत्रैव विवृत्ति)

पृथुलता चौड़ाई से तीन चौथाई रखी जाए तो प्रमाण मध्यम कोटि का होगा और उसे 'पत्रोत्तर' कहा जाएगा। इसी प्रकार अधम या कनिष्ठ कोटि के प्रमाण में उत्तर की पृथुलता चौड़ाई से आधी होती है और उसकी संज्ञा 'रूपोत्तर' होती है।

विशेष - वास्तुविद्याकार का मत है कि रूपोत्तर पर लघु वाजन भी स्थापित किया जा सकता है, जैसा कि कहा जा चुका है। वाजनमान के विषय में ग्रन्थान्तर में यह मत है कि उत्सेध अथवा उदयमान से शिखा तक आधे से ऊपर तक रूपोत्तर वाजन होता है और यदि उस मान को छह से विभाजित कर दो अंश मिलाएँ तो वह महावाजन हो जाता है।[1]

अथ चूलीलूपाश्च-

उत्तरविस्तारघने व्यत्यस्यापि प्रकल्पयेत् क्वापि।
तत्र तु चूलीति मता तस्यामेवार्पयेत लुपाः ॥ 32 ॥

(अब चूली और लुपा के विषय में कहा जाता है) यदि कहीं उत्तर के प्रमाण (पृथुलता और चौड़ाई) को परिवर्तित करना पड़े तो किया जा सकता है किन्तु फिर इसकी संज्ञा 'चूली' हो जाती है। इस पर स्थायी रूप से स्थापित किए जाने वाले अङ्ग का नाम 'लुपा' कहा गया है।

विशेष - वास्तुविद्या में कहा गया है कि सन्धिस्थल के प्रान्तभाग में जहाँ कि लुपाधार होता है, पर स्थापेय चूलिका की मोटाई का व्यास उसके विस्तार से आधा अंश होना चाहिए, जैसा कि प्रमाणिकों ने कहा है तथापि जहाँ पर जैसी आवश्यकता लगे, वैसा प्रयोग किया जा सकता है।[2]

----

1. रूपोत्तरस्य तु क्वापि क्षुद्रवाजनमिष्यते। (वास्तुविद्या 8, 54) रूपोत्तरस्येत्यादि। रूपोत्तरविस्तारादिकमस्मिन्नेवाध्याये पूर्वं प्रकटितम्। क्षुद्र-वाजनमिति। अल्पवाजनमित्यर्थः। अस्य मानं तु—'उत्सेधे विशिखांशिते द्वितयतो रूपोत्तरे वाजनं षड्भक्तेऽल्पमिलांशतो द्वितयतो वा स्यान्महावाजनम्॥' इत्यादिग्रन्थान्तरवचनाद् ज्ञातव्यम्। एवञ्च 'शरांश कृतबाहल्ये तद्द्वयं तस्य वाजनम्' इति पूर्वं यद् वाजनमुक्तं, तद् उक्तक्षुद्रवाजनमहावाजनाभ्यामन्यदेवेति विज्ञायते। क्वापीति। न सार्वत्रिकमिदमित्यर्थः। अत एवेदमुपरि वर्ज्यौ टौ गणयिष्यति॥ (तत्रैव टीकायाम्)
2. व्यासार्धं बहलं कुर्यान्मानोन्मानप्रमाणवित्। प्रायशश्चूलिकादीनां व्यासेनैव विधीयते॥ (वास्तुविद्या 8, 53) व्यासार्धेत्यादि। चूलिका नाम उत्तरविशेषः, यः प्रान्तभागे लुपाधारत्वेन निधीयते। 'परितश्चूलिका न्यसेदि'ति तत्प्रकरणे दर्शनात्। चूलिकाया बहलं घनं स्वव्यासस्य विस्तारस्यार्धांशेन कुर्यादिति पदार्थः। विस्तारस्तु स्वाधारभूतभित्त्याद्यनुसृत इति स इह न प्रकटितः। प्रायश इत्यनेन व्यासात् पादोनं बहलमपि न दोषायेति सूचयतीति साम्प्रदायिकाः। उन्मानम् ऊर्ध्वमानम्। प्रमाणमायामः तथाचाभियुक्ताः— 'ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः। आयामस्तु प्रमाणं स्याद्' इति। एतेन मानोन्मानप्रमाणविदश्चूलिकाघनं तत्र तत्रौचित्यानुरोधेन कल्पयेयुः, सामान्यतस्तु स्वस्वविस्तारार्धेन तत्कल्पनं विहितमित्यभिसन्धिराविष्कृतो भवति। विधीयते इति। बाहल्यमिति शेषः॥ (तस्य टीकायाम्)

चूलिका के विषय में मानसार में कहा गया है कि वृत्तपाद को तीन कर्ण और तीन चूली से युक्त किया जाना चाहिए यह स्वस्त्याकार से संयोजित और दृढ़ता के लिए कील से युक्त होना आवश्यक है। यह त्रिकर्णानाभ कहा गया है।[1]

अन्यदप्याह-

एक एव यदि वाजनं भवत्युत्तरस्य शर$_{5}$भाजिते घने।
उच्चमंशयुगलेन$_{2}$ निष्क्रमोऽप्यस्य पट्टमवशिष्टभागत: ॥ 33 ॥

स्तम्भादि पर यदि मात्र एक ही वाजन का प्रयोग किया जाना हो तो उत्तर की मोटाई को पाँच से विभाजित करें और दो अंश का निष्क्रम या निर्गम और शेष, तीन अंश का पट्ट रखना चाहिए।

अन्यदपि-

अल्पवाजनयुतोत्तरे घने नाग$_{8}$भागिनि महत्[7] त्रि$_{3}$भागत:।
एकतो$_{1}$ऽल्पमुभयोश्च निष्क्रम: स्वोच्चतो भवति पट्टमब्धिभि:$_{4}$ ॥ 34 ॥

अल्प वाजन से युक्त उत्तर के प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि जब उसकी पृथुलता के प्रमाण को आठ भागों में विभाजित किया जाए तो तीन अंश का महत् वाजन, एक अंश का अल्प वाजन और शेष चार अंश का पट्ट किया जाना चाहिए और निर्गम को उनकी ऊँचाई से ही परिकल्पित किया जाना चाहिए।

अन्यदप्याह-

बाणां$_{5}$शिन्यखिलोत्तरस्य तु घने द्वाभ्यां$_{2}$ महद् वाजनं
चैके$_{1}$नाल्पमथातनोतु महितं पट्टं च शिष्टांशत:।
अब्ध्या$_{4}$दीश्वर$_{11}$पश्चिमांशिनि घने सर्वोत्तरस्यैकतो$_{1}$
युक्त्या वाजनयोश्च निष्क्रममथान्यत्रापि चैवं विधि: ॥ 35 ॥

(और भी कहा जा रहा है) यदि अखिल उत्तर की सघनता या मोटाई को पाँच से विभाजित करें तो दो अंश का महत् वाजन, एक अंश का लघु वाजन और शेष दो अंश का पट्ट रखा जाना चाहिए। इसी प्रकार यदि सर्व उत्तर की मोटाई को चार से एकादश भागों में विभाजित किया जाता है तो इस युक्ति से उभय वाजन या दोनों ही

----

1. तदेव च त्रिकर्णं स्यात्तत्त्रिचूलिकमेव च॥ स्वस्त्याकृति समायुक्तं बलात्कीलकसंयुतम्। त्रिकर्णाभमिति प्रोक्तं शेषं प्रागुक्तवन्नयेत्॥ (मानसारम् 17, 52-53)

वाजन का निर्गम एक भाग रखना चाहिए। वाजन के विषय में यह प्रमाण, विधि अन्यत्र भी विचारणीय और स्वीकृत जाननी चाहिए।

अथ उत्तरन्यासविधिमाह-

स्तम्भमूर्धनि निधाय पोतिकामुत्तरं तदुपरि प्रकल्पयेत्।
पोतिकाविवरतः समुद्गतस्तम्भमस्तकशिखाहितावटम्॥ 36॥

स्तम्भ के सिरे पर उत्तर पोतिका रखकर उत्तर को ध्यान से इस प्रकार संयोजित करें कि स्तम्भ की शिखा इसके आवट पर अवस्थित हो जाए अर्थात् उत्तर को इस प्रकार से रखें कि पोतिका के विवर या छिद्र से निकाला हुआ स्तम्भ का अग्र भाग आवट या ऊपर ही आ जाए।

अथोत्तरपट्टिका वा क्षुद्रोत्तरप्रमाणमाह-

अथोत्तरोच्चोच्चतदर्धतारां क्षुद्रात्तराख्योत्तरपट्टिकां च।
सङ्कीलयेदुत्तरबाह्यपश्चादूर्ध्वे दृढैः स्वोचितदारुकीलैः॥ 37॥

क्षुद्रोत्तर (लघु उत्तर) जिसे कि उत्तर पट्टिका भी कहा जाता है, के उदय को उत्तर के उदय का समानानुपाती और चौड़ाई को उसकी ऊँचाई की अपेक्षा आधा रखना चाहिए। उसे ऊर्ध्वतः उत्तर से ऊँचा रखा जाए और बाह्य-पार्श्व को समानतः रखना चाहिए और इसको काष्ठ की अच्छी कील से भली-भाँति सुदृढ़ करना चाहिए अर्थात् स्तम्भ के विभिन्न हिस्सों को एकजुट करने के बाद उनके स्थायित्व के लिए कीलें लगानी चाहिए।

तत्रैव कीलस्य स्थितिं-

कीलास्ते कूटसूत्रेष्वखिलनिलयमध्येऽपि च द्वारमध्ये
कर्तव्यास्ते समस्ता यवमितगतिभिः सूत्रतोऽतीतमध्याः।
युक्त्या पङ्क्तिं लुपानां सममपि परिकल्प्याथ मध्ये त तासां कार्याः
कीलास्त्वयुग्माः खलु सकललुपायुग्मसङ्ख्या विधेयाः॥ 38॥

(अब कील लगाने की विधि कही जाती है) संयोजन के लिए कील को इस प्रकार से लगाया जाए कि वे कूट की मध्यरेखा पर लगें और समस्त गृहों व द्वार के मध्य में आ जाए। कीलों के नियोजन के सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि वे बीच से एक यव प्रमाण दूरी पर लगें। संयोजन करते समय युक्तिपूर्वक लुपा को पङ्क्तिबद्ध करते हुए उनके मध्य में कील को लगाएँ। इस प्रसङ्ग में लुपाएँ सम संख्या (2, 4, 6...) में होनी चाहिए जबकि कीलों को विषम संख्या (1, 3, 5...) के क्रम से लगाना चाहिए।

विशेष - भवन में लगाए जाने वाली कीलों को यवाकार अथवा जौ के आकार की परिमित गति वाली बनाना चाहिए। कील लगाते समय जो भाग स्तम्भ में चला जाता है, उसका ध्यान रखकर उसके आगे-पीछे विषम संख्या में ही अन्य कीलें लगानी चाहिए। वास्तुविद्या में कीलमान के सम्बन्ध में कहा गया है कि कील को स्तम्भ के विस्तार का आठ अंश, सात अंश अथवा छह अंश प्रमाण से रखना चाहिए। विशेष स्थिति में नवांश भी रखा जा सकता है, जैसा कि पाठान्तर में कहा गया है और उक्त प्रमाण से आधी उसकी मोटाई रखनी चाहिए।[1] कीलवेध से बचना चाहिए।

अथ छादनार्थं वंशजयन्त्यादिनां विन्यासमाह-

एकाङ्घ्य्रूनादिदण्डोच्छ्रयमुपरि निधायोत्तरे वाजनं प्राक्
तिर्यग्दण्डोच्छ्रयाङ्घ्य्रूनितबहलतु°लास्तासु वंशानुवृत्त्या।
स्वार्धाक्रान्ता जयन्ती तदुपरि सुसमीकृत्य कृत्वानुवंशं
निश्छिद्रं छादयेत् स्वोचितघनफलकाप्रस्तरेणोर्ध्वभागम्॥ 39॥

(अब वाजन के बाद वंश, जयन्ती रखने के विषय में कहा जाता है) स्तम्भ आदि पर उत्तर के ऊपर वाजन को एक अथवा पौन दण्ड प्रमाण गहराई तक वाजन रखें और इसके उपरान्त वंश को तिर्यक् रूप से रखें जो कि एक दण्ड या पौन दण्ड प्रमाण चौड़ाई लिए होना चाहिए। उस पर जयन्ती हो जो कि वंश की अपेक्षा आधे प्रमाण की होगी। इसके बाद छत का छवाई करें और ध्यान रखें कि वहाँ कोई छिद्र नहीं रहे और उचित मोटाई के फलकों, पटियों को शृङ्खलाबद्ध जमाना चाहिए अर्थात् उचित घन फलकों से छवनों को ढका जाए। इस प्रकार छत का कार्य किया जाना चाहिए।

अथ तुला विन्यासमाह-

यद्वा कपोतवलभीविलसत्तुलो-
लुपोद्यत्पिधानफलकादितुलाविशेषैः।

----

1. कीलं च पादविष्कम्भवस्वेकांश च योजयेत्। सप्तांशमथवर्त्वंशं बहलं तु तदर्धतः॥ (वास्तुविद्या 8, 43)
सप्तांशस्थाने नन्दांशपाठस्तु- 'गृहीतस्तम्भविपुले त्वष्टसप्तषडंशके। शिखायाः कीलकस्यापि विस्तारो भागतो भवेत्॥' इति गुरुदेववचनेन विरुध्यते।
2. अन्योन्यसन्धिवेधेऽपि कीलवेधं विशेषतः। मृत्युदं समसन्धिं च वर्जयेन्नरसद्मनि॥ (वास्तुविद्या 8, 42)
3. तुलनीय- **मानववास्तुलक्षणे**- एकाङ्घ्य्रूनादिदण्डोच्छ्रयमुपरि निधायोत्तरे वाजनं प्राक् तिर्यग्दण्डोच्छ्रिताङ्घ्रामितवितितुलास्तासु वंशानुवृत्त्या। स्वार्धाक्रान्ता जयन्तीस्तदुपरि सुसमीकृत्य कृत्वानुमार्गं निश्छिद्रं छादयेत् स्वोचितघनफलकाप्रस्तरेणोर्ध्वभागम्॥ (43)

युक्तं च खण्डफलकादिविचित्रचित्र-
मूर्तिप्रभेदसहितं महितं विदध्यात् ॥ 40 ॥

(अब तुला की रचना के विषय में कहा जाता है। स्तम्भों के शीर्ष पर स्थापित की जाने वाली) तुला को विशेषकर कपोत, वलभी, तुलापाद और फलकादि से मण्डित किया जाना चाहिए। इसका अलङ्करण खण्ड फलक, नाना प्रकार की चित्र-विचित्र मूर्तियों और उनके प्रभेदों सहित किया जाना शोभाजनक है।

इति मनुष्यालयचन्द्रिकायां स्तम्भादिगृहावयवविधय:
पञ्चमोऽध्याय: ॥ 5 ॥

इस प्रकार मनुष्यालयचन्द्रिका अन्तर्गत स्तम्भादि गृहावयव विधि नामक पाँचवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

*****

---

1. 'न्तर्वितौ' ख. पाठः 2. 'मश्वका' ख. पाठः 3. 'पत्यथा' ख. ग. पाठः 4. 'ण्डाख्यश्चा' क. पाठः 5. 'वा स' ख. ग. पाठ 6. 'ण्डु' क.ख. पाठः 7. 'हे त्रि' ग. पाठः 8. 'त' क. पाठ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

कूटलुपादिमानशिखरविधयः

अथ शिखरविधेयाख्ये षष्ठोऽध्यायारम्भे आरूढोत्तरविधानमाह-

अल्पे धामनि बाह्यमेव महति त्वारूढमप्युत्तरं
विष्कम्भे तनुयात् स्वगेहविहितैर्योन्यादिभिः संयुतम्।
वस्वृ$_{8}$ष्य$_{16}$र्कयुगाङ्गुलादि$_{24}$गतिरन्तः स्यादलिन्दं तु तत्
तावत् स्वाच्छ्रयमस्य कर्णसदृशी विष्कम्भपादायतिः॥ 1 ॥

(छठे अध्याय में प्रधानत: शिखर विषयक वर्णन है। इसके आरम्भ में आरूढ़ोत्तर का विवरण दिया जा रहा है) लघु गृहों में केवल बाह्य उत्तर ही पर्याप्त होता है। वृहद् गृहों में उठाव वाला उत्तर अथवा आरूढ़ोत्तर भी मिलता है। यह आरूढ़ोत्तर विष्कम्भ अथवा बीम के ऊपर आठ, सोलह, चौबीस इत्यादि अङ्गुल प्रमाण से होता है। इसका मध्यभाग अलिन्द होता है। इसका निर्माण उसी भवन की योनि के अनुसार किया जाना चाहिए। इसका उठाव गमन के अनुपात में ही किया जाना चाहिए। विष्कम्भ पाद या इसके अवलम्ब टेक की लम्बाई इसके कर्ण की लम्बाई के अनुपात में रखी जानी चाहिए।

अथ विष्कम्भविन्यासमाह-

विष्कम्भपादं तु तदङ्गभेदैर्युक्तं तथा कल्पलतादिचित्रैः।
महातरङ्गान्तरुदीर्णचूचुक(प्र?)सूनसंशोभितमातनोतु॥ 2 ॥

विष्कम्भ पाद जो कि तानधरण का अवलम्ब टेक माना जाता है, के अङ्गों को नाना प्रकार की कल्पलताओं आदि चित्रों से अलंकृत किया जाना चाहिए। उठती हुई महातरङ्गों ने निकलते गुल्मों, कलियों से भी इसकी संरचना की जानी चाहिए।

अथ लुपालम्बप्रमाणमाह-

कुर्यादुत्तरपट्टतोऽखिललुपालम्बं तदौचित्यतः
स्तम्भोच्चे शर$_{5}$भाजिते द्वितयतो$_{2}$ यद्वाङ्क$_{9}$भक्तेऽब्धिभिः$_{4}$।

अद्र्यंशिन्युरगांशिते च हुतभुग्भागैस्तथाङ्घ्र्युच्छ्रय-
त्र्यंशार्धांशत$_3$ एव वाभिलषितं षोढोदितेष्वेषु तु॥ 3 ॥

(अब लुपालम्ब के विषय में कहा जा रहा है) जहाँ पर उत्तर स्थापित हो, उसके नीचे के हिस्से से लुपा की लम्बाई यथोचित रूप से रखी जा सकती है। यह लम्बाई छह प्रकार से निर्धारित की जा सकती है। इसके लिए यदि पाद के उदय या ऊँचाई को पाँच भागों में बाँटा जाए तो दो भाग, नौ भाग करें तो चार भाग, सात अथवा आठ भाग करें तो तीन भाग लुपा होती है। इस प्रकार अपेक्षित लुपा को स्तम्भ के कुल उदय से एक तिहाई अथवा आधा रखा जा सकता है।[1]

अन्यदप्याह-

लम्बोऽयं विहितादधस्थचरणोच्चेऽङ्गादिरुद्रान्तिमै-
र्भक्ते तेष्विलया युतो विरहितो वाङ्घ्र्युच्चविध्यध्वना।
यद्वा चन्द्रा$_1$दिग$_2$ग्नि$_3$वारिधि$_4$शरो$_5$र्म्य$_6$द्रय$_7$ङ्गुलैरूनितो
लम्बोऽसौ क्वचिद[1]न्वितोऽप्युभयतस्तुल्योऽप्यतुल्योऽथवा॥ 4 ॥

यदि पाद या स्तम्भ के उदय को 6 से 11 भागों में बाँटा जाए तो उसके अधोभाग में पाद के उदय को एक अंश न्यूनाधिक किया जा सकता है। इसी प्रकार पाद के उदय में 1, 2, 3, 4, 5, 6 अथवा 7 अङ्गुल प्रमाण घटाकर अथवा कदाचित् आवश्यकता होने पर इतना ही बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार लुपा लम्ब दोनों ही स्थितियों में सम या विषम हो सकता है अर्थात् लम्बाई दोनों ओर समान-असमान हो सकती है।

अथोत्तरस्याछेदनमाह-

विस्तारेण घनेन वापि च लुपालम्बो भवेदुत्तर-
स्यैकेनाधिदल$_1$द्वय$_2$त्रय$_3$चतु$_4$र्बाणो$_5$र्मि$_6$शैलो$_7$न्मितैः।
योगे सत्यपरालयैरपि लुपाच्छेद्याश्च नीप्रादयो
गेहाङ्गेष्वखिलेषु चोत्तममतो नच्छेदयेदुत्तरम्॥ 5 ॥

नीप्र, छत पर आने वाले खम्भ के सबसे नीचे के भाग या दीवार संरचना के

----

1. तुलनीय- **मानववास्तुलक्षणे**- कुर्यादुत्तरपट्टिकोपरि लुपास्ताः स्वाग्रधान्याचिताः स्वस्वांशाहितकण्ठसूत्र-कमितामध्यादिकण्ठावधि। स्तम्भोच्चे शरशैलनन्दनयनैर्भक्ते चतुर्धोत्तरात् तासां स्यादवलम्बनं नयनवह्न्यब्ध्युर्वरांशैः क्रमात्॥ (46)

ऊपर जहाँ सभी झुकाव नीचे क्षैतिज भाग में लगते हैं। इसका विस्तार अथवा पृथुलता या कि गहराई उत्तर से समतुल्य या फिर उसकी अपेक्षा डेढ़ गुनी, दो गुनी, तीन गुनी, चार गुनी, पाँच गुनी, छह गुनी अथवा सात गुनी तक रखी जा सकती है। यदि अन्य गृहों से इसको संयोजित किया जाता है तो तब लुपा, नीप्रादि में छिद्र किया जा सकता है किंतु उत्तर सर्वगृहों में अतीव महत्वपूर्ण है अतः उसको किसी भी प्रकार से छिद्रित नहीं किया जाना चाहिए अर्थात् जब यह दूसरे मकानों से जुड़ता है, तो ऋजुमञ्च टूट सकता हैं, किन्तु गृह में उत्तर सबसे महत्वपूर्ण भाग है, यह कभी नहीं टूटना चाहिए।

विशेष - लुपादि के विषय में विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् में विस्तार से विवरण आया है जो महत्वपूर्ण और यहाँ प्रासङ्गिक हैं।[1]

तत्राह ऋजुमञ्चकोट्यादीनां-

ऋजुमञ्चख्यास्तुल्याः प्रकृतिलुपाः पार्श्वसंस्थिताः सर्वाः।
कोट्युपकोट्याद्याः स्युर्विकृतिलुपास्तास्त्वतुल्यदीर्घतताः॥ 6॥

गृहोपयोगी सीधी (प्रकृत) और समान लुपा अथवा कड़ियों को 'ऋजुमञ्च' कहा जाता है। जो लुपाएँ असमान (विकृत या अप्रकृत) अथवा तिरछी हों, वे क्रमशः 'कोटिस' और 'अपकोटिस' या 'अलसी' कही जाती हैं। ये पार्श्व में समान होनी चाहिए।

लुपा परिकल्पननिर्देशमाह-

कार्या लुपाश्चोत्तरपट्टिकोर्ध्वं कूटाहिताग्रा विकृताः समस्ताः।
पार्श्वाहितास्ताः खलु निर्विकारा निवेशिताग्राः पुनरग्र[2]धान्याम्॥ 7॥

---

1. कथिता शिल्पशास्त्रज्ञैर्लुपा क्षुद्रक्रियापटी। शिलालोहसुधादारुखण्डैर्योज्या विशेषतः॥ कीलपिण्डयुता प्रायः कल्पपिण्डान्विताऽथवा। द्व्यङ्गुला त्र्यङ्गुला वापि चतुरङ्गुलभागपि॥ पञ्चषट्सप्ताङ्गुला वा किष्कुमानप्रमाणतः। एकहस्ता द्विहस्तान्ता लुपा सा कथिता क्रमात्॥ गन्धर्वमुखयुक्ता वा लतापुष्पक्रियान्विता। समक्रिया दोषहीना सर्वतोभागभाङ्मुखे॥ चतुर्भागस्थिता वापि क्वचित्प्रासादभूमिषु। क्षुद्रपट्टयुता वापि जलपङ्क्त्यन्विता क्वचित्॥ वारकान्तयुता वापि युक्ता मकरतोरणैः। मुख्यरेखाकवचिता महानासान्विता क्वचित्॥ तोरणैर्जालकैर्नीडैः क्षुद्रकोणैश्च संयुता। सुधालेपितका वापि फलकाघटिताथवा॥ नानाप्रमाणलसिता योजनीया क्रियार्हका। क्षुद्रावरणमानेन क्वचिद्योज्या लुपा मता॥ विमाने शिखरप्रान्ते मण्डपान्ते वराटके। गोपुरद्वारवलभीप्रान्ते वा पादकान्तके॥ द्वारचित्रप्रतोल्यां वा चूलीहर्म्यप्रतोलिषु। सभाशिखरभागान्ते गृहद्वारान्तिके तथा॥ वेदिकाप्रान्तभागे वा पीठाद्यन्तस्थले तथा। शालाद्वारोपरिप्रान्ते भौमप्रान्ते तथैव च॥ खलूरिकाप्रान्तभागे वीथिकाप्रान्तभागिके। स्थूपिकाकल्पने वापि वलभीकल्पने तथा॥ सेतुनेत्रप्रान्तेभागे गोपानस्यादिके स्थले। आयव्ययसमोपेता नानामानप्रकल्पने॥ द्विमुखा त्रिमुखा वापि तक्षणाद्वर्धनादपि। संयोज्या च वियोज्या च संयोज्या दैवकल्पने। मानवे कल्पने वापि दारिका शिल्पिभिः क्रमात्॥ (विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् 63, 1-14)

सदैव सारी विकृत लुपाएँ ऐसे निर्मित की जानी चाहिए कि वे अपने कूट में आगे के भाग तक हों। जो लुपा सीधी हों उनको पार्श्व की लघु उत्तर के ऊपर संयोजित करना चाहिए और उसका अग्रांश वंशगत (अग्रधानी में) हो अर्थात् सारी ही लुपा को छोटी दीवार के अग्रांश तक लगाएँ। इनके शीर्ष की नोक को पीठ में लगाया जाना चाहिए।

विशेष - वास्तुविद्या में आया है कि लुपा उत्तरपट्टिका में सन्धीयमानार्थ एक विशेष काष्ठ-फलक है जिसे तिर्यक पट्टिका, कील के साथ युक्तकर शिल्पीगण गृह पर छाद्यादि के लिए काम में लेते हैं। यह उत्तरपट्टिका में चूलिका पर्यन्त ग्राह्य है, उतना ही इसका विस्तार किया जाना चाहिए। मान्यता यह है कि लुपा को लोष्टादि प्रस्तार तक लिया जाता है। लुपा के दो प्रकार हैं- प्रकृति लुपा और विकृति लुपा। वंश नीव्रान्त तक जो ऋजु होती है, वह प्रकृति लुपा ऋजुमञ्चा नाम से जानी जाती है और गृह के कोण से आगे विस्तार लिए होती है व विकृतिलुपा कोटि, उपकोटि नाम से जानी जाती है।[1]

अथ वंशपर्याय च प्रमाणमाह-

पार्श्वप्राप्तलुपाग्रयोगवशतो वंशाख्यया साग्रया
युक्त्वा चोत्तरतारपादरहितव्यासोच्छ्रयं चाथवा।
अद्र्यू$_7$र्म्यङ्गुल$_6$तारतीव्रसहिता पंत्रैर्लुपातीव्रव-
ह्व्य$_3$ब्ध्यंश$_4$प्रमितैर्लुपापदगतैर्युक्ता लसद्वाजना॥ 8॥

(अब वंश के पर्याय व उसके प्रमाण के विषय में कहा जा रहा है) पार्श्विक शिरों पर संयोजकों के मिलने के कारण लुपा के आगे के योग को 'अग्रधानी' अथवा 'वंश' भी कहा जाता है (इससे ही समस्त लुपाएँ संयोजित रहती है)। वंश की लम्बाई व चौड़ाई वहाँ प्रयोजनीय उत्तर की चौड़ाई के अनुपातत: अथवा उसकी तीन-चौथाई या फिर छह या सात अङ्गुल वर्ग हो सकती है। लुपा के साथ ही सन्धि स्थल पर बन्ध

----

1. अथ संक्षिप्य वक्ष्यामो लुपानां लक्षणं वयम्। उत्तरस्यानुरूपेण तासां तारमुदीरितम्॥ (वास्तुविद्या 10, 1) अथेत्यादि। लुपा नाम उत्तरपट्टिकायां सन्धीयमानाः फलकविशेषाः, यासु तिर्यक् पट्टिकाः कीलैः सङ्घट्य गृहोपर्याच्छादनं लोष्टादि प्रस्तारयन्ति शिल्पिवराः। ताश्च प्रकृति- लुपा विकृतिलुपा इति द्विधा विभक्ताः। वंशान्नीव्रान्तम् ऋजवो या दृश्यन्ते, ताः प्रकृतिलुपा ऋजुमञ्चाख्याः। गृहकोणेषु तदुपान्ते च या दीर्घतरा दृश्यन्ते, ता विकृतिलुपाः कोट्युपकोट्याख्याः। अन्यास्तु द्वितीयादिलुपा यथायथं तत्र तत्रान्तर्भवन्ति। वृत्ते समचतुरश्राकारे च गृहे सर्वाः कूटप्रविष्टाग्रकाः स्युः। आयतचतुरश्रे विकृतिलुपाः वंशबद्धकूटावस्थापिताग्राः, प्रकृतिलुपाः वंशपार्श्वकीलिताग्राश्च भवन्ति। कूटः गृहशिखरम्। वंशः वंशास्थि-स्थानीयं महादारु, यः कूटपार्श्वे सन्धीयते। वृत्ते समचतुरश्रे च नास्त्यस्यावश्यकतेति स्थितिः। तत्रप्रकृतिलुपानां विस्तारं तावदाह— उत्तरस्येत्यादि। उत्तरं चेह प्रायशश्चूलिकाभिधं पर्यन्तोत्तरं ग्राह्यम्। तारः विस्तारः। (तत्रैव)

और पट्टिका संयोजक अथवा वाजन की मोटाई की तीन या चार गुना बनाई जानी चाहिए।

अथ कूटप्रमाणमाह–

कूटः कोटिलुपाग्रकल्पितशिखासम्प्राप्तपार्श्वावटः
पार्श्वाक्रान्तलुपाग्ररन्ध्रनिहितायः कीलसङ्कीलितः।
आधारोऽस्य लुपाग्रकल्पितशिखा तस्मादधो मूल
एवोक्तोऽसौ विकृता लुपाश्च सकला गेहे समाब्ध्यश्रके॥ 9॥

(अब कूट के विषय में कहा जाता है) कूट की रचना में इस बात का ध्यान रखा जाए कि उस पर आने वाली कोटिलुपा की शिखा सन्धि उसके पार्श्व में ही हो। लुपा के अग्रभागों को उनके पाश्र्व से लोहे की कीलों द्वारा जोड़ा जाना चाहिए। लुपा के शीर्ष पर जोड़ कूट की बुनियाद होता है। कूट को निम्नस्थ संयोजित करने के लिए निर्देश है। चौकोर या समचतुरस्र भवनों में सारी लुपा या संयोजक विकृत अथवा तिरछे विविधाकार होते हैं।

अथ चतुरस्रवृत्ताकार च बहुभुजकूटालङ्कारमाह–

धुर्धूरप्रसवोपमोऽष्टनृपकोणो वा तथा वर्तुलः
सम्फुल्लाब्जयुतोऽथवाथ गुलिकारूपः स्वमध्यादधः।
विस्तारद्विगुणायतस्तदुरगाद्यंशोनदीर्घोऽथवा
कूटोऽब्ध्यादि$_4$यवोत्थपत्रविलसन्मध्यप्रदेशो भवेत्॥ 10॥

(अब चतुरस्र, वृत्ताकार और एकाधिक कोणीय कूट तथा उसके अलङ्करण के विषय में कहा जाता है) कूट आठ या षोडश कोण-पँखुड़ी वाले धत्तूर के फूल की तरह अथवा वृत्ताकार या पूर्ण विकसित कमल की तरह होते हैं, इसके मध्य के नीचे का भाग गोलाकार होना चाहिए। इसकी लम्बाई-ऊँचाई इसके पार्श्विक प्रमाण से दुगुने के समतुल्य रखी जाती है। लम्बाई मध्यभाग की अपेक्षा आठ से ग्यारह भाग करने पर एक भाग कम बन्ध से सुसज्जित करें। इसके बीच का हिस्सा चार यव या इससे कुछ अधिक (पाँच या छह भी) प्रमाण वाले पत्रों से विलसित करने का उपक्रम करना चाहिए।

अथ कूटस्यपरिणाह–

प्रायः सर्वलुपाघनोन्मितपरीणाहं करोतूत्तर–

व्यासप्रायततं तथाङ्गुलकृतैर्योन्यादिभिः संयुतम्।
पट्टं कोटिलुपावितानसदृशायामं लुपासङ्गम-
स्थानं पत्रपदोर्ध्वमित्थमुदितं कूटस्वरूपादिकम्॥ 11॥

(अब कूट की परिधि आदि के विषय में कहते हैं) कूट प्रायः समस्त लुपा की मोटाई के योग के समतुल्य परिधि अथवा चौड़ाई उसके उत्तर के व्यास के समतुल्य बनाए जाने चाहिए। इसमें उपयुक्त योनि अङ्गुल प्रमाण से ली जाए। ऐसा पट्ट, जहाँ पर लुपाओं को जोड़ा जाता हैं, उसकी लम्बाई कोटिलुपों की वितान रेखा के आयाम के समान ही हो अर्थात् पट्ट की लम्बाई वितान रेखा की चौड़ाई के बराबर होती है। उठाव वाले कूट की साज-सज्जा पत्रादि से की जाती है।

अथायताकारगृहे लुपादि संयोजनमाह-

आयतचतुरश्रगृहे विकृतिलुपा वंशबद्धकूटगताः।
वंशस्थाग्रास्त्वन्याः प्रकृतिलुपाः कीलिता ह्ययःकीलैः॥ 12॥

आयताकार या वर्गाकार भवनों में विकृत लुपा को कूट में दिया जाता है जो कि वंश से सन्नद्ध रहता है अर्थात् कोटिलुपों को वंश तक कूट जोड़कर अन्दर तक किया जाता है। अन्य साधारण लुपाओं के शीर्षों को लोहे की कीलों से वंश के ऊपर लगाने का काम किया जाना चाहिए।

तत्राह कूटवंशसंयोजनम्-

वंशाग्रमूलशिखया यदि कूटपार्श्व
रन्ध्रप्रवेशकृतसन्धिरिहाजयुद्धः।
आधारभेदकृतसन्धिवशेन कूट-
स्याधोगतं भवति मूलमिहापि नित्यम्॥ 13॥

(अब कूट को वंश से संयोजित करने के बारे में कहते हैं) गृह के शिखर के लिए शिखा को वंश के आगे और मूल में, कूट के पिछवाड़े के छिद्र में जोड़ना चाहिए। इसमें अजयुद्ध सन्धिविधि काम में लेनी चाहिए अर्थात् शीर्ष और नीचे वाले भाग पर जोड़ों का कूट के पार्श्व छेद से अजयुद्ध जोड़ किया जाता है। आधार और आधार की भेद सन्धि किए जाने पर कूट का मूल अधोमुखी हो अर्थात् सन्धि द्वारा और आश्रित (आधरभेद) की दृष्टि से यहां कूट का आधार नीचे की ओर होता है।

अथ मुखसहितायतभवनस्यवंश निर्देशमाह-

मुखसहितायतभवने मुखपर्यन्तायतो भवेद् वंश।
गेहवदेव मुखानामुत्तरमूलाग्रयोगविधिनियम: ॥ 14 ॥

ऐसे भवन जो कि मुख सहित होते हैं, में आयताश्र वंश मुख के अन्तिम सिरे तक बढ़ा दिया जाना चाहिए (ताकि ताप, वर्षादि से सुरक्षा हो सके) और उत्तर के मूल और आगे के सिरे को मुख से जोड़ें। इसका नियम गृह के समान ही कहा गया है।

अथ कूटसंयोजनविधिम्-

मूलप्रदेशविलसत्कबलीसुलग्र-
वंशाग्रमूलपरिकीलितदारुकील:।
वंशावलम्बितवशादयमूर्ध्वमूल:
कूटो यथोर्ध्वमवलम्बितबालकूट: ॥ 15 ॥

(अब कूट के संयोजन आदि के प्रसङ्ग में कहा जा रहा है) कूट को संयोजित करने के लिए वंश जो कि इसके छिद्र में मूलाधार रूप से जुड़ा होता है, के आगे और मूल में काष्ठ की बनाई गई क़ीलों से स्थिर करना चाहिए। इसको कूट या हथौड़े का प्रहार कर भली-भाँति लगाया जाना चाहिए। कूट मूलत: वंश पर ही आश्रित होता है और इसका मूल ऊपर रखें। बालकूट जो कि आयताकार भवनों में प्रयोजनीय होता है, को भी कूट की तरह ही ऊपर आधारित करना चाहिए।

अथ भुजकोटिकर्णश्च-

सर्वत्रेष्टाब्ध्यश्रे तिर्यगध: कल्पितात्र रेखा या।
सा हि भुजाथोर्ध्वाग्रा कोटि: स्यात् कोणगामिनी कर्ण: ॥ 16 ॥

भवन रचना में यह ज्ञातव्य है कि आयताकार भवन संरचना में जो रेखा क्षैतिज तक खींची जाती है वह तिर्यक् रेखा 'भुज' कही जाती है। शीर्ष से आधार तक डाली जाने वाली रेखा को 'कोटि' और जो कोने से लेकर कोने तक जाती है, वह 'कर्ण' कही जाती है।

अथ लुपापङ्क्त्यादीनां-

सुश्लक्ष्णे फलकातले क्षितितले वा गेहातारार्धमा-
नाब्ध्यश्रं तदधोभुजापरिमिलत्क्षुद्रोत्तरोच्चोन्मितम्।

तस्याधो घनमुत्तरस्य च लुपालम्बं च तिर्यग्गतैः
सूत्रैः कल्पयतूत्तरोपरि लुपापङ्क्तिं च युक्त्या ततः ॥ 17 ॥

किसी समतल स्थान अथवा मुलायम फलक पर, भवन के कुल आयाम या चौड़ाई के अर्द्धभाग के बराबर एक वर्ग की रचना करें। इसमें नीचे के भुज को छूते हुए क्षुद्र-उत्तर की ऊँचाई जाननी चाहिए। उसके नीचे को उत्तर की मोटाई और लुपा-लम्ब को तिर्यक् रेखा में संयोजित करें तभी उस पर लुपा पङ्क्ति बनाई जानी चाहिए। यह कार्य युक्तिपूर्वक करना चाहिए।

अन्यदप्याह-

सङ्ख्याः कोट्युपकोटिकादिविकृतानां या लुपानां तत-
स्ताः सङ्ख्या द्वि₂गुणैकसङ्ख्यरहिताः कल्प्यास्तु सर्वत्र च।
द्वे₂ द्वे₂ कोट्युपकोटिकादिविकृतानामन्तराले पृथक्
तत्रैका गृहतारमध्यनिकटेऽप्येवं विभागो मतः ॥ 18 ॥

(उक्त कार्य के उपरान्त) कोटि, उपकोटि आदि विकृत लुपा की संख्या के दो गुने में एक को कम करने पर लब्ध प्रमाण को ही अन्तराल के अङ्क-प्रमाण की भाँति सर्वत्र कल्पित करना चाहिए। (नियम यह है कि भवनों में अन्तराल विभाजन को कोटि-उपकोटि के अनुसार करें) इसके उपरान्त कोटि, उपकोटि आदि को विकृत लुपा के प्रमाण में दो-दो अंश प्रत्येक के मध्य में और एक अंश गृह के आयाम के बीच में रखना चाहिए, यही लुपा अन्तराल विभाजन-मत मान्य कहा गया है।

इत्याहान्तरालम्-

इति विकृतिलुपानां पङ्क्तिमाकल्प्य तत्त-
न्मितिनियमकृताङ्को यत्तदाक्रान्तकर्णम्।
नियतकृतलुपालम्बादथाकूटपार्श्वं
भवति पृथगमीषां दीर्घमानं लुपानाम्॥ 19 ॥

इसी नियम, विधि से लुपा की पङ्क्ति-परिकल्पना करते हुए भवन में अन्तराल निर्धारित करना चाहिए। इसको उत्तर रेखानुसार चिह्नित कर, निर्धारित कर्ण का मान ज्ञात करना चाहिए। इसी प्रकार निश्चित लुपा के लम्ब मान को कूट के पार्श्व में रखने पर प्रत्येक लुपा का दैर्घ्य या लम्बाई का आनयन होता है।

विशेष - आशय यह है कि इस प्रकार तिर्यक् कड़ियों के मध्य का अन्तराल भी निश्चित कर उनको उत्तर रेखानुसार संयोजित करना चाहिए। इनको दीवार तह पर स्थित करें। इसके बाद, प्रत्येक कड़ी की अङ्कित स्थिति से सीधे ही कूट के पार्श्व पर चयनित निश्चित-लुपालम्ब को प्रत्येक कड़ी से लम्बवत संयुक्त करने का उपक्रम करना चाहिए।

अथ लुपोत्तरायामसमतुल्येकरणाह-

सर्वत्रोत्तरतारतुल्यमृजुमञ्चानां लुपानां ततं
तद्व्रस्व$_8$द्रि$_7$रसा$_6$शुगा$_5$ब्ध्य$_4$नल$_3$भागैकोनितं वान्वितम्।
द्विघ्नं2 चोत्तरतारतोऽङ्घ्रिरहितद्विघ्नं च सार्धं पुनः
कार्यं तद्घनमङ्गुलेन यववृद्ध्या यावद्दत्वङ्गुलम्$_6$ ॥ 20 ॥

सभी भवनों में प्रकृत और विकृत ऋजुमञ्च लुपा की चौड़ाई उत्तर की चौड़ाई के बराबर रखना चाहिए। इसको एक भाग अधिक अथवा कम भी रखा जा सकता है। ऐसा तब किया जाता है जबकि उत्तर की चौड़ाई को 8, 7, 6, 5, 4 अथवा 3 से विभाज्य हो अथवा लुपा की चौड़ाई जब उत्तर की चौड़ाई की अपेक्षा दो गुनी, पौने दो गुनी अथवा डेढ़ गुनी हो। इसकी मोटाई एक अङ्गुल से छह अङ्गुल तक क्रमशः एक-एक यव (1/8 अङ्गुल) मान से बढ़ाकर ली जानी चाहिए।

अथ लुपाकारेवर्गपरिकल्पनाह-

अब्ध्यश्रं मञ्चकस्य प्रततिमितमथाकल्प्य तत्कर्णमर्धी-
कृत्य न्यस्येद् भुजायामथ विकृतिलुपापङ्क्तिमत्रैव कुर्यात्।
तत्तत्कर्णप्रमाणं खलु विकृतिलुपानां पृथग् विस्तृतिःस्यात्
पार्श्वे कार्यं ध्वजादित्रय$_3$मपि च वितानं च लम्बं च सूत्रम्॥ 21 ॥

(इस क्रम में शिखर के लिए लुपायाम के समान वर्ग की एक अन्य विधि कहते हैं) प्रकृत या सीधी लुपा की जो चौड़ाई हो, उसी के अनुपात में एक वर्ग की रचना करें। उमें कर्ण को कोटि की चौड़ाई के समान रखना चाहिए। उस वर्ग के आधार पर तिर्यक् लुपा की संख्या के अनुसार बिन्दू लगाएँ। इन बिन्दुओं से कर्ण तक निर्गम, प्रत्येक का प्रक्षेपण तिर्यक् लुपा की चौड़ाई वाला हो जाता है। इस क्रम में ध्वजादि तीन वितान और लम्ब सूत्र को डालना चाहिए अर्थात् सूत्ररेखा, क्षैतिज और खड़ी रेखाएँ भी खींचकर निर्माण कार्य का निर्धारण किया जाना श्रेयस्कर होता है।

अथ लुपानां विभाज्येध्वजसूत्रक्करणाह-

व्यासेऽङ्कां$_{9}$शिन्यधोऽब्धि$_{4}$प्रमितमुपरि बाणोन्मितं$_{5}$ कल्पयित्वा
मध्ये सूत्रध्वजाख्यं विरचयतु लुपापार्श्वयुग्मे समन्तात्।
अद्यूंशि$_{7}$न्यप्यधस्तादनल$_{3}$मितमुदध्युन्मितं चोर्ध्वभागं
यद्वा बाणां$_{5}$शितेऽग्नि$_{3}$प्रमितमुपरि दस्त्रोन्मितं चाप्यधस्तात्॥ 22॥

(अब उत्तर पर लुपा के संयोजन के लिए की जाने वाली कटाई के विषय में कहा जा रहा है) लुपा को नौ से विभाजित करें और 4 अंश ऊपर के तथा 5 अंश नीचे के त्यागते हुए उस पर दोनों ही ओर ध्वजसूत्र के क्रम से अङ्क डालने चाहिए अर्थात् ध्वजरेखा को लुपा के दोनों ओर, मध्य में चौड़ाई को नौ भागों में विभाजित करने के बाद चार भाग शीर्ष के एवं पाँच भाग नीचे के छोड़ते हुए खींचना चाहिए। यदि उसे सात से विभाजित करें तो तीन भाग नीचे के और चार भाग ऊपर के तथा यदि पाँच से विभाजित करें तो दो-तीन भाग क्रमशः ऊपर और नीचे के छोड़कर ध्वजसूत्र को चिह्नित किया जाना चाहिए।

इत्यमनन्तर अन्यरेखानिर्देशमाह-

ध्वजसूत्रस्योभयतो द्व्यङ्गुलमानेन कल्पयेत् सूत्रम्।
तदधस्तादप्यूर्ध्वं तत्तद्विस्तारमाननियमः स्यात्॥ 23॥

इसके बाद उक्त ध्वजसूत्र के ऊपर व नीचे, दोनों ओर उससे दो अङ्गुल प्रमाण की दूरी पर भी एक रेखा कल्पित करनी चाहिए। इनमें से प्रत्येक की चौड़ाई का माप इनके ऊपर और नीचे से मानानुसार ग्रहण करना चाहिए। सामान्य रूप से लुपा के दोनों ही ओर ध्वजसूत्र के दोनों ओर जो रेखाएँ डाली जाए, उनका अन्तराल दो अङ्गुल रखें।

अथ वर्गात् कर्णवितानलम्बमाह-

कृत्वा वेदा$_{4}$ङ्गुलाब्ध्यश्रकमखिललुपापार्श्वयोर्मध्यसूत्रे
तद्वेदा$_{4}$श्रोत्थकर्णद्वितयमिह वितानं च लम्बं च विद्यात्।
सर्वत्रैतद् विधेयं द्वयमपि वलयस्थानकूटावसान-
स्थानेष्वप्युत्तराद्यर्पणनियमपदे नीप्रलम्बान्ततोऽपि॥ 24॥

(अब कर्ण, वितान, लम्बनादि के विषय में कहा जाता है) यदि समस्त लुपाओं के दोनों ओर 4 अङ्गुल प्रमाण का वर्ग खींचे तो मध्य सूत्र के अनुसार वर्ग के दो कर्ण वितान और लम्ब कहे जाते हैं। जहाँ पर कूट, उत्तर नीव्रलम्ब हो वहीं पर इन दो

रेखाओं को डालना चाहिए। इस प्रकार चार अङ्गुल का वर्ग इन दोनों ही रेखाओं पर उन स्थलों पर बनाए जहाँ कि उत्तरादि की स्थिति, कूटगत सन्धि और स्थापनादि किया जाना हो। इस वर्ग दोनों ही कर्ण से वितान और लम्ब रेखाएँ होती है। लुपा के आगे का सिरा यहाँ पर लम्ब रेखा के समानान्तर होना चाहिए और छिद्र के अनुसार ही ऊपर और मूल में, उत्तर के आधार आदि वितान रेखा के नियमानुसार ही सम्पादित करना चाहिए। यहाँ ज्ञातव्य है कि वर्ग के कर्ण, वितान लम्बादि के ये नियमादि तभी प्रतिफलित होते है जबकि उदय विस्तार से अर्ध हो।

इति मनुष्यालयचन्द्रिकायां कूटलुपादिमानशिखरविधेयः षष्ठोऽध्यायः ॥ 6 ॥

इस प्रकार मनुष्यालयचन्द्रिका में कूटलुपादि के मान, शिखरविधेय नामक छठा अध्याय पूरा हुआ।

*****

1. 'दस्थितो' ख. पाठः 2. 'ग्र्य' क. ख. पाठः।

अथ सप्तमोऽध्यायः

अल्पमन्दिरकवाटबाह्यगेहकूपादिविधानम्

अथ सप्तमोऽध्यायारम्भे अल्पमन्दिरविधिः

चूली वा क्वचिदल्पमन्दिरविधौ तत्रापि युग्माः स्मृता
विष्कम्भाश्च तदर्धसम्मिततदङ्घ्र्यग्रेषु वंशोऽपि च।
तस्मादङ्घ्रिसमुच्छ्रयत् त्यजतु वा क्वाप्यद्रि$_7$ नागा$_8$ङ्क$_9$ दिग्$_{10}$
रुद्रांशं$_{11}$ त्विह चूलिकोपरि लुपाश्च स्वाग्रधान्याचिताः ॥ 1 ॥

(इस सातवें अध्याय में लघुभवन, किंवाड़, बाह्यगृह, कूपादि की विधियाँ कही जाएँगी। सर्वप्रथम लघुगृह में चूली के विषय में कहा जा रहा है) लघु भवनों में चूली का कुछ स्थानों पर प्रयोग किया जा सकता है। यद्यपि ऐसी स्थिति में विष्कम्भ अथवा आड़ीधरण समसंख्या में निर्धारित किए गए हैं। इनके लिए विष्कम्भ के मध्य स्थान पर वंश को रखना चाहिए। कतिपय स्थानों पर खम्भ या खूँटी की लम्बाई 7, 8, 9, 10 अथवा 11 भागों में से एक भाग अल्प की जानी चाहिए और यहाँ पर लुपा व अग्रधानी को चूली के ऊपर ही स्थापित किया जाना अपेक्षित है अर्थात् ऐसी स्थिति में सन्धि की कड़ियाँ लुपा को उनके वंश की अपेक्षा लुपा या चूड़ी पर लगाई जानी चाहिए।

अथ लुपोपनिबद्धायाः नीव्रवट्ट्याः प्रमाणमाह–

विस्तारे पुनरुत्तरस्य दशधा$_{10}$ भक्ते रसा$_6$द्य$_7$ष्ट$_8$-
दिग्भागै$_{10}$र्वोत्तरतार$_4$ऽङ्घ्रिरहितं वाद्र्यंशिते$_7$ऽग्न्यंशकैः$_3$ ।
विस्तारं प्रकरोतु नीप्रफलकस्यैतत्त्रिभागं$_3$ घनं
विस्तारे शर$_5$भाजितेऽपि च घनं द्वाभ्यां$_2$ प्रकुर्यात् क्वचित् ॥ 2 ॥

(अब नीप्रफलक के प्रमाण के विषय में कहा जा रहा है जो कि लुपाओं के निम्न शिरों के संयोजन में प्रयुक्त होने वाला महत्वपूर्ण गृहाङ्ग है) नीप्रफलक के मान को उत्तर के विभाजन से प्रमाण मानना चाहिए। यदि उत्तर के विस्तार या चौड़ाई को दस

से विभाजित करें तो नीप्रफलक का विस्तार छह, सात, आठ, नौ अथवा दस भाग रखना चाहिए। इसी प्रकार यदि उत्तर की चौड़ाई के चतुर्थांश में से एक भाग कम की जाए अथवा सात भागों में विभाजित किया जाए तो मोटाई दो अंश से रखनी चाहिए।

विशेष - वास्तुविद्या में कहा गया है कि उत्तर के विस्तार मान को दस भाग करें। इसका अष्टांश नीव्रपट्टिका बनाएँ। यह नीव्रपट्टिका सात और साढ़े सात अंश की भी बनाई जा सकती है अर्थात् इसका मान प्रमाण तीन प्रकार का है- उत्तम (अष्टांश) मध्यम (सार्ध सप्तांश) और अधम (सप्तांश)।[1]

नीव्रपट्टिका की मोटाई कितनी हो, इस सम्बन्ध में कहा गया है कि नीव्रपट्टिका का जितना विस्तार हो, उसे तीन भागों में बाँटें और उसकी एकांश उसकी मोटाई रखनी चाहिए। इसमें ऊर्ध्वपट्ट के मान के लिए कहा गया है कि नीव्रपट्टिका के विस्तार को आठ भागों में बाँटें और तीसरे भाग का ऊर्ध्वपट्ट रखें। इसका मध्य चार अंश, उसके नीचे क्षुद्रवाजन एक अंश का करना चाहिए। इसका प्रकारान्तर भी है कि नीव्रपट्टिका के व्यास या विस्तार को ज्ञात कर वाजन योजना के भाव पक्ष को जानें। उसके दो अंश से ऊर्ध्वपट्ट और तीन अंश से घनता या मोटाई रखें।[2]

इसी प्रकार नीव्र कर्ण के मान के विषय में कहा गया है कि नीव्र वितान सूत्र के अनुसार नीव्रकर्ण को उसके व्यास की अपेक्षा तीन भाग का करें। यदि उसे पाँच भागों में बाँटा जाए तो दो भाग, सात भागों में बाँटें तो उसका तीसरा भाग कर्ण करना चाहिए।[3]

तथा च उच्चनिम्नपट्टमानमाह-

नीप्रव्यासे शरांशिन्यथ$_5$ तदुभयतस्तूर्ध्वपट्टं तलं च
द्वाभ्या$_2$मेकेन$_1$ पट्टं चरममपि विधेयं तथा षड्विभक्ते$_6$।
द्वाभ्यां$_2$ तस्योर्ध्वपट्टं त्रिभिरपि$_3$ च तलं स्यादधः पट्टमेके-
नैवं वा नागभक्ते$_8$ ज्वलन$_3$निगम$_4$भूम्यंशतः$_1$ कल्पनीयाः ॥ 3 ॥

जब नीप्रव्यास की चौड़ाई को पाँच से विभाजित कर रखा जाता है तो ऊपरी पट्ट

----

1. उत्तरस्य तु विष्कम्भे दशभागकृते पुनः। अष्टांशान्नीव्रपट्टिः स्यात् सप्तार्धा वाथ सप्त वा॥ (वास्तुविद्या 12,1)
2. बहलं तत्त्रिभागैकं व्यासेनाष्टांशके कृते। ऊर्ध्वपट्टं त्रिभागं वा मध्यं तच्चतुरंशकम्॥ क्षुद्रवाजनमेकांशमथ पञ्चांशके कृते। व्यासे वाजनमश्व्यंशं त्रिभागं घनमुच्यते॥ (तत्रैव 2-3)
3. विस्तारस्य त्रिभागैकं कर्णं नीव्रवितानतः। पञ्चभागद्विभागं वा सप्तभागत्रिभागिकम्॥ (तत्रैव 4)

को दो भाग रखना चाहिए। बाद में दो भाग खाँचे (ऊर्ध्वपट्ट) के और एक भाग अन्तिम या निम्नस्थ पट्ट के होते हैं। इसी तरह जब नीप्रव्यास छह से विभाजित कर रखा जाता है तो उसका ऊर्ध्वपट्ट दो भाग, खाँचा तीन भाग और एक भाग का अधोपट्ट होता है। इसी भाँति यदि उसे आठ से भी भाजित कर रखा जाए तो उपर्युक्त भाग क्रमशः 3, 4 और 1 अंश से कल्पित किए जा सकते हैं।

अथ नीप्रफलकेलुपासंयोजनम्। धूलीनिरोधनाख्यं पटलप्रान्तपट्टिकायोजनं कर्म प्रस्तौति-

नीप्रव्यासे विभक्ते शर$_5$गिरि$_7$नवभिः$_9$ सर्वतो वह्निभागं$_3$
नीप्रस्थानाद् वितानादुपरि तदुचितं कोटिकर्णाध्वनात्र।
नीत्वा नीप्रं लुपासु स्वयमिह विधिना धूलिकारोधयोग्यं
कृत्वा वायव्यहोमाद्यवहितहृदयः कारुभिः कल्पयेत् तत्॥ 4॥

यदि नीप्र के व्यास या चौड़ाई को पाँच, सात अथवा नौ भागों में विभाजित किया जाता है तो हर स्थान से मध्यस्थ ध्वजरेखा के ऊपर कोनों को अनुप्रस्थतः तीन भाग जितना खिसकाना चाहिए। बाद में नीप्र को लुपा पर व्यवस्थित किया जाना चाहिए। इस प्रकार से धूलिकावरोध परिकल्पित होगा अर्थात् भवन में आने वाली धूल को रोकने का काम करेगा। शिल्पी को चाहिए कि वह धूलिकावरोध को लगाते समय सर्वप्रथम पवित्रमन से वायव्य-होम करें अर्थात् शान्ति कृत्य करें।

विशेष - वास्तुविद्या में धूलिकारोधन पर पूरा अध्याय मिलता है। धूलीनिरोधन नामक पटल प्रान्त पट्टिका योजन के कर्म के विषय में कहा गया है कि इस कृत्य से पूर्व, सर्वप्रथम स्नानादि से निवृत्त होकर नवीन परिधानों को धारणकर, उत्तम लेपादि करें और वायु की प्रार्थना करें कि 'हे चराचर में समान रूप से विचरण करने वाले उत्तम तेजस्वी, भगवत् पवनदेव, आपको प्रणाम है। आप सदन की रक्षा करें।' इस प्रकार से लोहे की कीलों से लुपों को विशुद्धमती होकर सम्यक् रूप से पूज्यभाव देना चाहिए।[1]

उत्तम धूलिकारोध क्रियाकर्म के विषय में संक्षेप में कहा गया है कि वायव्यकोण (उत्तर-पश्चिम) में प्रसाद या गृह के अनुरूप ही मण्डप बनाएँ। वहाँ पर निर्धारित

----

1. नमस्तुभ्यं भगवते पवनायामितौजसे। चराचरचरायैतत् सदनं रक्ष वार्मुचः॥ स्नातो नवाम्बरालेपः सम्प्रार्थ्यैवं सदागतिम्। सन्दध्यादायसैः कीलैर्लुपां प्रति विशुद्धधीः॥ (वास्तुविद्या 12, 5-6)

प्रमाण के अनुसार कुण्ड की रचना करें और अग्निदेव का आधान करें। यहाँ पर शुद्धीकरण के अनन्तर न्यायानुसार होम कार्य करना चाहिए।[1]

उक्त मण्डप में तीन अहोरात्रि तक मनु पर्वतादि मन्त्रों से पिघलाए आज्य-घृत का होम करें। इसके बाद, चौथे दिवस समिधा, आज्यादि चार द्रव्यों से यथाक्रम होम करें। इस अवधि में प्रत्येक द्रव्याहुति के लिए एक हजार आठ मन्त्र मनुः पर्वतास्त्राम् आदि का प्रयोग करें। इसी दिवस ब्राह्मणों को खीर आदि उत्तम व्यञ्जनों से युक्त भोजन करवाएँ और उन्हें चौबीस प्रकार के भूषणों से सन्तुष्ट करें। साथ ही होम की पूर्णाहुति पर उन्हें दक्षिणा भी प्रदान करें। इसके बाद मुख्य विप्र के साथ नीव्रपट्टिका का शुद्ध जल, नारियल पानी व दुग्ध से प्रक्षालन करें और शिल्पादि कृत सामग्री चारों ही दिशाओं में यथास्थान सुस्थापित करें। इस अवसर पर पञ्चगव्य, घृतादि से अभिषिञ्चन करना चाहिए।[2]

इसके बाद अन्य कृत्यों में नीव्रपट्ट पर जहाँ-जहाँ भी लुपाओं का योग हो, उस स्थान को अभिमन्त्रित किया जाना चाहिए। यह जप प्रत्येक स्थान पर हो।[3]

इसके अतिरिक्त ब्राह्मण और मुखिया को चाहिए कि वे गृहाभिमुख होकर पूर्वादि दिशाओं के क्रम से 'नमस्तुभ्यं भगवते सर्वप्राणाय...' मन्त्र का चारों ही दिशाओं में जाप करें और प्रदक्षिणा करते जाएँ। उक्त स्थान से सम्बद्ध सहित ब्राह्मणश्रेष्ठ, स्थपति, शिल्पी आदि प्रणम्यजनों सहित कृताञ्जलि या करबद्ध होकर वहाँ प्रत्येक दिक्पाल की इस प्रकार प्रार्थना करें- 'नमोऽस्तु भूदेनमोऽस्तु भूदेवपदाम्बुजेभ्यो नमोऽस्तु देवाय सदाचराय। एवं कृतायां खलु नीव्रपट्ट्यां धूलीनिरोधाय दयां ददातु।' मन्त्रोच्चारण के साथ-साथ इस अवसर पर नानाविध वाद्यों का वादन किया जाए। इसके साथ ही वहाँ पर नीव्रपट्टी के अन्तिम भाग का यथाविधि रोपण करना चाहिए। इसके बाद

---

1. **सङ्गृह्यैवमुक्तमेवामुं विधिं वितत्य दर्शयति**- अथ वक्ष्यामि संक्षेपाद् धूलिकारोधमुत्तमम्। वायव्ये मण्डपं कुर्यात् प्रसादस्यानुरूपतः॥ तत्र कुण्डं प्रमाणेन कृत्वा चाग्निं प्रणीय च। संस्कृत्य च यथान्यायं पश्चाद्धोमं समाचरेत्॥ (तत्रैव 7-8)
2. **होमप्रकारमाह**- पर्वतास्त्रेण मनुना सर्पिषैव त्र्यहर्निशम्। पश्चाच्चतुर्थे दिवसे समिदाज्यादिकं क्रमात्॥ अष्टोत्तरसहस्रं च प्रत्येकं जुहुयात् ततः। पायसैर्भक्ष्यभोज्याद्यैर्भोजयित्वा द्विजोत्तमान्॥ चतुर्विंशतिसङ्ख्याकान् भूषणाद्यैश्च तोषयेत्। तेभ्योऽथ दक्षिणां दत्त्वा तथा होमं समाप्य च॥ तैरेव विप्रमुख्यैश्च सह ता नीव्रपट्टिकाः। प्रक्षाल्य शुद्धतोयेन नालिकेरोदकेन च॥ क्षीरेण च तथा कृत्वा चतुर्दिक्षु सुसंस्थिताः। आसिच्य पञ्चगव्येन सम्पाताज्येन सेचयेत्॥ (तत्रैव 9-13)
3. **कृत्यशेषमाह**- ततो लुपाङ्कितं यत्र तत्र तत्राभिमन्त्रयेत्। एवं कृत्वाथ नीव्रान्ताल्लुँपानां देशिकोत्तमः॥ (तत्रैव 14)

यथाचार गुरु, गणेशादि की पूजा करनी चाहिए और 'नमस्तुभ्यं भगवते मारुताय महात्मने धूलीनिरोधनं कर्तुं प्रसादं कुरु मे प्रभो' आदि मन्त्रों से प्रार्थना करते हुए सुदृढ़ कील से उक्त पट्टिका को विद्ध करना चाहिए।[1]

अथ वलयप्रमाणमाह-

मनु$_{14}$यवचतुरश्रं द्व्यङ्गुल तत्र तु द्वि$_{2}$-
द्वय$_{2}$यवपरिवृद्ध्या त्र्यङ्गुलान्तं$_{3}$ क्रमेण।
वलयमिति मुनीन्द्रैः षड्विधं दर्शितं ते-
ष्विह विहितलुपौचित्येन तत् कल्पनीयम्॥ 5 ॥

(इसके साथ ही लगाए जाने वाले चौकोर वलय पर विचार करते हैं) इसका प्रमाण मुनिवृन्दों ने छह प्रकार का माना है। इसको वर्गाकार और 14 यवमान से क्रमशः दो-दो यव की वृद्धि करते हुए 3 अङ्गुल तक बनाया जा सकता है। यहाँ लुपा के अनुसार जो भी मान अपेक्षित और उपयुक्त हो, उसको काम में लिया जाना चाहिए।

विशेष - यहाँ ज्ञातव्य है कि शास्त्रों में एक यव का मानक 1/8 अङ्गुल प्रमाण माना गया है।

अथ पट्टिकाप्रमाण चान्तरमानमाह-

तत्र सप्तदशभिर्यवैः$_{17}$ स्मृता पट्टिकाविततिरङ्क$_{9}$सम्मितैः।
तद्घनं घनपदोनमन्तरं सन्दधीत च लुपासु कीलकैः॥ 6 ॥

(अब नीप्र के लिए प्रयोजनीय पट्टिका का प्रमाण कहा जाता है) पट्टिका का विस्तार या चौड़ाई को 17 यव प्रमाण रखना चाहिए और उसकी वितति अथवा मोटाई को नौ यव रखी जाए। उनके मध्य का अन्तराल कुल मोटाई का तीन चौथाई हो और इसको लुपा पर कील के माध्यम से सुदृढ़ रूप से संयोजित किया जाना चाहिए।

----

1. तथा च प्राच्यादिक्रमेण गृहाभिमुखं च स्थित्वा जपेदित्याह- प्रासादाभिमुखं स्थित्वा विप्रमुख्यैश्च तैः सह। नमस्तुभ्यं भगवते सर्वप्राणाय वायवे॥ धूलिकारोधमस्माभिः कृतं तदनुमोदताम्। सम्प्रार्थ्यैवं चतुर्दिक्षु प्रदक्षिणवशात् ततः॥ देशिकेनाप्यनुज्ञातस्तैरपि द्विजसत्तमैः। स्थपतिः शिल्पिभिः साकं प्रणिपातपुरस्सरम्॥ कृताञ्जलिरिति प्रार्थ्य दिक्पालेशं तदाचरेत्। नमोऽस्तु भूदेवपदाम्बुजेभ्यो नमोऽस्तु देवाय सदाचराय। एवं कृतायां खलु नीव्रपट्ट्यां धूलीनिरोधाय दयां ददातु॥ स्थपतिस्तां समुद्धृत्य शिल्पिभिश्च यथाक्रमम्। नीव्रान्तेषु समारोप्य वाद्यघोषेण भूयसा॥ प्रणम्य पूर्वं पवनं सदागतिं गुरुं गणेशं स्वथ देवता दिशाम्। विधाय पूजां विधिवत् समाप्य तं सम्प्रार्थ्य विद्ध तनुयात् सुकीलकैः॥ नमस्तुभ्यं भगवते मारुताय महात्मने। धूलीनिरोधनं कर्तुं प्रसादं कुरु मे प्रभो॥ (तत्रैव 15-21)

विशेष - वास्तुविद्या में भी कहा गया है कि पट्टिका का विस्तार सत्रह यव मान से रखना चाहिए। मोटाई नौ यव मान से रखें, ऐसा शिल्पीजनों का कहना है। पट्टिका का अन्तरमान सवा दो यव न्यून रखना चाहिए।[1]

अथ लोष्टैराच्छाद्यगृहविशेष्यमाह-

लोष्टैराच्छाद्यते चेदखिलनिलयने पट्टिकाप्रस्तरः स्यात्
तत्स्थाने क्वापि कार्योऽपि च घनफलकाप्रस्तरो[1] बद्धकीलः।
लोष्टाधाराय किञ्चित् तलमपि च खनेच्चञ्चुसन्धारणार्थं
ताम्रैराच्छाद्यते चेन्न तु तलरचना देवगेहादिकेषु॥ 7॥

ऐसे गृह जिनको टाइल या परिपक्व पट्टिका (कवेलू, केलू) से आच्छादित किया जाना हो अथवा जिन पर छवाई करनी हो, वहाँ पर पट्टिका प्रस्तर का शृङ्खलाबद्ध प्रयोग किया जाना चाहिए। कहीं-कहीं छतों पर सघन फलक वाले प्रस्तर या मोटी पट्टिकाओं को भी लगाया जा सकता है किन्तु वे कील से जुड़े हों, यह आवश्यक है। जहाँ कहीं खपरैल पट्टिकाओं को स्थायी रूप से संधारित किया जाना हो तो वहाँ तलों पर खाँचे बनाने चाहिए और पट्टियों के किनारे उनमें धँसाने चाहिए। अगर देवगृहों का निर्माण कार्य हो वहाँ पर आच्छादन के लिए ताँबे की पट्टिकाओं को लगाया जाना चाहिए। इनके लिए तलरचना पर खाँचों के निर्माण की आवश्यकता नहीं होती अर्थात् वे सीधे ही चढ़ाई जा सकती हैं।

अथ शिरःप्रदेशे अभिधानमानादिकमाह-

शिरःप्रदेशस्त्वभिधानमुक्तं वेश्माख्यपुंसस्तदधोमुखं स्यात्।
मासूरतुङ्गार्धपदोनितं तद्विस्तारमाद्यङ्घ्रिघनाद् घनं च॥ 8॥

(जिस प्रकार पुरुष के सिर को शिरोत्राण या पगड़ी ढकती है, उसी प्रकार भवन की छत गृह को ढकती है) ऐसे पुरुष-रूपेण वेश्म या गृह में भवन के ऊपरी भाग को यहाँ 'अभिधान' कहा गया है। यह गृह में अधोमुखी जानना चाहिए। मासूर (अधिष्ठान) की जितनी ऊँचाई हो, उसकी आधी इस अभिधान की चौड़ाई होती है। यह तीन चौथाई भी हो सकती है। इसकी पृथुलता या मोटाई पादुक के घन या मोटाई के समान ही जाने।

विशेष - वास्तुविद्याकार ने इसके लिए अपिधान शब्द का प्रयोग किया है।

----

1. यवात्यष्टिमितव्यासा पट्टिका कथिता बुधैः। यवानां नवकं प्रोक्तं बहलं शिल्पकोविदैः॥ बहलात् पादहीनं तु तासामन्तरमीरितम्॥ (वास्तुविद्या 12, 22-23)

ग्रन्थकार का मत है कि अपिधान या अवसानफलक का मान तल की ऊँचाई के आधे मान से विस्तृत रखें। अधिष्ठान की ऊँचाई को चार भागों में बाँटकर तीन अंश भी रखने से अभिप्राय है। उसका निम्न सिरा चौथाई भाग का हो, उसकी मोटाई पादुका के समान ही चतुर्थांश या आधी हो। इस प्रकार पुरुष वेश्म या हवेलियों में अपिधान का शिरोदेश रखने का विधान है।[1]

अथ गृहस्य द्वारस्थानमाह-

द्वाराण्यङ्गणगेहमध्यसिरयोर्मध्यस्थमध्यान्यथो
कुर्यादङ्गुलकल्पितागमवयोयोनीनि पूर्वादितः।
योगावुत्तरतारतुल्यविततौ विस्ताररतुल्याङ्घ्रिव-
ह्व्य३र्धांशोनघनौ भुवङ्गमपतङ्गाढ्यौ लसद्वाजनौ॥ 9॥

(अब भवन में द्वार-स्थान के विषय में कहा जा रहा है) किसी भी भवन में पूर्वादि दिशाओं में द्वार इस तरह स्थापित किया जाना चाहिए कि इसका केन्द्र, आङ्गन की मध्यरेखा तथा गृह की मध्यवर्ती रेखा के मध्य ही आए। इसके लिए आय, व्यय तथा योनि की गणना अङ्गुलमान से की जानी चाहिए। इसके लिए वाजन के साथ द्वार खम्भों की चौड़ाई उत्तर की चौड़ाई के समतुल्य रखी जाए और उसकी मोटाई और अन्य अङ्गों देहली, सिरादि सहित चौड़ाई को उसके समान ही अथवा आधी, पौन या दो तिहाई रखी जा सकती है। यह मत द्वार की चौखट के ऊपर, बाहर निकले भागों या दीवारस्थ भाग के सन्दर्भ में है। द्वारशाखाओं को भुवङ्गम, पतङ्ग (सूर्य), वाजनादि से मण्डित करना चाहिए।

विशेष - इस सम्बन्ध में वास्तुविद्याकार का कथन है कि सभी प्रकार के भवनों में द्वारों को निर्धारित दिशा के अनुसार ही रखना चाहिए अर्थात् यदि दक्षिणशाला हो तो उत्तराभिमुख, पश्चिमशाला हो तो पूर्वाभिमुख- इस क्रम को ध्यान में रखें। द्वार स्थापित करते समय यह ध्यान में रखा जाए कि द्वार का मध्य स्थान गृह के मध्य स्थान साथ ही वास्तुसूत्र के अनुसार ज्ञात करना चाहिए।[2]

----

1. तलोच्छ्रयार्धमुदितमपिधानस्य विस्तृतम्॥ पादं वाप्यथ पादोनं कीर्तितं तदवाङ्मुखम्। बहलं जन्मतुल्यं स्यात् पादोनं वार्धमेव वा॥ (वास्तुविद्या 12, 29-30) वेश्मपुंसः शिरोदेशमपिधानमितीरितम्। तलोच्छ्रयेत्यादि। तलमधिष्ठानम्। अपिधानं वेश्मशिरोदेश इति समन्तरमेव वक्ष्यति। पादोनमिति। अधिष्ठानोच्छ्रये चतुर्धा विभक्ते त्रिभिरंशैर्युक्तमित्यर्थः। अपिधान-निवेशनविधिः— तदवाङ्मुखमिति। तस्य घनमाह— बहलमित्यादि। जन्म पादुकम्। जन्मतुल्यं पादुकाघनतुल्यम्। वार्धमेव वेति। 'सार्धमेव वे'ति पाठः। (तत्रैव टीकायाम्)
तथा च श्रीकुमार शिल्परत्ने- 'पादुकोच्चेन बहलं सममर्धं त्रिपादकम्' इति विरुध्यते।
2. द्वारं च दिक्षु कर्तव्यं सर्वेषामपि वेश्मनाम्। मध्यस्थं द्वारमध्यं स्याद् वास्तुमन्दिरसूत्रयोः॥ (वास्तुविद्या 13, 24)

अन्यदप्याह-

योगादङ्घ्र्यग्रि३भागाधिकघनयुतनिर्वाजनाधः पटी स्या-
दूर्ध्वस्थाने तु तुल्योत्तरमिलितनिजाग्रौ च योगौ विधेयौ।
योगान्तर्भागनाहो निजदिगुचितयोन्यायवृद्ध्यादियुक्त-
स्वेष्टायामोननाहार्धत इह विततिः स्याद् गुणव्यासतो वा॥ 10॥

गृह में दहलीज की मोटाई को इसके चौखट, स्तम्भों की मोटाई से 1/4 अथवा एक तिहाई अंश अधिक रखी जानी चाहिए। यहाँ वाजन या दोनों तरफ निकले भाग नहीं होने चाहिए। चौखट का अग्र अथवा ऊपरी धरण उत्तर अथवा उनके स्तम्भों तक हो। इसी प्रकार चौखट की भीतरी परिधि दिशा सम्मत हो। इसमें उचित योनि और आय, वृद्धि आदि का ध्यान रखकर न्यास करना चाहिए। इसके लिए चौड़ाई को अर्ध परिधि से उसके ही इष्ट दैर्घ्य और गुणांश से निकालना चाहिए अर्थात् भीतर की चौखट का परिमाप वास्तुसूत्र के अनुसार होना चाहिए, जो कि दिशा और आयाधिक्य के लिए उपयुक्त हो तथा चौड़ाई इसके अर्धपरिमाप से इसकी चयनित लम्बाई के द्वारा ही प्राप्त की जाएगी।

तत्राह द्वारोर्ध्वपट्टालङ्कारनिर्देशम्-

द्वारोर्ध्वपट्यूर्ध्वमथो गणेशपद्मालयायादवमूर्तिभेदान्।
यथेष्टमापाद्य विचित्रपत्रिप्रभेदयुक्तां फलकां विदध्यात्॥ 11॥

(अब द्वार के ऊपर लगाए जाने वाले पट्ट और उसके अलङ्करण के विषय में कहा जा रहा है) द्वार में ऊर्ध्वपट्ट को लगाया जाना चाहिए और उसको गणेश, पद्मालया अथवा महालक्ष्मी या श्रीकृष्ण (यादव) अथवा जो भी आदरणीय देव हो उसकी प्रतिमा को उत्कीर्ण किया जाना चाहिए। इसी प्रकार वहाँ पर चित्र-विचित्र पत्रों, खगों का विन्यास, अङ्कन भी करवाया जाना चाहिए।

विशेष - मयमतम् में गणेश की प्रतिमा की लक्षण इस प्रकार आया है कि यह प्रतिमा गजमुख होनी चाहिए और एकदन्त हो। स्थूलकाय तथा तीन नेत्र वाली हो। गणाधिप का वर्ण रक्त, चारभुजाएँ, लघुकद तथा महोदर होना चाहिए। देव को नाग की उपवीत धारण करवाएँ। उरु, जानू घने, मोटे व भारी हों। कमलासन पर देव को विराजित करवाएँ तथा वाम पर नीचे निकला हुआ हो। दक्षिण पद मुड़ा हुआ हो तथा शूण्ड वामावर्त में हों व अङ्गुलीयम (अङ्गूठी) धारण किए हो। दाँयें एक हाथ में वह अपना भङ्गुर दन्त तथा अन्य हाथ में अङ्कुश धारण किए हों। वाम हाथों में क्रमशः

अक्षमाला और लड्डू धारण करवाए जाने चाहिए। करण्ड मुकुट, मौलीबन्ध तथा द्वार आदि आभरणों से देव को अलंकृत करें। यह गणाधिप की प्रतिमा पद्मपीठ पर स्थित करें। यदि देव नृत्त मुद्रा में हों तो उनकी चार या छह भुजाएँ बनाएँ एवं ध्वज सहित वाहन (मूषक) का भी अङ्कन करें।[1]

महालक्ष्मी की प्रतिमा का विधान मय ने इस प्रकार बताया है कि लक्ष्मी को पद्मासन पर अवस्थित करें और दो भुजी और कञ्चन जैसी आभावाली बनाकर उज्ज्वल स्वर्णाभरणों के साथ ही मकराकृति वाले कुण्डल व शङ्खाकार मण्डल (कुण्डल) से युक्त करें। लक्ष्मी की प्रतिमा को सुयौवना, सुरम्य अङ्गकान्ति वाली, कुञ्चित केश राशि के साथ ही भ्रमित भौहों से युक्त करें। लक्ष्मी का मुख मण्डल गोलाकार हों, वे कर्णपूर धारण करती हैं। वे कमल नयना हैं। लक्ष्मी के ओष्ठ रक्तवर्ण, पीनगण्ड (उन्नत कपोल) हैं। वक्ष पर पर वे कञ्चुक धारण करती हैं। इस प्रतिमा को शिरप्रदेश से क्रमशः शङ्ख, चक्र और सीमान्त में पङ्कज से मण्डित किया जाना चाहिए। उनके दक्षिण हाथों में पद्म और वाम हाथ में श्रीफल धारण करवाया जाना चाहिए। सुन्दर वक्ष प्रदेश एवं उन्नत श्रोणी को उज्ज्वल वस्त्रों से अलंकृत करें। वे मेखला, कटिसूत्रादि सर्वाभरणों से नित्य युक्त रहती हैं। इसी प्रकार उनकी केश राशि करण्ड मुकुट में गुप्त हों, वे कमलासन पर विराजमान हों। उनके उभयपार्श्व में चामरधारिणियाँ बनाई जानी चाहिए। इस प्रतिमा में दोनों ओर गज अपनी शूण्ड से जलधारा बरसाते हुए लक्ष्मी का अभिषेक करते हुए दृष्टिगोचर करवाने चाहिए। गृहार्चना योग्य लक्ष्मी की प्रतिमा को चारभुजाओं वाली बनाएँ। इस प्रतिमा के नीचे के दोनों ही हाथ क्रमशः वरद और अभय मुद्रा में बनाएँ तथा ऊपरी हाथों में अरुण वर्ण का कमल धारण करवाएँ। उन्हें सर्वाभरणों से सम्पन्न करने के साथ ही तप्त स्वर्ण के समान आभा वाली बनाएँ। गृह में लक्ष्मी की प्रतिमा को पर्यङ्कबन्ध (पीठ) पर आसीन करें। यह श्वेत पद्मासन जैसा हों। लक्ष्मी का यह रूप और इस प्रकार की स्थापना किए जाने से कर्ता को अभिप्सित फल की प्राप्ति होती है।[2]

---

1. तथा च मयः— गजाननस्त्वेकदन्तः समस्थस्तु त्रिलोचनः। रक्तवर्णश्चतुर्बाहुर्भूतरूपो महोदरः॥ नागयज्ञोपवीतस्तु घनपिण्डोरुजानुकः। पद्मासनोपरिष्टात् तु वामाङ्घ्रिशयितं (तथा)॥ दक्षिणं कुञ्चितं पादं वामावर्ताङ्गुलीयकम्। स्वदन्तमङ्कुशं कुर्याद् दक्षिणे (वै) करद्वये॥ वामद्वयेऽक्षमालां च लड्डुकं च प्रदायेत्। करण्डिकाभ मौल्यङ्गो हाराद्याभरणान्वितः॥ एवं गणाधिपः प्रोक्तः स्थितो वा पद्मपीठके। नृते च षट्चतुर्बाहु (सकेतु-) राखुवाहनः॥ (मयमतम् 36, 122-126)
2. लक्ष्मीः पद्मासनासीना द्विभुजा काञ्चनप्रभा॥ हेमरत्नोज्ज्वलं नक्रकुण्डलं शङ्ख (?-मण्डलम्,कुण्डलम्)। सुयौवना सुरम्याङ्गा कुञ्चितभ्रूसविभ्रमा॥ आमण्डलमुखी कर्णपूरपद्मेक्षणान्विता। रक्तोष्ठी पीनगण्डा च कञ्चुकच्छादनस्तनी॥ शिरसो मण्डनं शङ्खचक्रसीमान्तपङ्कजम्। पद्म स्याद् दक्षिणे हस्ते वामे श्रीफलमिष्यते॥ सुमध्य

यादव अथवा श्रीकृष्ण की प्रतिमा का लक्षण रूपमण्डनम् में आया है कि उनके हाथ में प्रदक्षिणा क्रम से पाञ्चजन्य, गदा, पद्म, सुदर्शन चक्र होता है। इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तरपुराण में आया है कि नीलोत्पल वर्ण वाले श्रीकृष्ण के हाथ में चक्र रहता है। पास ही रुक्मिणी के दाहिने हाथ में कमल, समीप में बलराम हल-मूसल लिए, कुण्डल पहने हुए, नीले वस्त्र धारण किए और मदभरे नेत्रों से युक्त होते हैं। श्याम वर्ण की रुक्मिणी के हाथ इन्दीवर की भाँति सुन्दर होते हैं, बाँया हाथ कटि पर होता है।[1]

तत्राह कुड्यानुसारे द्वारपरिकल्पनम्-

कुड्ये भूयिष्ठविस्तारिणि दिवसकरै$_{12}$र्भाजितेऽन्तर्बहिश्चा-
प्यद्री$_{7}$ष्वंशान् विधायान्तरविहितसिरा$_{5}$लग्नमध्यौ च योगौ।
कृत्वा क्काप्येतयोर्मूर्धनि सुदृढतरामूर्ध्वपट्टीं तदूर्ध्वं
भित्त्यङ्गादीनि कुर्याद् दृढतरशिलया मृत्सुधायोगभेदैः ॥ 12 ॥

(अब भित्ति प्रमाण से द्वार संरचना के विषय में कहा जा रहा है) गृह में जितने ज्यादा प्रमाण की भित्ति बनाई जा रही हो, उसकी चौड़ाई को बारह से विभाजित करें और इसमें से सात भाग भीतर और पाँच भाग बाहर की ओर रखते हुए द्वार स्तम्भों को रखें। स्थापना के समय यह ध्यान रहे कि उनको केन्द्र के साथ विभाजित रेखा पर स्थापित किया जाए। कभी-कभी इस पर सुदृढ़ शीर्षपट्ट भी लगाते हैं। इसी पर बाद में शेष ऊँचाई की दीवार तक शिला, मिट्टी और चूना आदि से अन्य भित्यङ्ग अथवा दीवार का उठाव किया जाना चाहिए।

अथ अन्तर्नाहजमन्दिराख्ये विशेषे-

अन्तर्नाहजमन्दिरे घनतरे कार्ये च कुड्ये क्कचिद्
गेहप्राङ्गणपादुकावधि करोतु स्वांशकुड्यं घनम्।

विपुलश्रोणिर्शोभनाम्बरवेष्टिता। मेखला कटिसूत्रं च सर्वाभरणभूषिता॥ करण्डकाभमौल्यङ्गा चासीना कमलासना। चामरव्यग्रहस्ते च तत्पार्श्वे तु स्त्रियावुभे॥ स्नपन्तौ कुम्भहस्तौ हस्तिनौ च प्रदर्शयेत्। अथ गेहार्चनायोग्या चतुर्बाहुसमन्विता॥ वरदाभयहस्तं च सारुणाब्जसमप्रभा। सर्वाभरणसंपन्नां तप्तहेमोज्ज्वलप्रभाम्॥ पर्य(-ङ्क-) बन्धमासीनां श्वेतपद्मासनाञ्चिताम्। ईदृशीं कारयेल्लक्ष्मीमभीप्सितफलप्रदाम्॥ (तत्रैव 36, 247-255)

1. कृष्णः करैः पाञ्चजन्यं गदां पद्मं सुदर्शनम्। एताः सुमूर्त्तयो ज्ञेया दक्षिणाधः कर क्रमात्॥ (रूपमण्डनम् 3, 20) तथा च **विष्णुधर्मोत्तरे**- एकानंशापि कर्त्तव्या देवी पद्मकरा तथा। कटिस्थवामहस्ता सा मध्यस्था रामकृष्णयोः॥ सीरपाणिर्बलः कार्यो मुसली चैव कुण्डली। श्वेतोऽतिनीलवसनो मददाञ्चितलोचनः॥ कृष्णश्चक्रधरः कार्यो नीलोत्पलदलच्छविः। इन्दीवरकरा कार्या तथा श्याम च रुक्मिणी॥ (तृतीयखण्डे 85, 72-74)

तत्तत्प्राङ्गणगेहसूत्रमनुसृत्यैवेष्टकुड्यप्रथा-
निष्ठं पृष्ठत एव नेयमुदितद्वारोत्तरादीनि च॥ 13॥

ऐसे (अन्तर्नाहज मन्दिर) भवन जिनमें मापन का कार्य अन्त:परिधि के अनुरूप ही किया जाता है, उनके लिए दीवार कदाचित बहुत घनतर या मोटाई लिए होती है। कई बार दीवार वहाँ तक भी आ जाती है जहाँ कि भवन के प्राङ्गण की पादुका होती है अर्थात् ऐसी दीवार अपने ही अंश से घनी होती है। ऐसे प्रसङ्ग में द्वार और उत्तर तथा शाला और प्राङ्गण के सूत्र के नियम के अन्तर्गत इष्ट दीवार के बाह्य छोर तक लिया जाना चाहिए अर्थात् द्वार और दीवारपट्ट का निर्धारण इष्ट दीवार के बाहर से करें। अन्तर्नाहज मन्दिर में आङ्गन व शाला के मध्य सूत्र के बीच ही द्वार होता है।

अथ कवाटलक्षणम्-

कवाटयुग्मं निजतीव्रयुक्तद्वारप्रथार्धप्रततं विधेयम्।
मात्राङ्गुलैर्नेत्र$_2$हुताश$_3$सङ्ख्यैः सार्धैश्च यद्वाब्धि$_4$मितैर्घनं च ॥ 14॥

(अब कपाट या किंवाड़ के विषय में कहा जा रहा है) द्वार के मुक्त क्षेत्र की जितनी चौड़ाई हो, उसके आधे में मोटाई के मान को जोड़कर ही वहाँ लगाए जाने वाले किंवाड़ के युग्म अथवा किंवाड़-पल्ले बनाए जाने चाहिए। यहाँ किंवाड़ की मोटाई को ढाई अथवा साढ़े तीन मात्राङ्गुल या फिर चार मात्राङ्गुल रखी जा सकती है।

अथ कवाटाङ्गादीनां-

ऊर्ध्वाधरभ्रमणकार्गलसन्धिपाल-
प्रक्षेपणीयवलयान्यपि पत्रकाणि।
तिर्यञ्च्युदञ्चि पुलकार्तवकुड्मलानि
सश्रीमुखेन्दुशकलानि कवाटयोः स्युः॥ 15॥

(अब द्वार के विविध अङ्गों के विषय में कहा जाता है) किंवाड़ के दोनों ही पल्लों के शीर्ष और निम्न स्थान पर भ्रमणिका (स्थापित करने वाले स्थान पर लगाई जाने वाली मोटी कीलाकार काष्ठाएँ जिससे कि वे खुल सके या बन्द हो सके, पूर्वकाल में ऐसी किंवाड़ों के ऊपर और नीचे दोनों ही स्थानों पर ओखली के साथ लगते थे), अर्गला या कुण्डी (पुराने किंवाड़ों में बन्द करने के लिए लगाया जाने वाला आन्तरिक ताला या भागल अथवा आगलकिया), सन्धिपाल (जोड़ने के लिए लगाए जाने वाले कब्जे), प्रक्षेपणीय वलय (किंवाड़ों को लगाने के लिए बनाई जाने वाली चूड़ियाँ,

पकड़ने-खींचने के साधन, कड़े) पत्रक, तिर्यक् पट्टी, श्रीमुख, किंवाड़ों पर लगाई जाने वाली चन्द्रकार शकलिकाएँ या पासे सहित पुष्पादि से युक्त किया जाना चाहिए।

विशेष - वास्तुविद्याकार का कथन है कि किंवाड़ की सुन्दरता आदि के लिए पद्म पुष्पादि को लगाना चाहिए। निश्चलता के लिए उन पुष्पों की कर्णिका के बीच कील लगानी चाहिए। कीलों के बाहर दिखाई देने वाले हिस्से में सरोजकोरक या अधखिले कमल, कलियाँ लगानी चाहिए। पट्टिका व पद्म को मध्य में विद्धकर निश्चल करें।[1]

तत्रैव सूत्रपट्टिका वा सन्धिपालश्च-

द्वारव्यासाब्धि$_4$बाणो$_5$र्म्य$_6$वनिधर$_7$भुजङ्गां$_8$शितैकांशतीव्र-
व्यासा व्यासार्धपादोनितबहलमिता द्वारतुल्यायतिश्च।
कर्तव्या सूत्रपट्टी ज्वलन$_3$शर$_5$महीध्रा$_6$दि^{2}कौजस्तनाढ्या
मुक्तादामादिपद्मस्थितमहितरमाकृष्णविघ्नेशयुक्ता ॥ 16 ॥

द्वार की रचना में सन्धिपाल अथवा सूत्रपट्टी को उसी मान से रखें कि जितना द्वार खुला या बन्द हो सके। इसे द्वार की चौड़ाई और मोटाई को चार, पाँच, छह, सात अथवा आठ भागों से विभाजित करने पर उसके एक भाग के बराबर रखें। यह मोटाई, चौड़ाई की अपेक्षा आधी या पौन भाग तक भी रखी जा सकती है किन्तु लम्बाई अवश्य द्वार की लम्बाई के समतुल्य रखें। इसको तीन, पाँच या सात- इस प्रकार विषम संख्या में लगाए जाने वाले स्तनादि से आवृत किया जाए। साथ ही मुक्तादाम या मोतियों की लड़ियों सहित कमलासना लक्ष्मी, कृष्ण और विघ्नेश को बनाना चाहिए।

विशेष - वास्तुविद्या में यह भी आया है कि अन्तर्भाग के दोनों पुटों में अर्गला की कील लगाने के लिए आवश्यक अरमा (किंवाड़ का दिला) नामक भार विशेष के निर्माण के लिए कहा जा रहा है कि द्वार के उत्सेध के मान को कुल पाँच भागों में विभाजित करें। इनमें से एक भाग का अरमा का विस्तार रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि द्वार के विस्तार को चार या तीन भागों में बाँटे तो उसका एकांश अरमा का आयाम रखा जा सकता है। अरमा के विस्तार के लिए नियम यह है कि उसके कुल मान को

----

1. तुलनीय- **मानववास्तुलक्षणे**- ऊर्ध्वाधरभ्रमरकार्गलसन्धिपालप्रक्षेपणीयवलयान्यपि पत्रकाणि। तिर्यञ्च्युदश्चि पुलकार्तवकोमलानि सश्रीमुखेन्दुशक्तानि कवाटयोः स्युः॥ (53) तुलनीय- **तन्त्रसमुच्चय** (2, 32), श्रीकुमारविरचिते **शिल्परत्नम्** (25, 95)
   सरोजकोरकाकारैः कीलैर्वा पुष्पसन्निभैः। पट्टिकां पद्ममध्येषु विद्धैः कुर्याच्च निश्चलाम्॥ (वास्तुविद्या 14, 24)

छह या पाँच भागों में बाँटे और उसमें से एक भाग का उसका उसका विस्तार रखा जा सकता है। व्यास या विस्तार का चौथा हिस्सा उसकी मोटाई हो सकती है। इसी प्रकार उसके विस्तार का आधा, विस्तार के समान भी उसके घनीकृत किया जा सकता है। इस प्रकार यह तीन प्रकार की हो सकती है। शिल्पियों को मध्यखण्ड छोड़कर अरमा को भार से नीचे रखना चाहिए।[1]

तत्प्रसङ्गात् कवाटलक्षणं प्रस्तौति। मातृकवाटफलकप्रोतसूत्रपट्ट्याः मानमाह-

माता वामगता कवाटफलका सा सूत्रपट्ट्याश्रया
पुत्री दक्षिणगामिनीति सकलद्वारेषु सम्प्रेक्ष्यताम्।
द्वारोच्चानल$_3$वेद$_4$बाण$_5$रस$_6$भागोच्चां तदुच्चाब्धि$_4$बा-
णो$_5$र्म्य$_6$द्र्यंश$_7$घनप्रतानसहितामाकल्पयेतारमाम्॥ 17॥

गृह के द्वार में लगाए जाने वाले किंवाड़-युग्म में बाँयीं ओर रहने वाला पल्ला माता-स्वरूप होता है। इसे सूत्रपट्ट के साथ रखना चाहिएं। जो दाँयीं ओर का पल्ला होगा वह पुत्रीवत् है। सारे किंवाड़ों को इसी प्रकार बनाने का निर्देश है। द्वार की जो ऊँचाई हो, उसको यदि तीन, चार, पाँच अथवा छह से विभाजित किया जाए तो अरमा (जिसे सामान्यतया कुण्डी की पकड़ या नँगूचा माना जाता है) की लम्बाई उसके एक अंश प्रमाण से रखनी चाहिए। इसी प्रकार यदि उसके घन-प्रतान या चौड़ाई और मोटाई का प्रमाण इसकी लम्बाई के विभाजन से करनी चाहिए। लम्बाई यदि चार, पाँच, छह अथवा सात से विभाजित की जाती है तो वह एक अंश मान से परिमित की जाएगी।

विशेष - किंवाड़ के दोनों पल्लों को माता-पुत्रिका कहे जाने का मत वास्तुविद्या और ईशानशिवगुरुदेवपद्धति में भी आया है। वास्तुविद्याकार का मत है कि गृह में दो तह वाले किंवाड़ों को लगाना चाहिए, इसमें से एक मातृ किंवाड़ हो और दूसरा पुत्री की भाँति प्रयुक्त होती है। मातृ किंवाड़ के फलक के लिए सूत्रपट्टिका के नियम से प्रमाण कहा जा रहा है कि द्वार के विस्तार को चार, पाँच, छठ, सात और आठ भाग करें। इसमें से एकांश सूत्रपट्टिका का विस्तार करें। इसी के विस्तार के समान इसको सघन भी करें। इसका आधा, चौथाई से न्यून भी सघनता को रखा जा सकता है।

---

1. द्वारायामशरांशैक$_5$मरमायाममीरितम्। युग$_4$वह्न्ये$_3$कभागं वा षट्$_6$पञ्चै$_5$कांशविस्तरम्॥ व्यासपादोनमर्धं वा समं वा बहलं विदुः। अधोभारसमाकारा कीर्तिता शिल्पवित्तमैः॥ (वास्तुविद्या 14, 25-26)
तथा च **तन्त्रसमुच्चये**-दण्डाब्ध्यङ्गमतङ्गजांशबहलं तावद्युतद्वार्दलव्यासं मूलशिखयुतं दृढतरं कार्यं कवाटद्वयम्। कार्या वामकवाटरोपितपराग्भागार्धतीव्रा ततस्तद्द्विघ्नप्रतता च सूत्रफलका सूद्यत्स्तनाद्युज्ज्वला॥ (2, 31)

सूत्रपट्टिका के विस्तार, मोटाई के लिए कहा गया है कि वह दैर्घ्य द्वार के दैर्घ्य के तुल्य करना चाहिए। पद्ममुकुल के अन्तराल पर उसे निवेशित करें और उसकी संख्या के विषय में यह जानें कि वे दो-दो के रूप में हो और सोलह तक रखे जा सकते हैं।[1]

अथार्गलाप्रमाण प्रस्तौति। तत्र कबलीविधानमाह-

द्वारव्यासपयोधि$_4$बाण$_5$रस$_6$सप्त$_7$दंशकात्तायतं$_8$
कुर्यादर्गलमायतोर्मि$_6$गिरि$_7$मातङ्गांश$_8$तारान्वितम्।
विस्तारार्धघनं घनोन्मितलसत्खण्डद्वयं चारमा-
मूलाग्रान्तिकसम्प्रक्लृप्तकबलीसम्प्राप्तखण्डान्तरम्॥ 18॥

(अब द्वार में लगने वाली कुण्डी अथवा अर्गला का प्रमाण कहा जा रहा है) गृह में सिरकने वाली कुण्डी अथवा अर्गला (जिसे कहीं-कहीं आगलकिया भी कहा जाता है) की लम्बाई वहाँ लगाए जा रहे द्वार की चौड़ाई के 4, 5, 6, 7 या 8वें भाग से कोई एक अंश ही रखना चाहिए। अर्गला की चौड़ाई के लिए यह नियम है कि उसकी लम्बाई की छठें, सातवें अथवा आठवें भाग की एक अंश हो। इसी प्रकार मोटाई को चौड़ाई की आधी रखना चाहिए। दो चतुरस्र या चौकोर भाग इस तरह से बनाए जाएँ कि दोनों खण्डों के मध्य के अन्तराल में अरमा के अग्र और मूल की कबली आ जाए।

विशेष - वास्तुविद्या में अर्गला के प्रवेश के लिए प्रयुक्त होने वाली कबली के विधान के विषय में नियम कहा गया है कि अरमा के दैर्घ्य के चार भाग करें और उसमें से आगे के एक भाग को त्यागकर मध्य के दो भाग तक अर्गलार्थ सन्धि-योजन करें।

----

1. कवाटद्वितयं कुयान्मातृपुत्र्यभिधं बुधः। द्वारतारे चतुष्पञ्चषट्सप्ताष्टविभाजिते॥ एकांशः सूत्रपट्टिः स्यात् समं वा बहलं भवेत्। अर्धं वा पादहीनं वा बहलं परिकीर्तितम्॥ द्वारायामसमायामा कार्या युग्माश्च पङ्क्तयः। अश्व्यादिवेश्मकृत्यन्ताः पङ्क्तयः परिकीर्तिताः॥ (वास्तुविद्या 14, 1-3)
सन्निवेशभेदेन कवाटभेदान् प्रत्येवमाह **गुरुदेवः**— 'कवाटानि चतुर्धा स्युर्युग्मं चायुग्मगेव च। संहारो धावनं चैषां पृथग् लक्षणमुच्यते॥ कवाटयुगलाभ्यां तु स्थिताभ्यां वामदक्षिणम्। सस्कन्धपट्टिकाभ्यां स्याद् युग्मं यत्राभिधीयते॥ वामभागे स्थितं त्वेकमयुग्माख्यं कवाटम्। गूढप्रवेशनिर्यूहं स्तम्भे वाप्युत्तरेऽपि वा॥ संहाराख्यं कवाटं स्याद् भित्तिगूढं च धावनम्।' (ईशानशिव. उत्तर. 31, 118-121)
एषां विनियोगमपि स एवमाह— 'देवद्विजनृपाणां तु युग्मायुग्मे च पूजिते। अयुग्मादीनि चान्येषां कवाटानि भवन्ति हि॥' (तत्रैव 31, 122)।
फलकायोजनं प्रति च— 'फलकाभिरयुग्माभिर्युग्माभिश्च सुरालये। कवाटं तु मनुष्याणां स्यादयुग्माभिरेव च॥' (तत्रैव 31, 123)

अर्थात् मध्य में एक भाग पर सन्धि व एक भाग पर विनियोजन हो। इस प्रकार वहीं पर अर्गला के प्रमाणानुसार ही कबली की रचना करें।[1]

इसी प्रकार अर्गला के विस्तारादि के विषय में कहा गया है कि किंवाड़ के दोनों पाटों में पृथक्-पृथक् अरमा व अर्गला के हिस्से रखे जाते हैं। विद्वानों ने किंवाड़ के पाट के व्यास के अनुपात में ही अर्गला का विस्तार रखना माना है। इसके अतिरिक्त, प्रकारान्तर से पुट के विस्तार का चतुर्थांश हीन भी अर्गला का आयाम हो सकता है। अर्गला के विस्तार के प्रसङ्ग में यह भी नियम है कि उसके आयाम को आठ से विभाजित करें ओर एक अंश से उसका विस्तार रखें। उसकी मोटाई के विस्तार की आधी हो और खण्ड की मोटाई के तुल्य हो। अर्गला के पीछे, मूल में और आगे प्रवेश रोधन से कुछ ऊँचा रखें। उसका मान उसके व्यास के समान हो तथा आधा व चौथाई भाग कम भी हो सकता है।[2]

ते च विन्यासमाह-

अधोर्गलं मातृकवाटसंस्थं पुत्रीगतं चार्गलमूर्ध्वसङ्गि।
अथारमामध्यमतीत्य मध्यात् सुकीलयेताथ कवाटपृष्ठे॥ 19॥

नीचे सिरकने वाला कुन्दा अथवा अर्गला को मातृ किंवाड़ पर रखना चाहिए

---

1. तदायामेऽब्धिसंभक्ते त्यजेदेकैकमग्रयो:। मध्ये निधाय द्वितयं तत्सन्धावर्गलस्य च॥ कुर्याच्च कबलीं तत्र ह्यर्गलस्य प्रमाणत:। (वास्तुविद्या तत्रैव 27-28)
तदायाम इत्यादि। तदायामे अरमादैर्घ्ये। अब्धय: चत्वार:। अग्रयो:, अर्थाद् अरमाया एव। अवशिष्टस्य भागद्वयस्य विनियोगमाह—**मध्य** इत्यादि। अरमाया मध्ये एको भाग:, तस्या अर्गलस्य च सन्धौ एको भागश्च विनियोक्तव्य इत्यर्थ:। 'कलिका द्वारबन्धार्था या स्यात् तामर्गलां विदु:।' इत्यर्गलास्वरूपमन्यत्र प्रकटितम्। 'अर्गलं न ना' इत्यमर:। **कुर्याच्चे**त्यादि। तत्र सन्धौ। कबली अर्गलप्रवेशनार्था। प्रमाणत: विस्तारानुरोधेन।
2. कवाटव्याससदृशमर्गलस्यायतं विदु:॥ पादोनं वा तदष्टांशादेकं तत्तारमेव च। तारार्धं बहलं कुर्यात् खण्डौ बाहल्यतुल्यकौ॥ मूलखण्ड: समाख्यात: स्वव्याससदृशायत:। अर्धं वा पादहीनं वाप्यग्रखण्डयायतं भवेत्॥ (वास्तुविद्या तत्रैव 28-30)
अयमभिप्राय:— द्वयो: पुटयोर्हि पृथक् पृथगेकैकामरयाम्, अरमोपश्लिष्टामेकैकामर्गलां च निवेशयन्ति। ततश्च तत्तत्पुटस्थिताया अर्गलाया आयाम: तत्पुटविस्तारतुल्य एव भवेदिति। अत्र प्रकारान्तरमपि दर्शयति— पादोनं वेति। पाद: चतुर्थांश:। कवाटपुटविस्तारात् चतुर्थांशहीनो वार्गलायामो भवेदित्यर्थ:। अर्गलाया विस्तारमाह— तदष्टांशादेकं तत्तारमिति। स्वायामेऽष्टधा विभक्ते एकांशेन स्वस्य विस्तार: स्यादित्यर्थ:। तस्या एव घनमाह— तारार्धं बहलं कुर्यादिति। स्पष्टार्थम्। अथार्गलापृष्ठे मूले अग्रे च निरर्गलप्रवेशरोधनाय किञ्चिदुन्नते ये खण्ड्यौ क्रियेते, तयोर्मानमाह— खण्डावित्यादि। खण्डस्य चास्य अर्गलापृष्ठमिति साधारणो व्यवहार:। बाहल्यतुल्यकौ, अरमाबहलसदृशघनावित्यर्थ:। तयोर्मूलभागस्थस्य खण्डस्य दैर्घ्यमाह— मूलेत्यादि। इह स्वशब्देन अर्गला ग्राह्या। अग्रभागखण्डस्य तु दैर्घ्यं मूलखण्डदैर्घ्यादर्धमानेन, तत: चतुर्थांशहीनमानेन वा कार्यमित्याह— अर्धं वेत्यादि। (तत्रैव)

और ऊपर वाली अर्गला को पुत्रीगत या पुत्रिका किंवाड़ पर रखना चाहिए। इसके उपरान्त उनको द्वार के पृष्ठभाग में इस तरह से स्थित करना चाहिए कि अरमा का मध्यांश द्वार के मध्य से ऊपर हो जाए।

तत्राह एककाष्ठ शुभम्-

एकजातितरुभिः प्रकल्पितं द्वारपादफलकादिकं शुभम्।
अन्यथा यदि वधूकुशीलता सम्भवेदिति वदन्ति केचन॥ 20॥

दरवाजे की चौखट (द्वार पाद) और किंवाड़ के पल्ले को एक ही प्रजाति की लकड़ी से बनाया जाना शुभकारी होता है। यदि विजातीय लकड़ी का प्रयोग किया जाता है तो उस गृह में वधू दुश्चरित्रा हो जाती है, ऐसा किसी-किसी का मत है।

यद्येकेकपाटं तेषां निर्देशमाह-

एकं कवाटं यदि वामभागे मध्यादधो वोपरि वारमा स्यात्।
तदर्गलं वर्तुलमष्टकोण$_8$ वेदाश्रकं$_4$ वा दृढशृङ्खला वा॥ 21॥

(जिस गृह के द्वार पर एक ही किंवाड़ हो तो वह कैसा हो, इस विषय में कहा जा रहा है) कहीं यदि एक किंवाड़ लगाया जाना हो तो उसे बाँयीं ओर ही लगाना चाहिए। कुन्दे की पकड़ अथवा अर्यमा को मध्य से ऊपर अथवा थोड़ा नीचे रखें। इसकी सरकने वाली कुण्डी या अर्गला को वृत्ताकार या अष्टभुजाकार अथवा चौकोर बनाया जा सकता है। यह भी सम्भव है कि किंवाड़ों को सुदृढ़ शृंखला (साँकल) से आबद्ध किया जाए।

विशेष - द्वारस्तम्भों पर किंवाड़ों को लगाने की परम्परा के विषय में वास्तुविद्या में कहा गया है कि द्वारस्तम्भ के नीचे से दोनों ही किंवाड़ों के पाट को लगाना शुरू करें अर्थात् उनके नीचे के शंक्वाकार हिस्से को नीचे दबाएँ। यह क्रम पहले एक किंवाड़, तदनन्तर दूसरे किंवाड़ के लिए अपनाएँ। इसके अनुसार वामभाग में मातृ किंवाड़ को रखे। दूसरे पुटक पर ऊपर-नीचे के क्रम से भार हो जाएगा। एक पुटक के ऊपर भार और नीचे शङ्कु रहेगा- यही इसकी स्थापना का क्रम रहेगा। इसमें यह ज्ञातव्य है कि दक्षिणी ओर किंवाड़ की पुत्रिका व दूसरी ओर, वाम भाग से उसका अन्य पुट होगा। अरमा या किंवाड़ के दिला को दक्षिणस्तम्भ से शृङ्खलाबद्ध करें। इसके बाद ही उस पर लोहे की कीलों से भारादि को उचित प्रकार से लगाया जाना चाहिए।[1]

----

1. द्वारस्तम्भे कवाटयोजनपरिपाटीमाह- विन्यस्य तदधो भारं शङ्कुं द्वितयमेव वा। तद्र्ते विन्यसेत् सम्यग् वामभागेऽथ

अथ बाह्यद्वार प्रमाणमाह-

आशा$_{10}$भास्कर$_{12}$सूत्रभेदिनि गृहे पृष्ठे(षष्ठे?)ऽथवा सप्तमे$_{7}$
सूत्रे द्वारमथापरं क्रमवशात् पृष्ठे निजेष्टं पुनः ।
सव्यार्धे भवनस्य कार्यमुचितयौन्योदिभिः संयुतं
चैकैवेच्छति चेत् कवाटफलका वामे भवेन्निष्क्रमे ॥ 22 ॥

(अब बाह्यद्वार के विषय में कहते हैं) बाह्य द्वार के लिए नियम यह है कि भवन की कुल लम्बाई को सूत्र भेदानुसार 10 अथवा 12 भागों में विभाजित करें। इसमें से उक्त द्वार प्रायः पृष्ठभाग में, दाँयीं ओर छठे या सातवें रेखा पर रखा जाना चाहिए। द्वार के प्रसङ्ग में यह भी ज्ञातव्य है कि उसे वाम भागगत, निर्धारित स्वयोनि के अनुरूप बनाएँ। यदि यहाँ पर भी एक ही किंवाड़ लगाया जाना हो उसे अन्दर प्रवेश के समय बाँयी ओर स्थित करना चाहिए।

विशेष - वास्तुविद्यादि ग्रन्थों में आया है कि जहाँ पर उन्नत स्थिति हो, द्वार हो तथा निम्नस्थ गृह का विन्यास हो। गृह की आठवीं राशि गणना कर कभी द्वार का निर्माण नहीं किया जाना चाहिए, यह ज्योतिष की उक्ति है। अर्थ यह है कि गृहकर्ता की जन्मराशि से भवन की राशि तक गणना करें और आठवीं राशि जहाँ पर आती हो, वहाँ पर कभी द्वार का निवेश नहीं करें। कहा यह भी गया है कि मेष, कर्क, तुला और मकर राशि में द्वार रखा जाना चाहिए। ग्रन्थान्तर में कहा गया है कि क्षेत्रफल को नौ से विभाजित करें और दक्षिण में पाँच और उत्तर में तीन भागों को छोड़ते हुए द्वार को रखना चाहिए।[1]

मातरम् ॥ ऊर्ध्वाधोभारयोः पद्भ्यां यथायोगं तथा न्यसेत्। पुत्रिकां दक्षिणे भागे चैकं चेद् वामतः स्मृतम् ॥ अरमा दक्षिणस्तम्भे तत्र स्याच्छृङ्खलैव वा। आयसैः कीलकैः सम्यग् विद्धं भारादिकं न्यसेत् ॥ (वास्तुविद्या 14, 44-45) विन्यस्येत्यादि। तदधः द्वारस्तम्भस्याधस्तात्। भारमिति। द्विपुटककवाटयोग इति शेषः। शङ्कुमिति। एकपुटककवाटयोग इत्यार्थम्। द्वितयमेव वेति द्विपुटकेऽपि भार-शङ्क्वोरुभयोर्योजनपक्षमाश्रित्योक्तम्। 'शङ्कुद्वितयमेव वे'ति पाठः द्विपुटक एव अधोभार योजनाभावपक्षाभिप्रायकत्वेन योज्यः। तद्गर्ते भारगर्ते शङ्कुगर्ते वा। ऊर्ध्वाधोभारयोरिति। द्विपुटके ऊर्ध्वमधश्च भारौ भवतः। एकपुटके तु ऊर्ध्वभारे अधस्तनशङ्कौ चेति विवेकः। पद्भ्यां रङ्गपादाभ्याम्। दक्षिण भागे, द्वारस्तम्भस्येत्यार्थम्। एवं वामभागोऽपि व्याख्येयः। एकं चेत्, कवाटमेकपुटकं चेदित्र्थः। वामतः वामभागे न्यसनं स्मृतमिति सम्बन्धः। तत्र एकपुटकं कवाटविषये अरमा दक्षिणस्तम्भे स्यादिति योगः। अरमायोजने पक्षान्तरमाह— शृङ्खलैव वा इति। द्विपुटकेऽप्ययं पक्षः समानः। सर्वसामान्यविधिमाह— आयसैरित्यादि। (तत्रैव)

1. अथ बहिर्द्वारनिवेशनस्थानं प्रदर्शयति- यत्रोन्नतं ततो द्वारं यत्र निम्नं ततो गृहम्। गृहे चाप्यष्टमे राशौ तत्र द्वारं न कारयेत् ॥ (वास्तुविद्या 4, 20)

मय का कथन है कि परमशायिक के अनुसार पद व्यास करते हुए बाहर के जो बत्तीस देवता हैं, उनके पद में महेन्द्र, गृहक्षत, पुष्पदन्त और भल्लाट के पद में द्वार रखा जा सकता है। यह द्वार शुभ करने के लिए उस द्वार को सम्बन्धित दिशा के देवाश्रित रखना चाहिए। वे बुद्धिमान हैं जो कि इस नियम से बाह्य और आन्तरिक द्वार को बनाते हैं। शेष सभी द्वार सभी दोषों को करने वाले कहे गए हैं। ब्रह्मा की ओर मुख वाला द्वार निषिद्ध कहा गया है क्योंकि इसमें बाहर-गमन करते समय व्यक्ति की पीठ ब्रह्मा की ओर ही होती है।[1]

प्राङ्गणतोगमागमद्वारमाह-

कुर्यात् प्राङ्गणतो गमागमकृते द्वारं महत् पादुके
तद्बाह्ये पथि पादुकोपरि गतं त्यक्त्वा मसूरोच्छ्रयम्।
मार्गव्यासचतुर्गुणेन$_4$ परिधिः स्वाभीष्टयोनिर्यथा
तद्व्यासं तु तथा करोतु च विदिग्धामास्ति चेत् कुट्टिमम्॥ 23॥

भवन के प्राङ्गण में आने-जाने के लिए (गृह का) मुख्य द्वार पादुक के ऊपर अथवा कुर्सी तल पर स्थापित करना चाहिए। यदि कोणीय मकान के लिए द्वार के बाहर गैलेरी में दीवार हो तो पादुक के ऊपर मासूर या अधिष्ठान की ऊँचाई का प्रमाण त्याग दिया जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि इसकी चौड़ाई वहाँ के मार्ग की चौड़ाई की अपेक्षा चौगुनी होने पर वह इष्ट योनि की परिधि देने वाली हो जाती है।[2]

परमशायिकपदानुसारे मुख्यद्वारनिवेशनादीनां-

दण्डात् प्राङ्गणमध्यतोऽब्धि$_4$शर$_5$षट्$_6$सप्त$_7$दिसङ्ख्यान् व्यती-
त्यादध्यादथ पौष्पदन्तिकपदे द्वारं प्रचारोदितम्।

----

1. तथा च मयः - द्वात्रिंशद्देवतांशेषु तेषु माहेन्द्रके पदे। राक्षसे पुष्पदन्ते च भल्लाटे च चतुर्ष्वपि॥ तद्दिगीशानमाश्रित्य द्वारं कुर्यात् सुशोभनम्। अन्तर्द्वारबहिर्द्वारमेवं युञ्जीत बुद्धिमान्॥ शेषद्वाराणि सर्वाणि सर्वदोषप्रदानि च। (मय. 30, 44-46) इह गृहक्षत एव राक्षसशब्देन व्यपदिष्टः।
महाद्वारोपद्वारस्थानान्यधिकृत्य **गुरुदेव** एवमाह- 'माहेन्द्रे गृहरक्षे च भल्लाटे पुष्पदन्तके। महाद्वाराणि चैव स्युरुपद्वाराणि सन्ति चेत्॥ भृशे पूषणि भृङ्गाख्ये दौवारे शोषनागयोः। दितावपि च पर्जन्ये....।' (वास्तुविद्या तत्रैवोद्धृत)
2. तुलनीय- **मानववास्तुलक्षणे**- कुर्यात् प्राङ्गणत गमागमवृते द्वारं महत् पादुके हस्तैर्वाङ्गुलकैः प्रकल्पित.. मायाद्यग्ररुढोत्तरम्। स्वाराभप्रविभक्तरुद्रशन दभांशविस्तारतत् खण्डोत्पन्नघनाद्धियुग्म..लसन्मङ्गल्यपट्ट्यादिकम्॥ (63)

भल्लाटेन्द्रगृहक्षतेष्वपि महाद्वाराण्युपद्वारका-
ण्याष्टा8प्युन्नतभूतले द्वितलद्वक्त्रादियुक्तानि वा॥ 24॥

(अब परमशायिक विधि के अनुसार देवताओं के न्यास को देखते हुए प्रधान द्वार निवेशन के विषय में कहा जा रहा है) प्राङ्गण के बीच के भाग से चार, पाँच, छह और सात आदि दण्ड प्रमाण से (देवन्यास को दृष्टिगत रखते हुए) पुष्पदन्त, भल्लाट, इन्द्र और गृहक्षत (राक्षस) के पद में द्वार निवेश करना चाहिए। ये क्रमशः पश्चिम, उत्तर, पूर्व एवं दक्षिण दिशा के लिए होंगे। भवन में महाद्वार और आठ उपद्वार ऊँचाई वाले भूखण्ड पर रखे जा सकते हैं किन्तु वे द्वितलीय या दो मंजिला और मुखादि से युक्त होने चाहिए अर्थात् वृहद प्रवेशद्वार और आठ सहप्रवेशद्वार दो मंजिले ऊँचे तथा तीन कोणीय या मुखादि से युक्त बनाए जा सकते हैं।

अथोपद्वारनिवेशनम्-

पर्जन्यकोष्ठे च भृशे च पूष्णि भृङ्गेऽपि च द्वारपशोषयोश्च।
नागेऽप्यदित्युक्तपदेऽपि चेच्छन्त्यष्टेत्युपद्वारगृहाणि नृणाम्॥ 25॥

व्यक्तियों को अपने गृहों में (परमशायिक विधि से ही देव न्यास को देखकर) पर्जन्य के पद, भृश, पूषा, भङ्गराज, द्वारपाल, शोष, नाग और अदिति के पद में-इस प्रकार से आठ उपप्रवेश द्वार बनाने चाहिए, ये उपद्वार इन स्थानों के अनुसार निवास के लिए योग्य माने गए है। दो-दो पदानुसार ये द्वार क्रमशः पूर्वादि के होंगे।

विशेष - वास्तुविद्या में परमशायिक चक्रानुसार द्वार के फलाफल को बताया गया है। यदि आदित्य के स्थान पर द्वार रखा जाए तो पुत्रनाश होता है। सत्य के स्थान पर द्वार से मैत्रीभङ्ग होती है जबकि भृग के स्थान पर द्वार से गृहपति पृथक् हो जाता है। यदि अन्तरिक्ष के पद पर द्वार रखा जाए तो गृहपति विनाशमार्ग पर चला जाता है और अग्नि के स्थान पर द्वार से भवनपति की मृत्यु हो जाती है। पूष्णि के स्थान पर द्वार बनाने से दारुण कष्ट, शोषण होता है। वितथ के स्थान पर द्वार से गृहपति का मरण होता है। गृहक्षत पद पर द्वार से सम्पत्ति की अभिवृद्धि व यम द्वार पर द्वार से सर्वनाश व मरण या मरणतुल्य कष्ट होता है। गन्धर्व के पद पर द्वार से सभी कर्मों में वृद्धि का फल मिलता है जबकि भृङ्गराज के स्थान पर द्वार से पशुधन व फसल आदि का विनाश होता है। निर्ऋति के पद पर द्वार से मरण और दौवारिक के स्थान पर द्वार से विलय हो जाता है जबकि सुग्रीव के पद पर द्वार से सर्वलाभ और पुष्पदन्त के स्थान पर द्वार से गुणों की प्राप्ति होती है। वरुण के पद पर द्वार की स्थापना से मित्रों से वैर और चोरों का भय होता

है जबकि असुर के स्थान पर द्वार की स्थापना करने पर नित्य कष्टों का कारण बनता है। शोष के स्थान पर द्वार रखने पर सूखा जैसा रहता है किंतु विनाश नहीं होता और रोग के पद पर द्वार से व्यक्ति को पीलिया हो जाता है। वातस्थान पर द्वार से व्यक्ति को वातजन्य व्याधियाँ हो जाती है जबकि नाग पद पर द्वार से वहाँ रहने वालों को शीघ्र ही नागजन्य भय सताने लगता है। मुख्य के पद पर द्वार से शीघ्र विप्र की प्राप्ति होती है जबकि भल्लाट के पद पर द्वार किए जाने पर लोगों को विशिष्ट फलों की प्राप्ति होती है। सोम के स्थान पर द्वार रखने पर व्यक्ति सदा ही यज्ञशील होता है जबकि अर्गल के पद पर द्वार से व्यक्ति की जल में डूबने से मृत्यु हो जाती है। अदिति के स्थान पर द्वार से कुक्षीरोग या कांक्षी हो जाती है जबकि दिति के स्थान पर द्वार से पत्नी सहित कुल के विनाश का कारण बनता है। रुद्र के पद पर द्वार से गृह में अग्निकाण्ड होने की आशंका और पर्जन्य के पद पर द्वार से धन का क्षय तथा जयन्त के पद पर द्वार रखने से विजय की प्राप्ति होती है। महेन्द्र के पद पर द्वार निर्माण से महत्व मिलता है। बहिर्द्वार की भाँति ही अन्तर्द्वार का फल भी कहा गया है।[1]

द्वारनिवेशनोपरान्त वेदिकाप्रमाणमाह-

स्तम्भाधस्तारतो वोच्छ्रयरस$_{6}$तुरगो$_{7}$ऽष्टां$_{8}$शतो वा प्रतेर-
प्युत्सेधेनात्र सार्धावनियुगलहुताशोन्मितैश्चात्र वेदी।
कर्तव्या कुट्टिमोर्ध्वं तदुपरि चरणैर्युग्मसङ्ख्यैश्च दारु-
स्तम्भार्धाङ्घ्र्यूनतुल्यप्रततिभिरभितः स्वोत्तराद्यैश्च भित्तिम्॥ 26॥

भवन में आधार से ऊपर वेदिका का निर्माण किया जाना अपेक्षित है। वेदिका की चौड़ाई के लिए नियम यह है कि प्रथमतः वह स्तम्भ के मूल की चौड़ाई के प्रमाण

---

1. यथाक्रमं तत्तद्देवतास्थानेषु निवेषितानां द्वाराणां फलमाह- अथ द्वारफलं वक्ष्ये प्रोक्तं वास्तुविदां वरैः॥ आदित्ये स्थापिते द्वारे पुत्रनाशोऽथ जायते। मित्रभङ्गस्तु सत्ये स्याद् भृशे पत्या वियुज्यते॥ अन्तरिक्षे कृते द्वारे विनाशमपि गच्छति। पावके स्थापिते द्वारे म्रियते वेश्मनः पतिः॥ तत्र पूष्णि कृते द्वारे नश्येद् दारुणशोषणैः। वितथे स्थापिते द्वारे पत्यर्मरणमादिशेत्॥ गृहक्षतपदे द्वारे कृते सम्पद्विवर्धनम्। यमे द्वारे कृते सर्वनाशं च मरणं वदेत्॥ गन्धर्वे निर्मिते द्वारे सर्वकर्मविवर्धनम्। भृङ्गराजे विपद् द्वारे मृगेसस्यविनाशनम्॥ निर्ऋतौ मरणं विद्याद् दौवारिकपदे लयम्। सुग्रीवे सर्वलाभः स्यात् पुष्पदन्ते भवेद्गुणः॥ वारुणे स्थापिते द्वारेऽमित्राद्वा चोरतो भयम्। असुरे स्थापिते द्वारे नित्यमायासकारणम्॥ शोषणे स्थापिते द्वारे शुष्यते न विनश्यति। रोगे यदि कृते द्वारे पाण्डुरोगी भवेन्नरः॥ वातस्थाने कृते द्वारे नरो वातेन पीड्यते। नागे न निर्मिते द्वारे शीघ्रं नागभयं भवेत्॥ मुख्ये यदि कृतं द्वारं सद्यो ब्राह्मण्यमाप्नुयात्। भल्लाटे च कृते द्वारे वैशिष्ट्यं लभते नरः॥ सोमे चैव कृते द्वारे यज्ञशीलो भविष्यति। अर्गले च कृते द्वारे जलेन म्रियते नरः॥ अदितौ च कृते द्वारे कुक्षिरोगं विनिर्दिशेत्। उदितौ च कृते द्वारे वनिताकुलनाशनम्॥ रुद्रे यदि कृतं द्वारं वह्निना दह्यते गृहम्। पर्जन्ये च धनं नश्येत् जयन्ते जयमाप्नुयात्॥ माहात्म्यं चैव माहेन्द्रे यदि द्वारं कृतं भवेत्। अन्तर्द्वाराणि चोक्तानि बहिर्द्वारमथोच्यते॥ (वास्तुविद्या 4, 5-19)

की हो और यदि स्तम्भ के उदय को छह, सात अथवा आठ भागों में विभाजित किया जाए तो एक अंश प्रमाण उसकी चौड़ाई रखें। यह प्रति की ऊँचाई के समतुल्य हो सकती है अथवा उसकी डेढ़ गुनी, दो गुनी या तीन गुना हो सकती है। स्थपति का कर्तव्य है कि वह वेदिका के चतुर्दिक भित्ति बनवाए, यह रचना समसंख्या के स्तम्भों से बनानी चाहिए और उत्तर की चौड़ाई लकड़ी के खम्भों की चौड़ाई के बराबर, उनकी आधी अथवा तीन-चौथाई रखी जा सकती है।

विशेष - वास्तुविद्या में कहा गया है कि वेदिका का जितना विस्तार हो, उसी के समान उसका आयाम रखना चाहिए। इस प्रकार उसे तुर्यश्र करने के निमित्त सूत्रपात करना चाहिए।[1]

वेदिका निष्क्रमणाह-

पत्रमानवशतोऽङ्गुलवृद्ध्या वेदिकाविहितनिष्क्रमणं स्यात्।
सार्धयुग्म$_2$दहनादि$_3$मितैस्तैरङ्गुलैर्विहितमुत्तरलम्बात् ॥ 27 ॥

वेदिका में निष्क्रमण अथवा बाहर निकला भाग पत्रमान में एक अङ्गुल प्रमाण से बढ़ोत्तर कर मिलता है। उत्तर की लम्ब का प्रमाण ढाई अथवा तीन आदि अङ्गुल रखना चाहिए।

तथा च वेदिकाद्रव्यादीनां-

स्वद्रव्यैरेव वेदीरिह कतिचिदुशन्तीष्टकामृच्छिलाद्यै-
र्वृक्षैर्वा भिन्नजात्यैरपि च विरचितं दृश्यते सर्वगेहे।
अन्तर्नाहेन योन्यन्वितभवनविधौ गर्भगेहोक्तनीत्या
द्वारं तत्पादुकोर्ध्वं न्यसतु पुनरधस्तात् प्रतेर्गर्तगेहे ॥ 28 ॥

(अब वेदिका के द्रव्यादि के विषय में कहा जाता है) कतिपय विद्वानों का मत है कि वेदी के निर्माण में निर्धारित, एक ही प्रकार की सामग्री का उपयोग किया जाना उचित होता है। भवनों में देखा गया है कि वेदी ईंट, गारा, पत्थर और नाना प्रकार की लकड़ियों से भी बनाई जाती है। इस प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि यदि आधार निम्नस्थ

---

1. यदुक्तं वेदिविस्तार आयामश्चापि तत्समः। एवं कृत्वा च तुर्यश्रं तत्र सूत्राणि पातयेत्॥ (वास्तुविद्या 4, 11) तुर्यश्रक्षेत्रकल्पनमधिकृत्यैवमाह **समुच्चयकारः**— 'प्रागग्रं सूत्रमुर्व्यामृजुतरमभिकल्प्यास्य मूलाग्रगाभ्यां सूत्राभ्यां मत्स्ययुग्मं यमशशिहरितोः कल्पयित्वात्र सूत्रम्। कृत्वा दिक्ष्वङ्कयित्वा सममिह विहितैः सूत्रकैः कोणमत्स्यान् कृत्वास्फाल्यैषु सूत्रं रचयतु चतुरश्रं पुरः क्षेत्रक्लृप्तौ॥' (तन्त्रसमुच्चय 12, 23)

हो तो द्वार का पादुक या कुर्सी तल के ऊपर अथवा प्रति के नीचे विन्यास होना चाहिए। जैसा भवन और उसका माप हो, उसे उसी प्रकार के आन्तरिक परिमाप के अनुसार योनि का अन्तर्नाह या भीतर की परिधि से ही निष्कासन किया जाना अपेक्षित है।

विशेष - वास्तुविद्या में वेदिका मान के विषय में कहा गया है कि वेदिका की ऊँचाई को प्रत्युच्छ्राय के तुल्य रखना चाहिए। उसको छह अंश से विभाजित करें। उसमें एकांश प्रतिपट्ट करें और निर्देशानुसार क्रमांश से अन्तरी रखें। ऊर्ध्ववाजन को एकांश व इतनी ही उसकी पट्टिका को करें। ऊर्ध्वपट्ट या अन्तरा को कुसुमादि से युक्त किया जाना चाहिए।[1]

तुलादीनां समसंख्यान्तरालेविषमनिर्दशम्-

युग्मास्तुलाः स्तम्भलुपादधः[3] स्युः
सर्वास्त्वयुग्माः खलु पङ्क्त्यस्ताः।
नृगेहनिर्दिष्टकराधिकाश्चद्श-
विनाशदास्ताः खलु पङ्क्तयः स्युः ॥ 29 ॥

गृह में तुला, स्तम्भ और लुपा को समसंख्या में रखना चाहिए किन्तु इनके बीच की पङ्क्तियों का अन्तराल विषम संख्या में रखा जाने का नियम है। यदि यह अन्तर उस गृह के लिए निर्धारित हस्त प्रमाण से अधिक हो तो वह अनिष्टकारी हो सकता है।

अथ भवनस्य नानाकक्षादीनां-

प्राचीनेऽग्निसमर्चनादिकमुदीचीने कुटुम्बादिकं
व्यत्यस्य प्रकरोतु वा द्वयमिदं याम्येऽतिथिप्रीणनम्।
पाश्चात्त्ये धनसन्निधापनमदो द्वन्द्वं विपर्यस्य वा
शेषार्धे तु तयोस्तथा शयनविद्याभ्यासनाद्यं चरेत्॥ 30 ॥

(अब भवन में दिशा के क्रम से नाना कक्षों के निर्माण के विषय में कहा जा रहा है) किसी भवन में होम तथा अर्चना का स्थान पूर्व दिशा में रखा जाना चाहिए।

---

1. वेदिकां प्रस्तरसमां षडंशीकृत्य भागशः॥ एकांशं प्रतिपट्टं स्यादंशाभ्यामन्तरी भवेत्। ऊर्ध्ववाजनमेकांशमंश तत्पट्टिका तथा॥ ऊर्ध्वपट्टं तदेकांशमन्तरी कुसुमैर्युता। (वास्तुविद्या 9, 20-21) अस्यायमर्थः— वेदिकाया उच्छ्रयः प्रत्युच्छ्रयेण तुल्यः कार्यः। प्रत्युच्छ्रयश्च सति सम्भवे कुमुदपट्टादारभ्य प्रतिपट्टान्तोंऽशो ग्राह्यः। तस्मिन् षोढा विभक्ते वक्ष्यमाणक्रमेण तस्य तस्यांशविभागः कार्य इति। ऊर्ध्वपट्टमिति। अन्तर्या इत्यार्थम्। अन्तर्यां विशेषः— कुसुमैर्युतेति।

परिजनों के निमित्त कक्ष को उत्तर द्रिशा में बनाएँ अथवा इन दोनों को परस्पर कक्षान्तरित भी किया जा सकता है। अतिथियों के लिए स्वागत कक्ष दक्षिण में बनाएँ, सम्पति या कोशागार पश्चिम दिशा में बनाएँ अथवा इन दोनों कक्षों को आपस में स्थानान्तरित किया जा सकता है। इन दोनों ही शेष भाग अर्थात् दक्षिण और पश्चिम के शेष हिस्से का उपयोग शयनागार और अध्ययनकक्ष के लिए किया जा सकता है। (यह मत पूर्वीशाला के विषय में कहा गया है)।

तत्राह लघुस्थानीयभवने प्राङ्गणप्रमाणमाह-

कृत्वा दिङ्$_{10}$नव$_{9}$नाग$_{8}$वर्गपदभिन्ने क्षेत्रकेऽन्तर्गतै-
रष्ट्य$_{16}$ङ्क$_{9}$ब्धि$_{4}$मितैर्विधातृपदयुक्तं प्राङ्गणं मध्यतः।
शालाः पङ्क्तियुगार्यदिकजुषस्तद्बाह्यतस्तद्बहि-
र्गोष्ठोलूखलवेश्मकादिविलसत्पङ्क्त्यावृतं कल्पयेत्॥ 31॥

यदि कोई भूखण्ड लघु आकार का हो तो उसके अन्तर्गत प्राङ्गण के लिए नियम इस प्रकार होगा कि उक्त भूखण्ड पर सर्वप्रथम आठ × आठ, नौ × नौ तथा दस × दस का वर्ग बनाएँ और पिण्ड के मध्य में प्राङ्गण बनाएँ। यह प्राङ्गण उक्त विभाजन के अनुसार क्रमशः चार, नौ और सोलह पद पर बनाया जाएगा। इसके बाद, उसके बाहर गृहार्थ दो पदों के विस्तार में आर्यकादि शाला के पद होते हैं। उसके बाहर ही आवरण, गोशाला या चरणी, अन्नभाण्डागार के लिए ओखली का निर्माण किया जा सकता है।[1]

तथा च कृषिकार्यार्थकक्षादीनां-

कार्तान्त्यां खलसद्म धान्यभवनं तत्रापि वा नैर्ऋते
कुर्वीताथ धनालयं धनपतौ प्राच्यां तथापांपतौ।
सिंहे वालितुलाकुलीरभवने धान्यालयोक्तेषु वा
धान्यागारविधिर्धनोदितपदे कुत्रापि चावश्यके॥ 32॥

ऐसे भवन में भवन के दक्षिण में कृषि कार्य सामग्री के लिए कक्ष (खलसद्म या कोठार) बनाना चाहिए। इसी दिशा में अन्नभाण्डागार हो किन्तु इसे नैर्ऋत्यकोण में भी रखा जा सकता है। धनालय या कोशागार उत्तर, पूर्व या पश्चिम अथवा सिंह, वृश्चिक, तुला या कर्क राशि के लिए निर्धारित स्थान पर भी बनाया जा सकता है। यहाँ यह भी

---

1. तुलनीय- **मानववास्तुलक्षणे**- कृत्वा दिङ्नवनागवर्गपदभिन्ने क्षेत्रकेऽन्तर्गतैरष्ट्यङ्काब्धिपदैर्विधातृपदयुक्तं प्राङ्गणं मध्यतः। शाला पङ्क्ति युगार्यदिकजुषस्तद्बाह्यतस्तद्बहिर्गोषूलूखवेश्मकादि विलसत्पङ्क्त्यावृताः कल्पयेत्॥ (58)

विचार है कि यदि आवश्यक हो तो धान्यालय को धनागार के लिए निर्धारित दिशा, स्थान पर बनवाया जा सकता है।

अथ गोशाल्यादिनिर्धारणमाह-

गोशालेन्द्रजलेशयोर्वितथपूषाभ्यन्तराले मता
पर्जन्यैन्द्रिपदे तथा कुसुमदन्तद्वारपालान्तरे।
भृङ्गे शोषपदेऽथवात्र महिषागारं यमेऽप्युक्षशा-
लास्मिन् क्वाप्यथवास्तु मर्मविलसच्छूलं समस्तं त्यजेत्॥ 33॥

भवन में गोशाला को इन्द्र के स्थान पर या फिर वरुण, वितथ, पर्जन्य, जयन्त या पूषा के स्थान पर बनाएँ। यह भी हो सकता है कि गोशाला को पुष्पदन्त, द्वारपाल, भृङ्ग अथवा शोष के स्थान पर भी गोशाला का निर्माण हो। यदि महिष या भैंस का तबेला बनाना हो तो उसके लिए यम का पद उचित होता है और वृषभ के स्थान के लिए महिष या गोशाला के लिए बताए पदों को लिया जा सकता है। सभी शालाओं में वास्तु मर्मस्थल, शूल का त्याग किया जाना आवश्यक है।

तत्राह कर्णोल्लङ्घननिषिद्धम्-

क्षेत्रस्य कोणगतरज्जुमतीत्य यानं
नेच्छन्ति केचन गवामखिलेषु दिक्षु।
मुख्यं वृषं न मृगराट्करणेषु सिंहव्याघ्रौ
स्थिरं च करणं शुनि गर्दभाद्याः॥ 34॥

पशुओं की शालाओं के लिए चाहे वे किसी भी दिशा में हो, कर्णों के रज्जुओं को उल्लङ्घित कर आना-जाना अनुचित माना गया है। कोणों से किसी दिशा में गतिमान होना भी नेष्ट होता है। (आयों के प्रसङ्ग में यहाँ) वृष माङ्गलिक है किंतु सिंह नहीं। (मुहूर्तकाल के प्रसङ्ग में) करण में सिंह, व्याघ्र, श्वान, स्थिर-विष्टि, गर्दभ आदि भी अशुभ कहे गए हैं।

तथा च पचनालयभुक्तिसदनमाह-

पर्जन्ये पचनालयं शिखिनि वा मेषे वृषे वानिले-
तत्रैवापि च भुक्तिसद्म मकरे चापांपतौ चेष्यते।
कुम्भे सौख्यगृहं तथैव मकरे वायौ तदावश्यके
कर्तव्यं वृषमेषयोरिदमथो वायौ तथोलूखलम्॥ 35॥

भवन में रसोई या पचनालय को पर्जन्य, अग्नि या वायु अथवा (राश्यानुसार) मेष या वृष राशि में बनाया जाना चाहिए। भोजन कक्ष को वहीं पर अथवा मकर या वरुण के पद में भी बनाया जा सकता है। भुक्तिसदन या विश्राम कक्ष को कुम्भस्थ या इसी तरह मकर अथवा वायु के पद पर बनाया जाना चाहिए। इसे यदि आवश्यक हो तो वृष अथवा मेष राशि के निश्चित स्थान पर भी बना सकते हैं। ऐसे में ऊखल (खाण्डने-कूटने के स्थान) को वायु के पद पर बनाना चाहिए।

अथ कूपस्थानचयनमाह-

मीने कूपमतीव मुख्यमुदितं सर्वार्थपुष्टिप्रदं
मेषे चापि घटे च भूतिकृदिदं नक्रे वृषेऽर्थप्रदम्।
आपे कूपमथापवत्सकपदे मुख्यं तथैवेन्द्रजि-
त्कोष्ठे दृष्टमपांपतौ तु शुभदं नारीक्षयं मारुते॥ 36॥

(भवन में जल स्थान कहाँ हो, इस विषय में कहा जा रहा है) जल स्थान या कूप को मीन राशि के स्थान पर बनाया जाना अति शुभ है। यह सर्वार्थदाता और पुष्टिवर्धक है। कूप को समृद्धि के लिए मेष और कुम्भ पद में भी बनाया जा सकता है। इसी प्रकार मकर व वृषभ में भी कूप अर्थ और सम्पत्ति प्रदाता होता है। आप और आपवत्स के पद में भी कूप का निर्माण शुभद है। इसी प्रकार इन्द्रजित् के कोष्ठक पर भी जलस्थान बनाया जा सकता है और वरुण के पद में भी शुभ होता है किंतु यदि वायव्य कोण में कूप बनाया जाता है तो स्त्रियों के लिए क्षयकारी होता है।[1]

विशेष - विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् में कहा गया है कि जहाँ पर स्वादुजल की स्थिति हो, उसका परीक्षण करके ही वापी, कूप बनाना चाहिए। इसे चौकोर, वृत्ताकार या दीर्घाकार बनाएँ। इसका विस्तार तीन, चार, पाँच, छह आदि दण्ड हो सकता है। चार मुँह या दो मुँह वाली रचना की जा सकती है। इसका तलमध्य तक का प्रमाण दस से इससे अधिक हस्तप्रमाण हो सकता है। इसी के अनुसार इसकी भित्ति ईंटों, पत्थरों से बनवानी चाहिए। जलान्तिक आङ्गन परिकल्पित किया जाना चाहिए। इसी में द्वितीय या तृतीय प्राङ्गण भी रखें और एक दण्ड या पौन प्रमाण से सुन्दर स्तम्भ व सोपान बनाने चाहिए। मुख पर मण्डप और किंवाड़ आदि भी बनाएँ। वापी को गोलाकार या कुण्डलीकार बनाएँ तथा उसको दृढ़ या सूत्र पङ्क्तियों के नियमानुसार बनाएँ। तीर पर रहट या घटीयन्त्र

----

1. तथा च **कूपप्रश्ने**- कर्किकन्यातुलाचापवृश्चिका नक्रमीनकौ। यदि स्थानं भवेदत्र शोभनं जलमुच्यते॥

भी बनाया जाना चाहिए। अवगाह तल से द्वार तक किन्नरों की मूर्तियाँ और अन्य देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का निर्माण किया जाना चाहिए।[1]

अन्य शुभाशुभमाह-

कूपं शोभनमन्तरिक्ष पदकेऽप्येवं तटाकं हितं
माहेन्द्रे च महीधरे च वारुणे सोमे शिवे मेषभे।
वायौ वा निर्ऋतौ च दृष्टमथवा स्नानादिपानादिषु
प्रायो नैकजलं (हितं?) नदीजलमृतेऽत्रान्यत् पृथक् कल्पयेत्॥ 37॥

जलस्रोत अन्तरिक्ष के पद में भी बनाना शुभ होता है। इसी तरह तटाक या जलाश्रय अन्तरिक्ष, महेन्द्र, महीधर, वरुण, सोम और ईशान कोण तथा मेष (वृषभ?) राशि के पद में भी बनाना शुभद है। विशेष कारणवश वायव्य कोण या नैर्ऋत्यकोण में भी जलाश्रय हो सकता है। स्नान और पेयजल के प्रसङ्ग में यदि नदी का पानी नहीं हो तो उक्त स्थान अनुपयोगी है। इसलिए स्नान, पेयजलादि के स्थान उक्त पद से अलग से बनाए जाने चाहिए।

विपरीत दिशायां कूपस्यफलाफलमाह-

आग्नेय्यां भवनस्य कूपखननं पूर्वं कृतं वा तथा
वापी दाहभयादिकं प्रकुरुते तद्वत् फलं दक्षिणे।
ग्रामादेरपि दीर्घिकादि कतिचिन्नेच्छन्ति याम्ये तथैवा-
रामो गृहसन्निधौ फणभृतां वासोऽपि नैवेष्यते॥ 38॥

(अब यदि विपरीत दिशाओं में जलस्रोत या कूपादि बनवाया जाए तो क्या फल होगा, कहते हैं) यदि किसी भवन में कूप या वापी को दक्षिण-पूर्व या आग्नेय कोण में खोदा जाए तो आग का भय रहता है। इसी तरह का फल दक्षिण में कूप-खनन का

----

1. यत्र स्वादुजलस्रावः सन्ततं स्थितिभाग्भवेत्। परीक्ष्य तत्र कर्तव्यं वापीकूपादिकं मतम्॥ चतुरश्रां वर्तुला वा दीर्घा वा तां प्रकल्पयेत्। त्रिदण्डं वा चतुर्दण्डं पञ्चदण्डमथापि वा॥ षडादिदशदण्डान्तं प्रमाणमिह योजयेत्। चतुर्मुखां वा द्विमुखां क्वचिदेकमुखां तु वा॥ दशहस्तप्रमाणं वाऽधिकं वा तलमध्यभाक्। भित्तिकल्पनमत्रोक्तमैष्टिकं शैलकं तु वा॥ जालान्तिकेऽङ्गणं कल्प्यमाद्यमेतदुदीरितम्। द्वितीयाङ्गणकं वापि तृतीयाङ्गणकं तु वा॥ सपादं वा विपादं वा युक्त्या स्थापनमीरितम्। कल्पनं दार्ढ्यसंयुक्तं पादसोपानमञ्जुलम्॥ मुखमण्टपयुक्तं वा कवाटादि समन्वितम्। वाप्यां वर्तुलरूपायां भुजङ्गावेष्टनाकृति॥ पङ्क्ति दृढां वा रचयेदथवा सूत्रपङ्क्तिकम्। चतुर्विंशत्यङ्गुलेव विहीनं नेष्यते बुधैः॥ घटीयन्त्रस्थलं तीरे रचयेत्साङ्गणं बुधः। अवगाहतलोपेतद्वारकिन्नररूपकम्। कल्पनं देवमूर्तीनामथवा सम्प्रयोजयेत्॥ (विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् 33, 1-9)

जानना चाहिए। मकानों के पास और किसी भी ग्राम की दक्षिण दिशा में दीर्घिका, जलस्रोत अवाञ्छनीय माना गया है। इस प्रकार बगीचे और काँटे वाले वृक्षादि (अथवा सर्पावास, वल्मीक) भवन के निकट नहीं होने चाहिए।

विशेष - विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् में आया है कि तालाब प्राणियों के सुखादि के लिए अभीष्ट है। बुद्धिमानों को चाहिए कि वे ग्राम के बीच समुचित प्रदेश, महामार्ग, नगर आदि में जहाँ कि बहुत वनस्पति हो, महावीथी के अग्रभाग या देवालयन्तर्गत या बाहर, मठ, मण्डप, उद्यान, निष्कुटादि के निकट वरुण या पश्चिम तथा इन्द्र या ईशान कोण में विधानपूर्वक जलाश्रय बनवाएँ।[1]

अथ राज्ञाविप्रस्य गृहे दैवार्चादिस्थानमाह-

राज्ञां धामनि भूसुरस्थितिगृहं नित्यार्चनायाङ्गणे
शर्वेन्द्राग्निजलेशदिक्षु कुलदैवार्चाप्रतिष्ठादि च।
प्रासादादिविधानमीशसुरनाथाग्न्यन्तकाशागतं
केतूत्थं वृषजं करोतु च निर्ऋत्यादौ क्रमोच्छ्रेयसे॥ 39॥

(अब राजा के गृह में नित्यपूजा स्थल और प्रतिमादि गृह के लिए कहा जा रहा है) राजा के भवनों में नित्य पूजादि के लिए ब्राह्मण का गृह आङ्गन के मध्य बनाया जाना चाहिए। कुल देवता की प्रतिमा की स्थापना ईशान में अथवा आग्नेय कोण अथवा पश्चिम दिशा में की जानी चाहिए। देवभवनों का माप ध्वजयोनि से करें। ईशान में, पूर्व में अन्तरिक्ष पद से आग्नेय तक एवं दक्षिण में और नैर्ऋत्य में वृषभयोनि में बनाया गया पूजा स्थान उचित होता है।

विशेष - विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् में कहा गया है कि वायव्य अथवा ईशान कोण में कुलदेवतालय प्रकल्पित किया जा सकता है। इससे भूपालादि के कुटुम्ब में विजय,

----

1. तटाककल्पनाच्छ्रेयः प्राणिनां च सुखं मतम्। तस्मात्तत्कल्पयेद्धीमान्ग्राममध्ये शुभस्थले॥ मार्गस्य मध्यभागे च वास्तुभूमौ विशेषतः। सततं स्वादुसलिलस्रावो यत्र च दृश्यते॥ अन्तःकूपसमायुक्तं दक्षिणोत्तरदैर्घ्यकम्। वरुणेन्द्र दिशाभागस्यापि वा स्थलयोग्यकम्॥ तटाकनाम्ना भणितं महत्खातं हितप्रदम्। निष्पङ्कगाधसलिलं पूरयेद्वा क्वचित्स्थलम्॥ जलनिर्गमनोपेतभागमायनसंयुतम्। भान्वङ्गुलोन्नता पङ्क्तिर्द्विगुणायतिका मता॥ मध्ये महापङ्क्ति युक्तमृजुसूत्रं च निश्चलम्। तीरमण्टपसंयुक्तं तीरवृक्षैश्च शोभितम्॥ जलमण्डपसंयुक्ता क्वचित्कार्योत्तमे...। दैवे तटाके तत्कल्प्यं विमानशिखरोज्ज्वलम्॥ खण्डपङ्क्तिः क्वचित्कार्या तटाकेषु सरस्सु च। मेदिनीपट्टिकोपेता जलं सर्वत्र कल्पयेत्। रेखारूपं मीनरूपं लतारूपञ्च तक्षयेत्। भूर्जपत्रक्षेपणं वा नानाङ्गणसमन्वितम्॥ वानरक्रीडनं वापि तक्षयेत्सुमनोहरम्। क्वचिदष्टमुखोपेतं तटाकं बहुपङ्क्तिकम्। स्थापयेन्नृपतिर्देशे प्राणिनां सुखदायकम्॥ (विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् 34, 1-10)

आरोग्य, सुत-सम्पदा वृद्धि होती है। इसके लिए बीस दण्ड से आरम्भ कर दो-दो दण्ड विस्तार करते हुए पचास हाथ तक प्रमाण रखना चाहिए।[1]

अथ कुलदैवतधामस्य कोणानुसारे योन्यादीनां-

सेवितकुलदैवतधामेशनिर्ऋत्यादिके तु वृषजं स्यात्।
गृहपुरपत्तननगरग्रामादावभिमुखा भवन्ति तदा॥ 40॥

कुल परम्परानुसार सेवित देवताओं के धाम (ईशान आदि के क्रम से ध्वज योनि में तथा) नैर्ऋत्य आदि के क्रम से वृष योनि में पूजित किए जाते हैं। ऐसे पूजा स्थलों का द्वार मुख सदा भवन, पत्तन, नगर अथवा ग्राम की ओर ही रखना चाहिए।

विशेष - यहाँ सूत्रधार मण्डन का मत है कि प्रासाद के बीच अथवा बाहर जिस देवता की प्रतिष्ठा की जाए, उसे नगर की ओर मुख किया जाना श्रेष्ठ होता है। शिव, ब्रह्मा, जिन और विष्णु के मुख सभी दिशाओं में रखा जाना शुभ है। गणेश, भैरव, चण्डी, नकुलीश, ग्रह, भूत और धनपति कुबेर की प्रतिमाओं को दक्षिणाभिमुख रखा जाना शुभ है और मातृदेवियों का प्रासाद उत्तर या दक्षिणमुख रखना और कपिवर हनुमान को नैर्ऋत्यमुख रखना श्रेयस्कर है।[2]

----

1. भूपहर्म्यस्य वायव्यामैशान्यां वा विशेषतः। कुलदेवालयः स्थाप्यो जयसन्तानसिद्धये। विंशद्दण्डकमारम्भ्य द्विद्विदण्ड विवर्धनात्। पञ्चाशद्दण्डकान्तं तत्प्रमाणं मुनिभाषितम्॥ प्राकारसंयुतः प्रायः पूर्वपश्चिमवक्त्रकः। पार्श्वशालासमायुक्तो गोपुरेण च भासुरः॥ दशहस्तोच्छ्राययुतगर्भगेहेन भासुरः। विमानशिखरोपेतश्छत्रखड्गादिचिह्नितः॥ खड्गवेदी पुरः स्थाप्या यदि कालीनिवेशनम्। तत्पुरः सा प्रकर्तव्या शान्तिकुम्भसमन्विता॥ सौवर्णद्वारयुगलं तन्मध्ये देहलीतलम्। साक्षिवेदीकल्पनं तु तत्रत्यं क्षत्रमङ्गलम्॥ सर्वालङ्कारसंयुक्तं नवरत्नविभूषितम्। प्रदक्षिणायनयुतं काल्या वा भैरवस्य वा॥ मूलस्थानं च रचयेत्सुमुहूर्ते शुभेऽहनि। ब्राह्मगांस्तोषयेद्गोभूहिरण्याद्यैर्गथाक्रमम्॥ अष्टोत्तराहुतीर्हुत्वा शान्तिश्च जुहुयात्ततः। तारोत्सवादिभिर्देवीं नैवेद्यैर्विविधैरपि॥ प्रीणयेन्नृपतिः पश्चात्पूर्वमण्ट कल्पनम्। चतुष्पादयुतं प्रायश्चाष्टपादसमन्वितम्॥ तदुपस्तम्भसहितं साधिष्ठानं सपीठकम्। बाह्याभ्यन्तरशालाढ्यं कैशिकं विजयं तु वा॥ शुक्रनासासमायुक्तं वलमीपटलान्वितम्। सुन्दरं कल्पनं मध्ये तत्पुरो वाऽथ कल्पयेत्॥ प्रतीच्यामन्नशालाश्चक्षत्रासनसमन्वितम्। चतुस्तोरणभूषाढ्यं-कोणहीनं प्रकल्पयेत्॥ क्षत्रियाणां गृहे कार्य पृथक्काली-निवेशनम्। सपूर्ववेदिकं क्षत्रपट्टेनापि परिष्कृतम्। जयारोग्यसुतैश्वर्यकारणं परिकल्पयेत्॥ (विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् 35, 1-14)
2. नगराभिमुखाः श्रेष्ठा मध्ये बाह्ये च देवताः। शिवब्रह्माजिना विष्णु सर्वाशाभिमुखाः शुभाः॥ गणेशो भैरवश्चण्डी नकुलीशो ग्रहास्तथा। भूताद्या धनदाश्चैव दक्षिणास्याः शुभाः स्मृताः॥ मातृणां सदनं कार्यं दक्षिणोत्तरदिङ्मुखम्। अनुमान वानरश्रेष्ठो नैर्ऋतास्यो विदिङ्मुखः॥ (देवतामूर्तिप्रकरणम् 3, 25-27)
तथा च- ब्रह्माविष्णुशिवेन्द्रभास्कर गृहाः पूर्वापरास्याः शुभाः प्रोक्त सर्वदिशामुखौ शिवजिनौ विष्णुर्विधाता तथा। चामुण्डा ग्रह मातरो धनपतिर्दैमातुरो भैरवो देव दक्षिणदिङ्मुखाः कपिवरो नैर्ऋत्यवक्त्रो भवेत्॥ (राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् 4, 13)

तत्राह प्रतिष्ठाप्यबेरादीनां। बिम्बार्थं कौतुकलक्षणमाह-

निरङ्गसाङ्गादिविभिन्नगेहप्रतिष्ठिता याः प्रतिमास्तु तासाम्।
चलाचलत्वोभयभेदतस्तत्क्रियावशाच्चापि भवेद् विशेषः ॥ 41 ॥

इन धामों पर स्थापित की जाने वाली प्रतिमाएँ निरङ्ग अथवा साङ्ग लक्षणों से युक्त होती है। ये प्रतिमाएँ उन देवताओं के नाम अथवा स्वरूप की विशेषतानुसार बनाई जानी चाहिए अर्थात् लक्षणों व तालादि से निर्धारित हो। ये प्रतिमाएँ स्थिर अथवा चलित भी हो सकती है। (इनका निर्माण व स्थापन धार्मिक विधि के अनुसार किया जाना चाहिए)।

विशेष - तन्त्रसमुच्चय में निरङ्ग और साङ्ग प्रतिमाओं के लिए निष्कल और सकल संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है। मूलबिम्ब या मूल नायक की प्रतिमा सावयव और चतुर्थांश उन्मेनित होनी चाहिए और निष्कल निरवयव तथा आसनमुद्रा में होती है। चन्द्रिकाकार के उपस्कारक ग्रन्थ मुरारी कृत 'रत्नावली' मैं में कर्मार्चा व अन्यार्चा नाम से इनका मानादि दिया गया है।[1]

अथ राज्ञार्थं मणिगृहादीनां-

सौख्यार्थं धरणीभृतां मणिगृहं मित्रे विहारोऽनिले
व्यायामोऽर्गलके तथैव निर्ऋतौ स्नानादि पर्जन्यके।
इन्द्रे तोयपतौ च भुक्तिनिलयं नृत्तादि गान्धर्वके
शस्त्राद्यं निर्ऋतौ गृहक्षतपदे प्राच्ये य शय्यागृहम् ॥ 42 ॥

राजाओं के सुख-अनुरञ्जन के लिए मणिगृह को सदा मित्र के पद में बनाएँ।

----

1. सकले सति मूलबिम्बके निगमांशोन्मिति कर्मबिम्बकम्। सकलाकृति निष्कलेऽपि वा स्थितमासीनमुत प्रकल्पयेत्॥ (तन्त्रसमुच्चय 2, 138) अस्यार्थं- मूलबिम्बे सकले सावयवे सति निगमांशोन्मिति चतुर्थांशेनोन्मितं मानं यथा भवति तथा कर्मणि बिम्बकौतुकं कल्पयेत्। निष्कले निरवयवे सकलाकृति सावयवत्वेनैव स्थितं स्थिते मूलबिम्बे स्थितम् आसीनमुत आसीनं वा कल्पयेत्। आसीने चोभयथा प्रकल्पयेत्। निगमांशोन्मितीत्येतदुपलक्षणम्। अन्यथा च ग्रन्थानतरे विधानात्, तथा दर्शनाच्च।
तथाहि— महति प्रतिमायामे तिथि$_{15}$भक्ते मधुद्विषः। अग्न्या-द्यद्यन्तिमैरशैर्बलिबिम्बं प्रकल्पयेत्॥ स्वायामपञ्च$_{5}$षड्$_{6}$भागै कर्मार्चाष्ट्य$_{8}$शितेऽथवा। अब्ध्या$_{4}$शुग$_{5}$रसा$_{6}$द्यंशैरल्पे महति वा भवेत्॥ इति। तथा च- बिम्बदीर्घनृप$_{16}$भाजितेंऽशकैर्वेद$_{4}$भूत$_{5}$रस$_{6}$पर्वतै$_{7}$स्तथा। अङ्गुलैश्च भवति स्वयोनिजैः कर्मबिम्बमितिरच्युतार्ययोः॥ इति रत्नावल्याम्— 'अथ कर्मार्चाप्रमाणम्। यथा मूलार्चा, कर्मार्चापि तथैव कार्या। स्थाने स्थितमासीनं वा कारयेत्। अन्यकर्मार्चाः स्थिता एव कुर्यात्। महाबेरत्रि$_{3}$भागैक$_{1}$भागमुत्तमम्। कर्मार्चा प्रतिमोच्छ्रयं नवभागं$_{9}$ कृत्वैक$_{1}$भागमपोह्य शेषं त्रिभागं$_{3}$ कृत्वा एकभागं$_{1}$ मध्यममि'त्यादि॥

विहार के लिए क्रीडागृह को वायु के पद में, व्यायामशाला को अर्गल के पद में या नैर्ऋत्य में बनाएँ। स्नानागार को पर्जन्य के पद में, भुक्तिनिलय या भोजनशाला इन्द्र और वरुण स्थान में, नृत्यकक्ष आदि को गान्धर्व पद और आयुधागार आदि को नैर्ऋत्य के पद में बनाया जाना चाहिए। इसी तरह शयन कक्ष को गृहक्षत अथवा पूर्व दिशा में बनाया जाना चाहिए।

विशेष - अन्य वास्तुग्रन्थों में राजाओं के लिए विविध प्रकार के महल, हर्म्य आदि का विवरण मिलता है। अपराजितपृच्छा[1], समराङ्गणसूत्रधार[2], राजवल्लभ वास्तुशास्त्रम्[3], वास्तुमण्डनम्, वास्तुसारमण्डनम्[4], वास्तुमञ्जरी आदि में श्रीधर, प्रतापवर्द्धन, लक्ष्मीविलासादि भव्य भवनों का विवरण उपलब्ध होता है। राजवल्लभ. में कहा गया है कि उद्योतक संज्ञक गृह के सामने यदि तीन अलिन्द व एक मण्डप के साथ ही शेष दिशाओं में दो-दो अलिन्द रखे जाए तो ऐसे भवन को प्रतापवर्द्धन्य कहा जाता है।

---

1. चतुरश्रीकृते क्षेत्र भाग एको विभाज्यते। चतुःस्तम्भसमायुक्तमेकद्वारण भूषितम्॥ क्षेत्रभागोदयः स्तम्भे रहोभूफलकान्तरे। आदिभूम्युदयोर्ध्वे वै पीठबन्ध प्रकल्पयेत्॥ उदये नवभिर्भक्ते भागेनैकेन कुम्भिका। चतुरश्राष्टाश्रवृत्तः स्तम्भ ऊर्ध्वे चतुष्कतः॥ तदूर्ध्वे तु विधातव्यं भागोनं व्यालकं तथा। हीरग्रहकं कार्यं भागं पादविवर्जितम्॥ सपादभागिकः पट्टतन्त्रकेन समन्वितम्। भागोर्धेन जयन्ती च भूमिभूमिष्वयं क्रमः॥ गुणरागान्विता भित्तिश्च्छाद्यद्वाराणि यानि तु। तत्र छाद्यत्रयं कार्यं वेदीघण्टासमन्वितम्॥ ज्वलद्रौप्यासनं वेद्यां मत्तावरण भूषितम्। अर्धोदये प्रकर्तव्यो माडः श्रीधर उत्तमः॥ (अपराजितपृच्छा 87, 11-17)
तथा च- प्रतापवर्द्धनस्येवं लक्ष्म साम्प्रतमुच्यते। पञ्चविंशतिहस्तैश्च सार्धभागत्रयाङ्कितम्॥ चत्वारो मध्यतः स्तम्भा द्वादशाऽलिन्दभागतः। पादा भित्तिर्विधातव्या चतुर्द्वारोपशोभिताः। भद्रभागाश्चचतुर्दिक्षु चतुःस्तम्भविभूषिताः। द्वात्रिंशत्स्तम्भकैयुक्तो बाह्याभ्यन्तरतस्तथा॥ द्वितीयभूर्ध्वे माडाश्च सार्धभूमित्रयोच्छ्रिताः। प्रतापकीर्ति कृन्नित्यं प्रतापवर्द्धनाभिधम्॥ (अपराजितपृच्छा 87, 24-26)
अन्यदप्याह- प्रतापवर्द्धने भद्रं त्रिभागं चैव विस्तरे। मुखभद्रं चैवभागं दशस्तम्भसमन्वितम्॥ माडं द्वितीयभूम्यूर्ध्वे सार्धपञ्चकभूमिकम्। लक्ष्मीश्च रमते तत्र लक्ष्मीविलास उच्यते॥ (तत्रैव 87, 20-23)
2. प्रतापवर्धनस्याथ लक्ष्म साम्प्रतमुच्यते। पञ्चविंशतिहस्ताङ्के सार्धभागत्रयाङ्किते॥ मध्ये चतुष्को भागेन चतुर्भिः सम्भृतो धरैः। अलिन्दो भागिकश्चास्य स्तम्भद्वादशकान्वितः॥ पादिका भित्तिरेतस्य भद्रं चास्थ प्रकल्पयेत्। भागनिर्गमविस्तारं चतुःस्तम्भविभूषितम्॥ विधिरेष समग्रासु दिक्षु कार्योऽस्य सिद्धये। स्तम्भैर्द्वात्रिंशता युक्तो बहिरन्तरयं भवेत्॥ धराणां चैव सर्वेषां चतुःषष्टिः प्रकल्पना॥ (समराङ्गण. 30, 109-113)
अथ लक्ष्मीविलासस्य सम्यग् लक्ष्माधुनोच्यते॥ प्रतापवर्धनस्येव मध्यमस्य प्रकल्पयेत्। प्रतावर्धनसमं सर्वतोऽप्येतदीरितम्॥ किन्त्वस्य पार्श्वभद्राणि भद्राणामेव कारयेत्। कोणेष्वपि च भद्राणि पार्श्वयोरुभयोस्तथा॥ भागस्य निर्गमोऽप्येषां विशेषोऽस्मादयं मतः। भद्रस्य दशस्तम्भैर्मध्यं षोडशभिर्धरैः॥ चतुर्द्वारं भवेदेतदिच्छया क्षणमध्यगम्। द्वारमन्यद् विधातव्यं स्वपदे स्यात् सुशोभितम्॥ (तत्रैव 30, 113-117)
3. भ्रमद्वयं द्विक्त्रितये विभागे मुखे त्रिकं मण्डपमग्रतश्च। प्रतापवर्द्धन्यमिदं...। (राजवल्लभ. 6, 33)
4. प्रतापवर्धनं नाम सराज्ञां पञ्चविंशतिः। तन्मध्ये षोडशस्थाने सुभद्रे शोभनाः स्मृताः॥ भीत्ति च्वतुर्दशांशेन चतुःर्द्वारोपशोभितं। माडंभद्रे द्विभोभ्योर्ध्वं सार्ध पञ्चात्रभूमिकाः॥ (वास्तुसारमण्डनम् 118)

दक्षिण के विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् में नृपप्रासादभूमानादि का विस्तार से वर्णन आया है। इसमें चतुरस्र भवन का पुर के मध्यभाग अथवा उत्तम स्थल पर निर्माण का निर्देश किया गया है। इसे मनोहर रूप देने, वहाँ पर गभीर, परिखा, द्वार-उपद्वार आदि शोभाजनक निर्माण का निर्देश किया गया है।[1]

अथ दुर्गार्थं वप्रपरिखावृत्तादीनां-

दण्डान्तं समतीत्य वप्रमुदितं मृद्भिः शिलाद्यैस्तथा
श्रेष्ठं तत् परिखा तु मध्यममते शाखावृतिश्चाधमम्।
तत्पानादिषु कण्टकिद्रुमलता ग्राह्याश्च वेण्वादयः
कुर्याद् द्रव्यवशादिहैकमुदितान् वृक्षांश्च दिक्षु क्रमात्॥ 43॥

नगर और ग्राम में (या गढ़ अथवा दुर्ग) की सीमावर्ती एक दण्ड तक भूमि को छोड़ते हुए चारदीवारों, भित्तियों जिन्हें 'वप्र' कहा जाता है, को गारा और पत्थर से बनाया जाना श्रेष्ठ माना गया है। इसको घेरने वाली परिखा या खाई मध्यम कोटि की और द्रुम शाखादि से युक्त हो तो अधम कही जाती है। इसको आन्तरिक क्षेत्र में आवृत्त करने के लिए काँटे वाले पेड़ों की मजबूत डालियों, लताओं और बाँस आदि का उपयोग किया जाना चाहिए। इनके हेतु साधन द्रव्यों के अनुरूप एक ही तरह के वप्र का निर्माण श्रेष्ठ है और वप्र की समस्त दिशाओं में वृक्षों का आरोपण करवाया जाना चाहिए।

विशेष - वास्तुमञ्जरी में कहा गया है कि दुर्ग सभी कामनाओं को पूर्ण करने

----

1. शुभदा चतुरश्रा भूर्भूमिपानां विशेषतः। पुरस्य मध्यभागे वा निर्दिष्टे वा स्थलोत्तमे॥ भूपहर्म्यं प्रकर्तव्यं तल्लक्षणमनोहरम्। गभीरपरिखोपेतं द्वारोपद्वारशोभितम्॥ चूलीहर्म्यसमायुक्त पक्षिशालाभिरन्वितम्। पञ्चाशद्दण्डमानादि दण्डपञ्चशतावधि॥ प्रमाणमिह निर्दिष्टं भूमिपालस्य मन्दिरे। अथवा भागमानेन कारयेन्नृपमन्दिरम्॥ सूर्यैकं वारणैकं वा तस्य मानमुदीरितम्। एकाननं वा द्विमुखं चतुराननमेव वा॥ मेषे वा वह्निभागे वा मन्त्रिहर्म्यं प्रकल्पयेत्। आकाशे वाऽथ पवने सेनानाथस्य मन्दिरम्॥ प्रासादभित्तिमभितो वहिर्वा तच्च कल्पयेत्। पुरोहितादिनिलयैस्सहितं वा विशेषतः॥ द्वितीयावरणे वाऽपि तृतीयावरणेऽपि वा। भूधरे रुद्रके भागे न्यायशाला विधीयते॥ ईशाने देवतागारं सावित्रे कोशमन्दिरम्। मित्रभागे प्रहरणस्थामुक्तं मुनीश्वरैः॥ मध्यभागे राजवेश्म नवसौधतलावधि। नानाशालासमोपेतं कूटकोष्ठाद्यलङ्कृतम्॥ शिखरावलिसंदृश्यं कल्पनाशतशोभितम्। वातायनशतोपेतं मध्यचत्वरमण्डितम्॥ पाञ्चाली मागधी चान्या शौरसेनी च वाङ्गिकी। कोसली चापि कालिङ्गी द्राविडीति क्रियाकला॥ प्रसिद्धा शिल्पकार्येषु कल्पनाशतशोभिनी। देशभेदेन भूपालः स्वेच्छया तां समाश्रयेत्॥ सोमे वा दन्तके भागे भोजनागारमीरितम्। विशालमापभागे वा कल्पयेच्छिल्पकर्मवित्॥ किन्नरे भास्करे वाथ विहारस्थलमिष्यते। तत्रैवोद्यानभूमिश्च निर्दिशेत्तुष्टिहेतवे॥ गान्धर्वे वारणस्थानं पुष्पके वाजिमन्दिरम्। भृङ्गराजकभागे च भिषक्शालादयो मताः॥ (विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् 12, 1-16)

वाले हैं, सभी धर्मों को देने वाले कहे गए हैं। दुर्ग विजय को देते हैं, राज्य की प्रजा की रक्षा करते हैं। दुर्ग छह प्रकार के कहे गए हैं- 1. गिरिदुर्ग 2. जलदुर्ग 3. इरिणदुर्ग 4. वनदुर्ग, 5. भूदुर्ग 6.पङ्कदुर्ग। इनको यथा स्थान बनाया जाना चाहिए। दुर्गों को परकोटा, परिक्खा, दुष्कर प्रवेशद्वार और गोपुर या समुन्नत द्वार, पुर योग्य मार्ग से बनाएँ और वहाँ पर प्राणीमात्र की रक्षा के लिए पर्याप्त जल का प्रबन्ध करना चाहिए।[1]

शुक्राचार्य का कथन है कि पहरेदारों से सुरक्षित, नालिकास्त्रों से युक्त और कङ्गूरों तथा गवाक्षों से युक्त दुर्ग का निर्माण करवाया जाना चाहिए। वहाँ परकोटा और उसे लघु प्रतिप्राकार बनवाया जाना चाहिए जिसके समीप पर्वत नहीं हो, उसके चारों ही ओर एक खाई खुदवानी चाहिए जिसकी चौड़ाई उसकी गहराई से दुगुनी होनी चाहिए। यह खाई ऐसी हो कि जिस पास परकोटा नहीं हो और जिसमें बहुत पानी भरा रहे।[2]

इसी प्रकार मत्स्यपुराण में आया है कि दुर्गों में खाई, परकोटा तथा ऊँची अट्टालिकाएँ हों और वहाँ पर नालिकादि प्रधान यन्त्र होने चाहिए। उनके किंवाड़ सहित मनोहर द्वार हो जिससे हाथी पर आरूढ़ पताका सहित राजा प्रवेश कर सके।[3]

ईशानशिवगुरुदेव ने कहा है कि प्रासाद और भवनादि को रक्षालङ्कार से युक्त करना चाहिए और वहाँ एक, दो, तीन या पाँच वप्र का निर्माण किया जाना चाहिए।[4]

मयमतम् में आया है कि सभी ग्रामों को परिखा व वप्रादि से आवरित किया

---

1. सर्वार्थ कामदं दुर्गं सर्वधर्म फलप्रदम्। कुर्याद्विजयदं राज्यं प्रजानां रक्षणाय च॥ दुर्गं तु षड्विधं शैलं जलारण्येरिणाभिधम्। भूदुर्गं-पङ्कदुर्गे च यथास्थाने प्रविन्यसेत्॥ सप्राकारं सपरिखं दुःप्रवेश सगोपुरम्। गृहोन्मार्गं बहुजलं दुर्गं कुर्यात् सुरक्षक॥ (वास्तुमञ्जरी 1, 134-136)
तथा च मण्डने - सिंहो वैरिपराभवं प्रकुरुते तिष्ठन् गिरौ गह्वरे दुर्गस्थो नृपतिः प्रभूतकटकं शत्रुं जयेत् सङ्गरे। (राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् 4, 2)
तथा च मनुमते - धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा। नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम्॥ सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत्। एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते॥ त्रीण्या-द्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाऽप्सराः। त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः॥ यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोप हिंसन्ति शत्रवः। तथारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम्॥ (मनस्मृति 7, 70-73)
2. यामिकै रक्षितो नित्यं नालिकास्त्रैश्च संयुतः। सुबहुदृढगुल्मश्च सुगवाक्षप्रणालिकः॥ स्वहीनप्रतिप्राकारो ह्यसमीपमहीधरः। परिखा च ततः कार्या खाताद्द्विगुणविस्तरा। नातिसमीपप्राकारा ह्यगाधसलिला शुभा। युद्धसाधन सम्भारैः सुयुद्धकुशलैर्विना॥ न श्रेयसे दुर्गवासो राज्ञः स्याद्बन्धनाय सः। (शुक्रनीति 1, 239-242)
3. दुर्गं च परिखोपेतं वप्राट्टालकसंयुतम्। शतघ्नीयन्त्रमुख्यैश्च शतश्च समावृतम्। गोपुरं सकपाटं च तत्र स्यात् मनोहरम्। सपताकं गजारूढो येन राजा विशेत् पुरम्॥ (मत्स्यपुराण 217, 8-9)
4. प्रसाद भवनादीनां रक्षालङ्कारसिद्धये। वप्राणि क्रमशः कुर्यात् पञ्चत्रिद्वयेक सङ्ख्यया॥ (ईशानशिवगुरुदेव पद्धति उत्तरार्ध. 35, 44)

जाना चाहिए।[1] इसी प्रकार मानसार में आया है कि सभी दुर्गों को वप्र, परिघादि से आवृत्त किया जाना चाहिए। प्रवेश निर्गम स्थान रखें और वप्र को इष्टादि से द्वादश हस्त उदय के साथ बनाएँ और उसका आधा भित्ति का मूल रखें।[2]

अथ गृहप्रवेशार्थ निर्देशमाह-

एवं निर्माप्य गेहं प्रथममिह वृतस्तन्त्रिवर्यस्तदन्ते
तत्कर्तॄन् शिल्पिनस्तान् वलयमणिलसत्कुण्डलाद्यैर्यथेष्टम्।
सन्तोष्यापाद्य चैतत् स्वयमपि यजमानेन सम्यङ्मुहूर्ते
गत्वा तद्वास्तुपूजाद्यखिलशुभविधिं साधु कुर्वीत तस्मिन्॥ 44॥

जब प्रथम भवन का निर्माण कार्य पूरा हो जाए तब गृहपति को सर्वप्रथम वरणीय आचार्य, निर्माण कार्य में संलग्न रहे कारीगर, शिल्पियों को सर्वविधि सन्तुष्ट किया जाना चाहिए। शिल्पियों को वलय-चूड़ा, कर्णकुण्डल और बहुमूल्य धातुओं के पदार्थ भेंट कर सम्मानित करना चाहिए। इसके बाद भवन को अपने अधिकार में लेकर शुभ मुहूर्त में वास्तुपूजादि के समस्त कार्य, विधियाँ पूरी करनी चाहिए।

विशेष - केशव दैवज्ञ का मत है कि नवीन गृह में मित्र संज्ञक, ध्रुव संज्ञक और गृहारम्भ के नक्षत्रों में ही प्रवेश उचित है। पुर या भवन का द्वार जिस दिशा में विद्यमान हो, उस दिशा में सप्तशलाका चक्र का न्यास कर उपयुक्त नक्षत्रों में प्रवेश किया जाना उचित होता है। विवाह में उपयुक्त कहे गए मार्गशीर्ष, माघ, फाल्गुन, वैशाख, ज्येष्ठ, कार्तिक एवं श्रावण मास प्रवेश के लिए शुभकारक है। प्रवेशकर्ता की जन्म राशि एवं जन्म लग्न, इनसे उपचय, लग्न के अतिरिक्त इष्ट लग्न प्रवेशार्थ शुभ कहा गया है। चर लग्न शुभ नहीं माना जाता है। पूर्व दिशा से प्रारम्भ करते हुए लग्न से 2, 1 तदोपरान्त 2, 1 इस प्रकार अपसव्य क्रमानुसार अङ्क निवेश करते हुए समस्त राशियाँ आठों दिशाओं में निवेशित करें और देखें कि सूर्य जिस राशि पर हो, उस राशि को लिखें। यह सूर्य वाम भाग का जानना चाहिए। प्रवेश में वाम रवि को देखना चाहिए। मङ्गलवार, रिक्ता तिथि (चतुर्थी, नवमी, चौदस) एवं रविवार को त्याग दिया जाना चाहिए।[3]

---

1. सर्वेषां ग्रामाणां परित: परिखा बहिश्च वप्राश्च॥ (मयमतम् 9, 60)
2. सर्वेषामपि दुर्गाणां वप्रैश्च परिघैवृर्त्तम्॥ प्रवेशनिर्गमस्थाने द्वारैरपि समन्वितम्। इष्टकादिकृतं वप्रं हस्तद्वादशकोच्छ्रितम्॥ तदर्धभित्तिमूले तु सञ्चारै: सह विस्तृतम्॥ (मानसारम् 10, 53-55)
3. द्वा:स्थैर्मैत्रध्रुवैश्चागत नृपतिरितेर्हर्म्यमारम्भभैर्वा वैवाह्येमासिचोर्जेनभसिजिनभयो: वृद्धिलग्नचरोने। वामेर्केद्व्येकभै: प्राक्तनुतइहविशेद्व्याररिक्तार्क इष्टाथोजेब्दे पित्र्यवायुध्रुवमृदुवसुभक्षिप्रमूलैर्वधूश्च॥ (मुहूर्ततत्त्वम् 11, 5)

गृहप्रवेशोत्तरकालीनकर्त्तव्यविधिमाह-

कर्ता चाथ क्रियान्ते महितगुरुवरं भोजयित्वा यथेष्टं
गोभूम्याद्यैश्च दत्त्वा विधिवदवहितो दक्षिणां मुख्यरूपाम्।
आज्ञामादाय तस्मान्निखिलमपि जनं प्रीणयन् भूरिदानैः
स्वीयैः सार्धं स्वगेहे सुचिरमधिवसेत् पूर्णकामः सुखेन॥ 45॥

धार्मिक पूजा के बाद इस कार्य के सम्पादन के लिए आए गुरुवर, आचार्य को इच्छित भोजन करवाएँ। गाय, भूमि आदि उनको भेंट स्वरूप प्रदान करना चाहिए। यथेष्ठ दक्षिणा प्रदान करें और उन्हीं की आज्ञा प्राप्तकर गृहस्वामी को आनन्द के साथ अपने भवन में परिवारजनों सहित सुखपूर्वक चिरकालपर्यन्त निवास करना चाहिए।

विशेष - सूत्रधार नाथा का मत है कि गृह प्रवेशार्थ बलि, पूजादि के अनन्तर निर्माणकार्यादि में रत रहे सभी तक्षकों, श्रमिक-शिल्पियों का विविध प्रकारेण पूजन-बहुमान करना चाहिए। इसके बाद ही स्थपति को चाहिए कि वह गृहपति को भवन में प्रवेश कराए। ऐसी ही विधि से उस गृह में ब्रह्मा, विष्णु, शङ्करादि सभी देवता स्थित होकर उसके लिए सहायक, रक्षक बनें रहते हैं।[1]

श्रीपति ने कहा है कि गृह प्रवेश के समय गृहपति को चाहिए कि वह ब्राह्मण, सुहृदयों या मित्रजनों, पुरोहितों, शिल्पियों, भूगोल ज्ञानियों और गणित-मपित कर्ताओं

---

1. पृष्ठतः पूजयेद्वास्तो सर्वं तक्षक साधनम्॥ ततो मन्दिर मध्यस्थः स्थपति प्रवद्देदिदम्। ब्रह्मा-विष्णु-शङ्करः सर्वदेवाः क्षोणिः लक्ष्मीर्वान्॥ (वास्तुमञ्जरी 1, 384-385) इत्यमनन्तर- वधुः सिंहकेतुज्येष्टाविश्वेदेवता वेश्म पश्य॥ श्रीसौभाग्यारोग्यभोग्यं सृजन्तु निरुजामुदिता। सधनाप्रथितय समाहताद्भुत विर्ययुत सतत॥ निरूपइवकर्जयूता पृथविपति जीवतु धर्मविधे॥ धारानिपातात् सलिल प्रकोपात् दंष्ट्रानि। पातात्यवन प्रकोपात् अग्रेस्व दाहान्मुखिता च॥ चोराद्रक्षत्विन्दसद्म सिञ्चतेऽस्तु॥ गृह समाप्तपर्यन्त सिञ्चयेत्सुगन्धिकलशोदके। धान्यान्नगृहवस्तुनिस्वेस्वेस्थाने प्रविन्यसेत्॥ ततो गृहेश गेहिन्ये स्वजनाद्ये समन्विते। विचिन्त्य जगदीसंस्थं विशेनं वस्तुमद् गृहं॥ गृहाणीगृहदेवभ्यो बलिं सव्यञ्जनौदनं। ॐ गृह देवताभ्यो नमः। इत्युक्तावितरेत्ततः। गृहाधिप सुरान् विप्रान स्थपतितक्षकानपि। रत्नैर्धनाम्बरेर्धान्ये पशुभिश्चायितोपि यत्॥ तत् स्वजन मित्राद्यैर्भोजनीयं गृहे श्रीयम्। एवमेवं कृते वास्तुवर्द्धते नित्यमायुषम्॥ अन्यथा नाप्नुते सौख्यभूताद्या सवसंकुलं॥ तस्मात्गृहादि निष्पत्तौ विधि मे न समाचरेत्। तुलसी सर्जभृङ्गाब्दपटोलार्जुनं मञ्जरी। सिद्धार्थ हिङ्गुत्रपुषान् समाधिपत्यौषधं पुरं॥ धूपोयं श्रीपदागेहेरक्षो भूतपिशाच हृत। मूषकोरगकीटादिमक्षिकामसकापह॥ ततो मन्दिरमध्यस्थ स्थपति प्रवदेदिन्द। मिति पाठः।
तथा च **मण्डन** - इत्यनन्तरतः कुर्यात् सूत्रधारस्य पूजनम्। भूवित्तवस्त्रालङ्कारैर्गोमहिष्यश्ववाहनैः॥ अन्येषां शिल्पिनां पूजा कर्त्तव्या कर्मकारिणाम्। स्वाधिकारानुसारेण वस्त्रताम्बूलभोजनैः॥ काष्ठपाषाणनिर्माणकारिणो यत्र मन्दिरे। भुञ्जतेऽसौ तत्र सौख्यं शङ्करत्रिदशैः सह॥ पुण्यं प्रासादजं स्वामी प्रार्थयेत्सूत्रधारतः। सूत्रधारो वदेत् स्वमित्रक्षयं भवतात्तव॥ (प्रासादमण्डनम् 8, 82-85)

को धन, रत्न, पशुधन आदि प्रदान कर सन्तुष्ट करें। इसी प्रकार अल्पज्ञ, सदांध, गरीबों और अन्य पुरवासियों को भी सन्तोष देना चाहिए।[1]

वास्तुविद्या में भवनपरिग्रह की विधि आई है। यथोक्त विधि से वास्तुकर्म समाप्त करें। नाना प्रकार के वस्त्रादि से गृह को आच्छादित करें। इसके बाद कर्ता को कर्मकारों की भली प्रकार से पूजा और उनका अभिनन्दन करना चाहिए। स्नान, अभ्याङ्गादि सहित वस्त्र-परिधान, अनुलेपन, पुष्प-सुरभि, कुण्डल आदि प्रदान करने चाहिए। इसी प्रकार चारों प्रकार के अन्न जिसके साथ षट्रस व्यञ्जन हों, यथाशक्ति दान करने चाहिए। इस प्रकार उन्हें सभी प्रकार से सन्तुष्ट करके ही अपने भवन का परिग्रह करें। स्थपति और कर्मकारों को दान-दक्षिणादि ग्रहण कर इस अवसर पर गृहकर्ता को आशीर्वाद देते हुए मन्त्रोच्चार करना चाहिए- 'गृहपति ! तुम्हारा गृह वर्षा, जल, तड़ित, ताप, प्रचण्ड वायु-आँधी, अग्निकाण्ड आदि से सुरक्षित रहें। यहाँ पर चोर-तस्करादि, परचक्रघात आदि का प्रभाव नहीं हो, असुरों से रक्षा हो। गृह में कभी व्याधि नहीं हो, पुत्र-पौत्रादि बने रहें, सभी प्रकार की सम्पत्ति, सुख हो और वह यशवान् बने, विजयी, नाना पशुधन सम्पदा से फला-फूला रहे। वह सुकृति राजा, पृथ्वीपति हो। ब्रह्मा, विष्णु, शङ्कर, चन्द्र, सूर्य, नन्दी, लक्ष्मी, सरस्वती, स्कन्द, इन्द्र, भूदेव, ऋषिगण आदि प्रजावान् बनाएँ, श्री-सौभाग्य, आरोग्य, भोग, कृषि आदि दें...।' इस अवसर पर यह मानना चाहिए कि स्थपति स्वयं ब्रह्मा है और यजमान स्वयं हरि है, आचार्य भगवान् रुद्र है- इस प्रकार तीनों के सङ्कल्पादि से यह भवन तैयार हुआ है। इस विधि से वास्तु स्थिर रहता है और दृष्टादृष्टफल प्रदान करता है।[2]

----

1. तथा च **श्रीपत्युक्ति**- ततो नृपो विप्रसुहृत्पुरोधसः शिल्पज्ञभूगोलविदश्च भागिनः। धनैश्च रत्नैः पशुभिः समर्चयेज्ञडान्धदीनान् पुरवासिनस्तथा॥ (ज्योतिषरत्नमाला 18, 11)
2. **गृहपरिग्रहं प्रस्तौति**- यथोक्तविधिना तत्र वास्तुकर्म समाप्य च। वासोभिर्बहुभिस्तत्र गेहमाच्छादयेत् पुनः॥ अथ कर्ता कर्मकारान् सम्यक् तान् पूजयेत् पुनः। अभ्यञ्जनादिकं दत्त्वा स्नातेभ्योऽथ यथोचितम्॥ वासांसि चानुलेपं च पुष्पाणि सुरभीणि च। कुण्डलादीनि सर्वाणि सर्वेभ्यश्च यथोचितम्॥ दत्त्वा चतुर्विधं चान्नं संयुक्तं षड्रसैरपि। दीयतां च यथाशक्ति दीयतां दक्षिणा ततः॥ एवं सन्तर्प्य तान् सर्वान् तेभ्यो गेहं प्रगृह्यताम्। स्थपतिः परिगृह्याथ तत्सर्वं दक्षिणादिकम्॥ कर्मकारजनैः साकं मन्त्रानेतानुदीरयेत्॥ वर्षाम्बुपातादशनिप्रपाताच्चण्डाच्च वायोरपि चाग्निदाहात्। चोरादिकेभ्यः परचक्रघाताद् रक्षन्त्विदं सद्म सुरासुरेभ्यः॥ अगदा मनुजाः सधनाः सुखिनः प्रथिता यशसा च भवन्तु चिरम्। विजयी निखिलां पशुसस्यवर्ती सुकृती नृपतिः पृथिवीमवतात्॥ ब्रह्मा विष्णुः शङ्करश्चन्द्रसूर्यौ नन्दी लक्ष्मीर्वाग्वधूः स्कन्द इन्द्रः। भूमिर्देवाश्चर्षयश्च प्रजानां श्रीसौभाग्यारोग्यभोगान् कृषीरन्॥ भूयाद् ध्रुवा द्यौः पृथिवी च भूयाद् भवन्त्विमे भूमिधरा ध्रुवाश्च। ध्रुवं जगद् विश्वमिदं ध्रुवं स्याद् राजा तथा धाम च तद् ध्रुवं स्याद्॥ ब्रह्मैव स्थपतिः साक्षाद् यजमानः स्वयं हरिः। आचार्यो भगवान् रुद्रः त्रिभिर्निष्पादितं तु यत्॥ तद् वास्तु स्थिरमेव स्याद् दृष्टादृष्टफलप्रदम्॥ (वास्तुविद्या 15, 23-33)

इति मनुष्यालयचन्द्रिकायां बाह्यगेहकूपतटाकादिविधानं नाम

सप्तमोऽध्याय: समाप्त ॥ 7 ॥

इस प्रकार मनुष्यालयचन्द्रिका में बाहरी गृह, कूप, तालाबादि विधान संज्ञक सातवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

शुभं भूयात्।

*****

---

1. 'रे' ख. पाठ: 2. 'जि' ग. पाठ: 3. 'य:' क. पाठ: 4. 'मा।' क. पाठ:।

परिशिष्टम्

मयोक्त गृहप्रवेशविधिः

निमार्णोपरान्तप्रवेशकार्यम्-

अथ निष्पन्नगृहं प्रविश्य तं त्वरितं न प्रविशेदनिष्ठितम्।
यदि निष्पन्नमवेशितं चिरं सुरभूतादिगणाश्चरन्त्यलम्॥ 1॥

गृह का निर्माण कार्य पूर्ण होने पर ही गृहप्रवेश करना चाहिए। यदि निर्माण पूरा नहीं हुआ हो तो प्रवेश की शीघ्रता नहीं करें और पूर्ण होने पर विलम्ब से प्रवेश करने पर वहाँ देवता व भूतादि गणों का निवास हो जाता है।

अथ कर्मान्तमुपेत्य तद् गृहं शुभनक्षत्रतिथौ च वारके।
शुभहोरासुमुहूर्तकां(को?)शके करणे लग्नयुते विशेच्छुभम्॥ 2॥

पूर्ण निर्माणोपरान्त प्रवेश के लिए शुभ नक्षत्र, तिथि, वार, होरा, शुभ मुहूर्त, अंश, करण और लग्न को देखें और इनके शुभ होने पर प्रवेश करें।

विशेष- मानसार में कहा गया है कि उत्तरायण व दक्षिणायन में मिथुन, धनु, कन्या एवं मीन सङ्क्रान्ति के मास वर्जित है। शुक्लपक्ष, शुभनक्षत्र, सुमुहूर्त एवं शुभ लग्न को देखना चाहिए। चन्द्रमा स्थिर राशि (वृष, सिंह, वृश्चिक और कुम्भ) का होना चाहिए- उत्तरायणमासे तु दक्षिणायन मेन चैव वा। मिथुनं धनुः कन्यां च मीनं चैव विवर्जयेत्॥ प्रशस्तपक्षनक्षत्रे सुमुहूर्ते सुलग्नके। उभयोः स्थिरराशौ च शुक्लपक्षे प्रवेशयेत्॥ (मान. 37, 2-3)

अथारम्भिकाधिवासः कर्माह-

पूर्वेद्युर्वासयित्वा द्विजपशुवृषभांस्तर्पयित्वा जलाद्यैः।
स्वाध्यायैर्होमशान्तिद्विजवरमुदितैस्तद्गृहं स्वस्तिवाच्यैः॥ 3॥

जब प्रवेश करना हो, उसकी पूर्व सन्ध्या को ब्राह्मण को चाहिए कि वह माङ्गलिक पशुओं सहित एक वृषभ को वहाँ पर लाएँ। वहाँ जलादि से शान्ति कर्म करें। स्वाध्याय, होम, शान्ति कर्म और स्वस्तिवाचन भी करें।

कुड्यादीनां कर्त्तव्यमाह-

पूतं कल्कैर्हरिद्रागरुसरुषपकुष्ठादिकानां वचानाम्।
कुड्ये संलेपितं तैः सह भुवि सलिलैश्चन्दनस्यानुसिक्तम्॥ 4॥

इस अवसर पर गृह की पुताई करें। दीवार पर हल्दी, अगरु, सरसों, कुष्ठ, वचादि का लेपन करें और भूमि पर चन्दनयुक्त जल का छिड़काव करें।

वितानमण्डपादीनां विधानमाह-

भवनस्योत्तरपूर्वभागे त्वधिवासं निशि चारभेत् सुधीः।
सवितानादि पताकलङ्घनैर्बहुवर्णाम्बरचित्रमण्डपैः॥ 5॥

इसी प्रकार गृह के ईशान कोण में रात्रि में विद्वान को चाहिए कि वह पताका फहरायें तथा अन्य अनेकानेक रङ्गीन वस्त्र व चित्रादि से सज्जित मण्डप, वितान की रचना करें।

विशेष - मानसार में आया है कि प्रवेशकाल में पूजादि के लिए मण्डप को भवन के सम्मुख बनाना चाहिए। मण्डप के अतिरिक्त प्रपा या कूट भी बनवाया जा सकता है। यह पाँच, सात अथवा नौ हाथ लम्बा होगा तथा इसके लिए सोलह या बारह स्तम्भ होंगे। उसको नाना वस्त्राभरणों से अलङ्कृत करना चाहिए- गृहाग्रे मण्डपं कृत्वा प्रपां वा कूटमेव वा॥ पञ्चसप्तकरं तत्र गेहतारं समाग्रकम्। षोडशस्तम्भयुक्तं वा द्वादशस्तम्भमेव वा॥ विविधानां विधानानां नानावस्त्रैरलङ्कृतम्। (मान. 37, 4-6)

सितवस्त्रधरः सुवर्णयज्ञः सितपुष्पश्च सितानुलेपनः।
स्थपतिः सुमनाः सुवर्णरत्नैर्विविधैर्निष्ठितभूषणान्वितः॥ 6॥

स्थपति के लिए आवश्यक है कि वह श्वेत परिधान, स्वर्ण के यज्ञोपवीत, श्वेत पुष्प, श्वेतानुलेपन से युक्त हो। वह अपने मन को पवित्र रखें और स्वर्णादि विविध रत्नों से भूषित हो जाए।

उपपीठे कलशादीनानिवेशनम्-

कलशान् पञ्चकपञ्च[25] वारियुक्तान् नववस्त्रान् मणिहेमसंयुतान्
मतिमान् शालिगिरौ सतण्डुले ह्युपपीठे तु पदे न्यसेत् ततः।
बल्यन्नं सितरक्तपीतकृष्णं मुद्गान्नं पयसान्नकं यवान्नम्
पिङ्गान्नं कृसरान्नकं गुलान्नं शुद्धान्नं कलशोत्तरे न्यसेत्॥ 7॥

इसी अवसर पर तण्डुल के बनाए उपपीठ पर जल, मणि, स्वर्ण से युक्त पच्चीस कलशों को स्थापित किया जाना चाहिए। इनको नवीन वस्त्रादि से आवृत्त करना चाहिए। इनके उत्तर में बल्यार्थ अन्न को रखें और श्वेत, लाल, पीत, श्याम मुद्ग या मूङ्ग; खीर, पके हुए यव (जौभात), केसरिया भात, गुलान्न (गुड़ की लपसी) और शुद्धान्न को भी रखना चाहिए।

तथा च शम्बरपाठादीनां-

पर्यङ्कोपरितल्पबन्धने शयने दीपतुरीयसंयुते।
निवसेदम्बरवेष्टिते शुभे स्थपतिः शम्बरमुच्यते सदा॥ 8॥

इसी अवसर पर स्थपति को चाहिए कि वह शुभद्रव्यादि से निर्मित पर्यङ्क पर आसीन हो जिस पर दीपक एवं तुरीय-वाद्य हो। उसको वहाँ पर शम्बर या माङ्गलिक स्वर का पारायण करना चाहिए।

बलिचरुसकलान्न रत्नहेमप्रयुक्तं
दधिगुलमधुपुष्पाज्याक्षताभिस्तु लाजैः।
रजनितगरुकुष्ठानां प्रयोगेऽच्छकल्कै-
र्युतमपि हि तदानी निक्षिपेद्धेमपात्रैः॥ 9॥

इसी दौरान वहाँ स्वर्ण के तरु में बल्यार्थ समस्त अन्न को रत्न एवं स्वर्ण सहित दधि, गुल-मधु, पुष्प, घृत, चावल, लाजा, रजनी, तगरु, कुष्ठ को रखना चाहिए।

भवनविहितदेवान् स्वस्वकोष्ठे निधाय
स्थपतिरमलकुम्भान् हस्तपात्रावलैश्च।
सिततरकुसुमं वै धूपदीपं च गन्धं
दृढतरमतिमद्भिस्तक्षको धारयित्वा॥ 10॥

इसके बाद स्थपति को चाहिए कि वह भवन के अपने-अपने कोष्ठानुसार देवता का निवेश करें। निर्मल कलश में हस्तानुसार देवताओं का आह्वान करें। इसी दौरान विद्वज्जन के मतानुसार ही नक्षत्र में उन कुम्भों में श्वेत पुष्प, धूप-दीप, गन्ध आदि प्रत्येक देवता को प्रदान करें।

अथ बलिविधिमाह-

प्रणवादिनमोन्तकेन नाम्ना विहितं स्वाम्बरमादरात्सुरेभ्यः।
प्रथमं विधिना त्वजाभि नत्वा बलिमात्रं विनिवेदयेत्तु तस्मै॥ 11॥

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रत्येक देवता के नाम से पूर्व ॐ तथा अन्त में नमः का उच्चारण करते हुए ही बलिकर्म करना चहिए। इस क्रम में सर्वप्रथम ब्रह्मा को बलि निवेदित करनी चाहिए, उन्हें उनकी पूजा देनी चाहिए।

स्वायम्भुवः स्वस्य चतुर्मुखेषु चतुष्टया नान्दिषु तैतिलानाम्।
यथार्हकैः स्वैर्बलिभिश्च पुष्पकैः सगन्धधूपादिभिरत्र तर्पयेत्॥ 12॥

ब्रह्मा के बाद स्वयम्भू के चारों ही दिशाओं में विद्यमान चतुर्मुखों को बलि निवेदित करें। इसके बाद अर्हक को पुष्प, सुगन्ध, धूपादि की बलि प्रदान कर तृप्त करें।

इन्द्राय पूर्वदिशि बन्धुभिरग्नयेऽग्नौ
याम्ये यमाय निर्ऋतौ सहबन्धुवर्गैः।
पित्रे प्रतीच्यपि बलिं वरुणायं दद्याद्
वायौ सबन्धुरनिलाय बलिं नयेद्धि॥ 13॥

इसके बाद पूर्व दिशा में इन्द्र, आग्नेय में अग्नि, दक्षिण में यम, नैर्ऋत्य में बन्धुवर्ग सहित पितृ को और पश्चिम में वरुण को बलि निवेदित करनी चाहिए। वायव्य में वायु को बन्धु सहित बलि अर्पित करें।

सोमाय सोमपदके दिशि चोत्तरस्यां
मित्रैः सह स्वबलिमत्र निवेदयेत् तत्।
पूर्वोत्तरे दिशि शिवाय सबन्धुवर्गै-
रेवं हि दिक्षु च विदिक्षु बलिं विदध्यात्॥ 14॥

इसी प्रकार सोम को सोम के पद में, उत्तर दिशा में उसके मित्रों सहित बलि प्रदान करें। ईशान में शिव को सबन्धुवर्ग बलि प्रदान करनी चाहिए। इस प्रकार से ही दिशा और कोणों में बलि प्रदान करनी चाहिए।

ईशे चरक्यै ज्वलने विदार्यै स्यात् पूतनायै पितृबाह्यभागे।
एवं पुनर्मारुतबाह्यभागे स्यात् पापराक्षस्यपि भोजनीयाः॥ 15॥

ईश के बाह्य भाग में चरकी, अग्नि के बाह्य भाग में विदारिका, पितृ के बाह्य भाग में पूतना तथा मारुत के बाह्य भाग में पापराक्षसी को भोजन की बलि देने का विधान है।

स्तम्भे वनाय च तृणाय दिवाचरेभ्यो
दिक्षे च तत्र च विदिक्षु निशाचरेभ्यः।

उर्व्यां क्षिपेद् बलिमथोरगदेवताभ्यो
धर्माय कीर्यविहिवेऽखिलदेवताभ्यः ॥ 16 ॥

इसी प्रकार स्तम्भ में वन और तृण को, दिवाचारी को दिशाओं में तथा निशाचारी को विदिशाओं में बलि प्रदान करनी चाहिए। उरग, सर्प को भूमि पर प्रक्षेपित कर तथा धर्म सहित विश्वेदेवा के निमित्त द्रव्यादि को हवा में उछाल कर बलि दी जानी चाहिए।

द्वारस्य वामपदके मनवे परेभ्यो
दद्युःश्रियै च शयने विधिना बलिं तत्।
शालासु मण्डपसभास्वथ मालिकायां
मध्येऽङ्गणे तु मुखमण्डपके विमाने ॥ 17 ॥
धाम्न्येष्टकेष्ट64पदकेऽभ्यमरान्तरास्ता
नाहूय गन्धकुसुमादिभिरर्चयित्वा।
दत्त्वोदकं सुबलिमत्र निधाय पश्चाद्
देयं जलं स्थपतिना विहितं च धूपम् ॥ 18 ॥

इसके उपरान्त द्वार के बाह्य और वाम में मनु व अन्य को तथा अन्त में श्री को शयन पर बलि दी जानी चाहिए। भवन में शाला, मण्डप, सभा और मालिका या मञ्जिल में, मध्य आङ्गन और विमान में, मुखमण्डप में चौंसठ पद विन्यास में बाह्य और भीतरी देवताओं का आवाहन करें और बाद में पुष्प, गन्धादि से अर्चना करें। उबले चावल से बलि दी जाने के बाद जल और धूप देनी चाहिए। ऐसा समस्त बलिकृत्य स्थपति को सम्पादित करना चाहिए।

विशेष- मत्स्यपुराण और अग्निपुराण में देवताओं को दी जाने वाली बलि आदि का विस्तार से वर्णन आया है। राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् में भी बलि-द्रव्यों की सूची मिलती है।

तत्र नान्यौषधनामानि-

तुलसिसर्जरसार्जुनमञ्जरीघनवचाकपटोलसगुग्गुलुः।
त्रपुषहिङ्गुमहौषधिसर्षपाः कुरवकोऽत्र सदैव सधूपराट् ॥ 19 ॥

पूजादि सामग्री में तुलसी, साजी का रस, अर्जुन, मञ्जरी, घन, वचा, पटोल, गुग्गुलु, त्रपुष, हिङ्गु, महौषधि, सरसों, कुरवक आदि का प्रयोग सदा ही करना चाहिए।

तथा च निवेदनम्-

ददति धान्यधनानि बहून्यहो हरति भूतपिशाचसराक्षसान्।
दहति कीटभुजङ्गममक्षिकान् मशकमूषिकलूतिकलूतकान्॥ 20॥

देवताओं को धूप इस प्रकार निवेदित करनी चाहिए कि वे बहुत धन-धान्यादि प्रदान करें, वे वहाँ पर पूर्व से निवसित भूत, पिशाच, राक्षसों का निवारण करें। वे कीट, भुजङ्ग, मक्खियों, मच्छर, चूहों, मकड़ी और चींटियों का निवारण करें।

पश्चाच्च पात्रान्तिकपश्चिमांशे धान्यास्तरे तक्षकसाधनानि।
सर्वाणि विन्यस्य बलिं च दत्त्वा तेभ्यो वदेत् सङ्ग्रहमध्यमस्थः॥ 21॥

इसके उपरान्त तक्षक के साधन को, पश्चिम में रखे गए पात्र को स्पर्श करते हुए धान्य को बिखराएँ तथा सभी को बलि सङ्ग्रह के मध्य से यह उच्चारित करते हुए प्रदान करें कि-

निरुजा मुदिता सधना प्रथिता यशसा महताद्भुतवीर्ययुता।
सततं निरुपद्रवकर्मयुता पृथिवी पृथु जीवतु कर्मविधे॥ 22॥
धारानिपातात् सलिलप्रकोपाद् दंष्ट्रानिपातात् पनवप्रकोपात्।
अग्नेश्च दाहान्मुषिताश्च चोराद् रक्षन्त्विदं सद्म शिवं च मेऽस्तु॥ 23॥

'आप निरोगी हों; मुदित, धन, विशिष्ट यश की वृद्धि करें और महत्त-अद्भुत तेज से युक्त सदा नीरुपद्रव कर्म से युक्त ऐसी भूमि धर्म के अनुरूप सदा ही जीवन्त रखें। यह भवन धारा-निपातादि में गिरने से बचा रहें, जल-प्लावन से, गज की टक्कर और पवन के प्रकोप, अग्निकाण्ड तथा चोरों से सदा ही रक्षित रहें। यह मेरे लिए कल्याणकारक सिद्ध हों।'

इत्यमनन्तरे स्थपतिप्रस्थानमाह-

उक्त्वैवमेवमखिलान्यपि साधनानि
स्थित्वा प्रणम्य शिरसा स्थपतिः कराभ्याम्।
आदाय तानि सकलानि तदीयबाहौ
सम्यङ् निधाय विधिना स्वजनैः सभृत्यैः॥ 24॥

यहाँ यह निर्देश है कि स्थपति को स्थिरमना होकर शीर्ष से दोनों ही हाथों को युक्त कर वहाँ समस्त उपस्कारकों, साधन को प्रणाम करें। बाद में सभी उपस्कारकों को

एकत्रित करें और बिना कोई त्रुटि किए उनको परिवार व सेवक की सहायता से बाहों में उठाएँ अर्थात् समस्त औजारों को ले लें।

सङ्ग्राह्य बन्धुजनपुत्रसहायकाद्यै
र्गच्छेत्स्वकीयभवनं प्रति तुष्टचेताः।
संन्यस्य सर्वमथत द्बलिशेषमन्नं
सम्यक् क्षिपेत् सलिलके गृहदेवताभ्यः॥ 25॥

उक्त विधि के साथ-साथ अपने सभी जनों- भाइयों, पुत्र, सहायक कर्मचारी आदि के सहित अपने भवन को प्रस्थान करें। लौटते समय वह सन्तुष्ट चित्त हो। इसके बाद वहाँ पर बची हुई (पूजा की अन्नादि सामग्री) को एकत्रित कर गृहदेवता के लिए जल में प्रवाहित कर देना चाहिए।

इत्यमनन्तरकर्त्तव्यमाह-

अथ सम्यग् गृहमार्जने कृते सितकुष्ठागरुचन्दनाम्बुभिः।
कलशोदैरपि गन्धसंयुतैर्मणिहेमाम्बुभिरत्र सेचयेत्॥ 26॥

(अब पुनः पवित्रीकरण के विषय में कहा जाता है) उक्त पूजादि के बाद समस्त गृह का सम्यक् मार्जन करें। भूमि पर कुष्ठ, अगरु, चन्दन मिला जल छिड़कें। इसी प्रकार कलश के जल, गन्धयुक्त जल, स्वर्ण-मणि मिले जल से भी छिड़काव किया जाना चाहिए।

अन्यदप्याह-

अथ सिद्धार्थकलाजशालिकान् भवनाभ्यन्तरतो विकीर्य पश्चात्।
उपदंशैर्युतमष्ट8धान्ययुग् धनरत्नं गृहवस्तुवेश्य सर्वम्॥ 27॥

इसके साथ ही सिद्धार्थ के प्रयोजन से लाजा, शाल्यादि को भवन में बिखेरना चाहिए। अष्ठ प्रकार के धान्य, धन, रत्न सहित गृहोपयोगी समस्त वस्तुओं को वहाँ पर जहाँ-तहाँ रखना चाहिए अर्थात् भवन में अपना साजो-सामान संग्रह करना शुरू कर देना चाहिए।

अथ स्वामिस्वामिनीप्रवेशनम्

गृहपतिर्गृहिणी समङ्गलौ च सुजनसुभृत्यसुतानुजाभिधौ।
स्वभवनं गृहिवस्तुसमग्रकं प्रविशतामनुचिन्त्य जगत्पतिम्॥ 28॥

इसके बाद मङ्गल ध्वन्यादि के बीच, गृहपति को गृहिणी, सुजन, अच्छे सेवकों, सुपुत्रों, अनुज जनों सहित अपने नाना द्रव्य सामग्री से परिपूर्ण भवन में जगत्पति का स्मरण करते हुए प्रवेश करना चाहिए।

अन्यदप्याह-

प्रीत्या प्रविश्य गृहवस्तु निरीक्ष्य सर्वं
तौ दम्पती च शयनेऽप्युपविश्य पश्चात्।
सव्यञ्जनोदनमथो गृहिणी गृहीत्वा
निर्वर्तयेद् गृहबलिं बलिशेषमन्नम्॥ 29॥
स्वमूलदास्यै स्वकुलानुगायै दत्वाऽथ देवद्विजतक्षकादीन्।
धनैश्च रत्नैः पशुभिश्च धान्यैः सन्तर्प्य वस्त्रादिभिरत्र नित्यम्॥ 30॥

प्रीतिपूर्वक गृह में प्रवेश कर वहाँ पर सञ्जोई प्रत्येक सामग्री का भलीभाँति अवलोकन करना चाहिए और दम्पत्ति को शयन पर बैठना चाहिए। इसी अवसर पर गृहिणी को चाहिए कि वह व्यञ्जन सहित ओदन या पके हुए अन्न को ग्रहण करें और गृहबलि निवेदित करें। इस कृत्यादि में जो अन्य अन्न शेष रहे, उसको अपने कुल के मूल दास-दासियों को प्रदान करें। देव, द्विज, तक्षक आदि को धन, रत्न, पशु, धान्य, परिधान आदि से नित्य ही सन्तुष्ट करें।

अन्यदपि-

स्वजनगुरुजनाद्यैर्मित्रभृत्यादिवर्गै-
रनुगतजनबृन्दैरत्र भोक्तव्यमादौ।
गृहपतिरपि पत्नी तत्र नत्वा गुरूंस्त-
त्सुतजनमपि पौत्रैर्भोजनीयान् क्रमेण॥ 31॥

(प्रवेश के बाद) गृहपति को चाहिए कि वह पहले-पहल भोजन अपने परिजनों, गुरुजन, मित्र, भृत्यादि के साथ करें। गृहपति को सपत्नीक गुरु को नमन करना चाहिए। इसके बाद पुत्र-पौत्र को क्रम से भोजन करवाएँ।

तत्रैव शुभसूचकान्-

अम्भोभिः पूर्णकुम्भैः सफलकदलिकावञ्जुलैः पुगवृक्षै-
र्दीपैरश्वत्थपत्रैः सिततरकुसुमैः साङ्कुरैः पालिकाभिः।

कन्याभिर्मङ्गलाभिर्युवतिभिरमलैर्विप्रमुख्यैरुपेतं
द्वारं तत्तोरणाढ्यं गृहमनघतरं वेशयेद् वेश्यमनाथम्॥ 32॥

प्रवेश काल में यह ज्ञातव्य है कि शुभ शकुनादि निमित्त देखने चाहिए। सभी प्रकार के रसादि से परिपूर्ण कलश, फल, मञ्जुल कदली, सुपाड़ी का वृक्ष, दीप, अश्वत्थ के पत्र, श्वेत कुसुम, साङ्कुर पालिका या नवधान्य, कन्या, मङ्गल गीतों को गाती युवतियाँ, विप्रादि इस दृष्टि से शुभ है। प्रवेशकाल में गृह का द्वार तोरणादि से अलङ्कृत हो। ऐसे शुभ निमित्तों की वेला में ही प्रवेश किया जाना चाहिए।

सितवस्त्रजलप्रदीपपूर्णं सितकुसुमाम्बरधारणं सुहृष्टम्।
गृहपतिपुरतो यथा विवाहे गृहिणिकरग्रहणं गृहप्रवेशे॥ 33॥

(इस दौरान गृह को) श्वेत वस्त्र, जल के घट, प्रदीप्त दीपक आदि से भी सजाना चाहिए अर्थात् रोशनी करनी चाहिए। सुहृष्ट गृहपति को भी श्वेत कुसुम (की माला), (पवित्र) वस्त्र धारण करने चाहिए। उसे प्रवेश करते समय अपनी पत्नी का हाथ उसी प्रकार थामे रहना चाहिए जैसा कि पाणिग्रहण संस्कार (विवाह) में थामा जाता है।

प्रवेशविधिमाहात्म्यम्-

अदत्तबलिभोजनमदच्छदभगर्भं
द्विजस्थपतिकादिभिरतर्पितमतल्पम्।
विशत्यपि गृहं यदलमेव हि विपत्यै
विपत्पदविमेयमतिदुष्टहृदयः सः॥ 34॥

(प्रवेश की विधि का सम्पादन करना बहुत आवश्यक है) बिना बलिकर्म किए, बिना भोजन, बिना आच्छादन के गृह, बिना गर्भ विन्यास के गृह में प्रवेश नहीं करना चाहिए। जहाँ ब्राह्मण, स्थपति आदि को सन्तुष्ट नहीं किया गया हो, जहाँ पर शयन स्थान नहीं हो- ऐसे गृह में यदि प्रवेश किया जाता है तो विपत्ति ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार अवित्र हृदय से भी विपदा होती है।

अतिसन्तुष्टमना गृहेश्वरः सुतयोषित्स्वजनप्रियानुगः।
स्वगृहं प्रविशेत् प्रविश्य चैवं शुभवाग्भिः परिपूर्णकर्णकः॥ 35॥

प्रवेशकाल में मन बहुत सन्तुष्ट होना चाहिए। जब शुभ वचन सुनाई देते हों तब गृहेश्वर को पत्नी, पुत्र, परिवार व प्रियजनों सहित गृह में प्रवेश करना चाहिए।

ग्रामाग्रहारपुरपत्तनादि प्रसङ्गके कर्त्तव्यमाह-

ग्रामाग्रहारपुरपत्तनकादिकानां
देयो बलिः कपदके च विदिक्षु दिक्षु।
शस्तौ चतुष्कसहिते सुरमन्दिरे च
श्रेष्ठे कजायनिलयेऽखिलदेवताभ्यः ॥ 36 ॥

(यदि) ग्राम, अग्रहार, पुर, पत्तन आदि में प्रवेश करना हो तो वास्तुचक्रानुसार ही देवताओं के पद, दिशा-विदिशाओं में, सभी देवताओं को ब्रह्मादि के पद में और देवालयों आदि में उचित बलि-तर्पण करना चाहिए।

इति मयमते वस्तुशास्त्रे गृहप्रवेशो नाम अष्टाविंशोऽध्यायः।

*****

उपस्कारक ग्रन्थ

अग्निपुराण : वेदव्यास, सम्पादक-अनुवादक- तारिणीश झा एवं घनश्याम त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 1998 ई.

अपराजितपृच्छा : भुवनदेवाचार्य, सम्पादक पोपटभाई अम्बाशङ्कर मन्कड, बड़ौदा ऑरियण्टल इंस्टीट्यूट, बडोदरा, 1950 ई. तथा इस पर डॉ. एल. मिश्र कृत आलोचनात्मक अध्ययन, लक्ष्मी प्रकाशन, इलाहाबाद 1994 ई.

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति : ईशानशिवगुरुदेव मिश्र, सम्पादक- टी. गणपति शास्त्री, अनन्तशयन ग्रन्थमाला, राजकीय मुद्रणालय, त्रिवेन्द्रम, 1920-25 ई.

काश्यपशिल्पम् : काश्यप मुनि विरचित, सम्पादक- श्रीकृष्ण शर्मा, आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1926 ई. तमिल अनुवाद : सरस्वती महल पुस्तकालय, तञ्जावुर, संस्करण 2005 ई. हिन्दी अनुवाद - डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू' (प्रकाशनाधीन)

क्षीरार्णव : विश्वकर्माकृत, सम्पादक- प्रभाशङ्कर ओघड़भाई सोमपुरा, गोरावाड़ी पालीताणा, 1967 ई.

ज्ञानप्रकाशदीपार्णव : विश्वकर्माकृत, सम्पादक- प्रभाशङ्कर ओघड़भाई सोमपुरा, (गुजराती अनुवाद) गोरावाड़ी, पालीताणा 1964 ई.

देवतामूर्तिप्रकरणम् : सूत्रधार मण्डन, सम्पादक- श्रीकृष्ण 'जुगनू', न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, चन्द्रावल दिल्ली, 2003 ई. परिशिष्ट में रूपमण्डनम्।

चित्रलक्षणम् : नग्नजित्विरचित, सम्पादक- डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू', चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, बनारस 2006 ई.

ज्योतिष्ररत्नमाला : श्रीपतिभट्टाचार्य प्रणीत, सम्पादक-व्याख्याकार श्रीकृष्ण 'जुगनू' परिमल पब्लिकेशंस, शक्तिनगर, दिल्ली 2004 ई.

तन्त्रसमुच्चय (सव्याख्या) : नारायणनम्बूदिरीपाद प्रणीतः शङ्करप्रणीत तथा विमर्शिन्याख्याया व्याख्या समेतः, संशोधक-सम्पादक टी. गणपति शास्त्री, राजकीय

मुद्रणालय, त्रिवेन्द्रम्, 1919 ई. प्रो. उन्नी के सम्पादन में पुनर्प्रकाशन- नाग पब्लिकेशंस, दिल्ली 1999 ई. तथा इसी के तृतीय शिल्पभाग का मलयालम अनुवाद, पञ्चाङ्गम् प्रेस एण्ड बुक सेलर, कुन्नामकुलम्, त्रिचूर, केरल, 2002 ई.

देवालयचन्द्रिका : अड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन (25) में के. वी. शर्मा द्वारा सपरिचय विमर्श, पृष्ठ 582-86 तक, 1961 ई.

नारदसंहिता : मुनि नारद भाषित सम्पादक- रामजन्म मिश्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण 2001 ई. तथा पण्डित वसतिराम ज्योतिर्विद कृत वि.सं. 1954 की भाषाटीका, खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बई, संस्करण 1999 ई.

प्रमाणमञ्जरी : सूत्रधार मल्ल कृत, सम्पादक- प्रियबाला शाह, बड़ौदा आरियण्टल सीरिज, बड़ौदा, 1958 ई. हिन्दी अनुवाद- श्रीकृष्ण जुगनू (प्रकाशनाधीन)

बृहत्संहिता : वराहमिहिर- भट्टोत्पलीयविवृत्ति सम्पादक सुधाकर द्विवेदी पुनर्संपादन कृष्णचन्द्र द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, बनारस, 1996, हिंदी अनुवाद अच्युतानन्द झा, चौखम्बा प्रकाशन, बनारस संस्करण 1997 ई. एवं **वाराहीसंहिता** नाम से पं. सुखानन्द मिश्र एवं पं. बलदेव मिश्र कृत अनुवाद, खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बई, संस्करण 2000 ई.

भविष्यपुराण : (अर्थमात्र) अनुवाद-संयोजक- महाप्रभुलाल गोस्वामी, गीताप्रेस गोरखपुर के कल्याण के 66वें वर्ष का विशेषाङ्क 1992 ई. मूलपाठ एवं टीका बाबूराम उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1995-2003 ई.

मत्स्यपुराण : वेदव्यास विरचित, गीताप्रेस गोरखपुर, कल्याण का विशेषाङ्क 1985 ई. पुनर्प्रकाशन 2005 ई.

मनुस्मृति : अनुवादक- गणेशदत्त पाठक, ठाकुरप्रसाद बुक सेलर, वाराणसी, संस्करण 1991 ई.

मनुष्यालयचन्द्रिका : नीलकण्ठ मूसत कृत, सम्पादक- टी. गणपति शास्त्री (मूलपाठ), अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थमाला, क्रमाङ्क- 56, राजकीय मुद्रणालय, त्रिवेन्द्रम्, 1917 ई., जर्नल ऑफ अन्नामलाई विश्वविद्यालय, अन्नामलाईनगर के भाग 4 अङ्क 2 में प्रारम्भिक अंश का अंग्रेजी अनुवाद- के. पी. पिशरोती और टी. बी. नागर; अंग्रेजी में इंजीनियरिंग टीका- डॉ. ए. अच्युतन तथा डॉ. बालगोपाल टी. एस. प्रभु, वास्तुविद्या प्रतिष्ठानम्, सारस्वतम्, किलीयानाड, कालिकट, 1998 ई. तथा मलयालम टीकाएँ-

नीलकण्ठन असरी के., एस. टी. रेड्डीयर एण्ड सन्स, क्यूलोन, 1987 ई.; पय्यानूर एन. केशवाचारी, आचार्य ग्रन्थालयम्, पय्यानूर, 1991 ई. तथा पण्डित राज कनिप्पयूर शङ्करन नम्बूदिरीपाद, पञ्चाङ्गम् पुस्तकशाला, कुन्नामकुलम्, 1993 ई.

मयमतम् : मयमुनि विरचित सम्पादक- टी. गणपतिशास्त्री, अनन्तशयन ग्रन्थावली, तिरुवनन्तपुरम् 1919 ई. हिन्दी अनुवाद- श्रीकृष्ण जुगनू (प्रकाशनाधीन)

मयशास्त्रम् : मयमुनिकृत, सम्पादक- फणीन्द्रनाथ बोस, इण्डोलॉजीकल बुक हाऊस, जवाहरनगर, दिल्ली, पुनर्प्रकाशित 1978 ई. एवं **तच्चुशास्त्रम्** नाम से मलयालम अनुवाद, पञ्चाङ्गम् प्रेस एण्ड बुक सेलर, कुन्नामकुलम्, त्रिचूर, केरल, 2002 ई. **मयदीपिका** तथा **मयसङ्ग्रह** का नामोल्लेख हेमाद्रि विरचित चतुर्वर्गचिन्तामणि के व्रतखण्ड में प्राप्य।

मानसार : मानमुनि विरचित, तृतीय भाग: सम्पादक -प्रसन्नकुमार आचार्य, ऑक्सफोर्ड यूनिवरर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1936 ई.; पुनर्मुद्रण- मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली, 1997 ई. तथा लॉ-प्राईस पब्लिकेशंस, दिल्ली 2002 ई.

मानववास्तुलक्षणम् : नारायण नम्बूदिरीपाद कृत, प्रसन्नकुमार आचार्य कृत मानसार के तृतीय भाग के परिशिष्ट 'ग' में खण्डित पाठ के रूप में प्रकाशित पृष्ठ 446-451 तक, संस्करण 1936ई. हिन्दी अनुवाद-श्रीकृष्ण 'जुगनू' (प्रकाशनाधीन)

मानसोल्लास अपरनाम अभिलषितार्थचिन्तामणि (द्वितीयभाग) : भूलोकमल्ल सोमेश्वर विरचित, सम्पादक- जी. के. श्रीगोण्डेकर, बड़ौदा ऑरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा 1939 ई.

राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् : सूत्रधारमण्डन कृत, सम्पादन व व्याख्या- डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू', परिमल पब्लिकेशंस, दिल्ली 2005 ई. *वास्तुराजराजवल्लभ* नाम से रामयत्न ओझा द्वारा सम्पादित, मास्टर खेलाड़ीलाल सङ्कटाप्रसाद, बनारस, 2000 ई.

वत्सुसारपयरणम् : (प्राकृत ग्रन्थ) ठक्कुरफेरू विरचित, रत्नपरीक्षादि सप्तग्रन्थ संग्रह में सङ्कलित, सम्पादक अगरचन्द नाहटा, भँवरलाल नाहटा, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर 1963 ई. तथा श्रीकृष्ण 'जुगनू' द्वारा पुनर्सम्पादित व अनूदित, (प्रकाशनाधीन)

वास्तुमञ्जरी : क्षेत्रार्कसूनु सूत्रधार नाथा भङ्गोरा विरचित, सम्पादक- श्रीकृष्ण 'जुगनू' चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, बनारस, 2006 ई.

वास्तुरत्नावली : जीवनाथ झा दैवज्ञकृत, टीकाकार अच्युतानन्द झा, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण 1981 ई.

वास्तुविद्या : विश्वकर्माकृत, के. महादेव शास्त्री कृत व्याख्या, अनन्तशयन ग्रन्थावली, त्रिवेन्द्रम द्वितीय संस्करण 1940 ई. हिन्दी अनुवाद : डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू', चौखम्बा विद्याभवन, बनारस 2006ई. एवं **वास्तुविद्या** के एक अन्य पाठ का सम्पादन एवं गुजराती टीका प्रभाशङ्कर ओघड़भाई सोमपुरा, पथिक सोसायटी, अहमदाबाद, 1977 ई.

वास्तुसारमण्डनम् : सूत्रधार मण्डन, सम्पादक- प्रभाशङ्कर ओघड़भाई सोमपुरा, पथिक सोसायटी, अहमदाबाद, 1977 ई. आयतत्त्वसहित समीक्षात्मक पाठ एवं अनुवादक- डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू', न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, न्यू चन्द्रावल, दिल्ली, 2005 ई.

वास्तुसौख्यम् : टोडरमल्ल विरचित, सम्पादक आचार्य कमलाकान्त शुक्ल, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, संस्करण 1999 ई.

विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् : विश्वकर्माभाषित, सम्पादक- के. वासुदेव शास्त्री, सरस्वती महल पुस्तकालय, तञ्जावुर, संस्करण 1999 ई.

विश्वकर्मापुराण : सम्पादक - डॉ. चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब बरेली, 1994 ई.

विश्वकर्माप्रकाश : विश्वकर्माकृत, अनुवादक- मिहिरचन्द्र, खेमराज कृष्णदास, मुम्बई, संस्करण 1998 ई.

विष्णुधर्मोत्तरमहापुराण : कृष्णद्वैपायनव्यासभाषित, सम्पादक- मधुसूदन माधवप्रसाद शर्मा, खेमराजकृष्णदास, वैंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई 1911 ई. पुनर्सम्पादन- नागशरणसिंह, नाग पब्लिकेशन, जवाहरनगर, दिल्ली, 1998 ई., तृतीयखण्ड : सम्पादक डॉ. प्रियबाला शाह, बड़ौदा ऑरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा 1958 ई.

वृक्षायुर्वेद : सुरपालमुनि प्रणीत, सम्पादक- डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू', चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस, बनारस, 2004 ई.

शतपथब्राह्मण : शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनीयां शाखामनुसृत्य, सायणाचार्यहरिस्वामी द्विवेदगङ्गकृतभाष्येभ्यः सारमुद्धृत्य, डॉ. अल्वेर्तन वेबरेण संशोधितम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1999 ई.

शिल्पदीपक : सूत्रधार गङ्गाधर प्रणीत, सम्पादक- डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू', चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, बनारस, 2005 ई.

शिल्परत्नम् : श्रीकुमार विरचित (पूर्वार्द्ध) सम्पादक- टी. गणपति शास्त्री, अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थमाला, क्रमाङ्क 56, राजकीय मुद्रणालय, त्रिवेन्द्रम्, 1917 ई. (उत्तरार्द्ध) सम्पादक के. साम्बशिव शास्त्री, अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थमाला, राजकीय मुद्रणालय, त्रिवेन्द्रम्, 1929 ई.

शिल्पशास्त्रम् : सम्पादक- फणीन्द्रनाथ बोस, लाहौर, 1917 ई. इण्डोलॉजीकल बुक हाऊस, जवाहरनगर, दिल्ली से पुनर्प्रकाशित 1978 ई. मूलयालम अनुवाद- सेतुमाधवन कोईथत्ता, पी. के. ब्रदर्स, कालिकट, 1996 ई. हिन्दी अनुवाद : श्रीकृष्ण 'जुगनू', चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी 2006ई.

शिल्पप्रकाश : रामचन्द्र कौलाचार, सम्पादक एलिस बोर्नर व एस. आर. शर्मा, लियेडेन, 1963 ई. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली से पुनर्प्रकाशित 2005 ई.

शिल्परत्नकोश : निरञ्जन महापात्र, बेट्टिना बोमर, राजेन्द्रप्रसाद दास, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1994 ई.

शुल्बसूत्रम् : कात्यायन, कर्क, महीधर भाष्य, जयकृष्णदास हरिदास गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी 1958 ई.

सकलाधिकारम् : अगस्त्य मुनि, सम्पादक के. वासुदेव शास्त्री, सरस्वती महल लाइब्रेरी, क्रमाङ्क 92, द्वितीय संस्करण 1996 ई. हिन्दी अनुवाद - श्रीकृष्ण 'जुगनू' (प्रकाशनाधीन)

समराङ्गणसूत्रधार : धाराधिपभोजदेवविरचितम् - सम्पादक टी. गणपति शास्त्री, गायकवाड संस्कृत ग्रन्थमाला, क्रमाङ्क-25, केन्द्रीय पुस्तकालय वडोदरा, 1929, प्रो. पुष्पेन्द्रकुमार की अंग्रेजी भूमिका के साथ मूलपाठ का पुनर्प्रकाशन, न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन, दिल्ली, 2000 ई. हिन्दी अनुवाद - श्रीकृष्ण 'जुगनू' (प्रकाशनाधीन)

सिद्धान्ततत्त्वविवेक : कमलाकर भट्ट, गङ्गाधर शर्माकृत वासनाभाष्य, वाराणसी, 1999 ई.

*****

श्लोकानुक्रमणिका

अ-

अत्युच्चेऽङ्घ्रौ तु 5, 27

अथोत्तरोच्चोच्चतदर्धतारां 5, 37

अधोर्गलं मातृकवाट 7, 19

अन्तर्नाहजमन्दिरे घन 7, 13

अन्तर्योनिर्मानपात्रादिवापी 3, 24

अन्तःसारास्तु वृक्षाः पनस 1, 25

अब्ध्यश्रं मञ्चकस्य 6, 21

अर्कादयो वामभुजस्थिताः 2, 30

अल्पवाजनयुतोत्तरे घने 5, 34

अल्पे धामनि बाह्यमेव 6, 1

अश्वत्थोऽग्निभयं करोति 1, 23

आ

आग्नेयखण्डं यमसञ्ज्ञितं 2, 9

आग्नेय्यां भवनस्य कूप 7, 38

आदौ चतुर्विंशतिसंमितैर्यो 3, 12

आयतचतुरश्रगृहे विकृति 6, 12

आयाधिक्यं व्ययतः 3, 32

आशाभास्करसूत्रभेदिनि 7, 22

आसीद् दैत्यः प्रद्दसो 2, 27

इ

इति विकृतिलुपानां 6, 19

इन्द्राशादिनतावनी 1, 19

इष्टातानवितानमाननिचये 3, 25

इष्टाद् दीर्घात् सर्वधाम्नां 4, 2

इष्टाधिष्ठानमाने नवभि 5, 16

ई

ईशाद्यं बहिरावृतिस्थ 2, 24

उ

उपपीठोच्चसमोच्चा 5, 6

उद्वेगः स्याद् धूमे शुनि 3, 29

उत्तरयुगबाह्यान्तो 3, 21

उत्तरविस्तारघने 5, 32

ऊ

ऊर्ध्वाधरभ्रमणकार्गल 7, 15

ऋ

ऋजुमञ्चख्यास्तुल्याः 6, 6

ए-

एकद्वित्रिककोणश्लेष 4, 14

एक एव यदि वाजनं 5, 33

एकजातितरुभिःप्रकल्पितं 7, 20
एकं कवाटं यदि वाम 7, 21
एकं वाजनमुत्तरस्य यदि 5, 28
एकं स्याद् यदि दक्षिणं 4, 27
एकविप्रवरागारतत्कुटुम्ब 3, 19
एकाङ्घ्र्यूनादिदण्डो 5, 39
एकाशीतिपदे प्रकल्प्य 2, 23
एकीकृत्य गणेशपङ्कज 2, 20
एवं क्षेत्रस्य मध्ये 2, 5
एवं त्रिधोक्तं गलमञ्च 5, 20
एवं निर्माप्य गेहं प्रथम 7, 44
एवं संश्लिष्टभिन्नालय 4, 17

क

कर्ता चाथ क्रियान्ते महित 7, 45
कवाटयुग्मं निजतीव्रयुक्त 7, 14
कारास्कराष्करकण्टक 1, 26
कार्तान्त्यां खलसद्म धान्य 7, 32
कार्या लुपाश्चोत्तरपट्टि 6, 7
कीलास्ते कूटसूत्रेष्वखिल 5, 38
कुड्ये भूयिष्ठविस्तारिणि 7, 12
कुर्यात् प्राङ्गणतो गमागम 7, 23
कुर्याद् गृहाय कृतवास्तुपदं 5, 1
कुर्यादुत्तरपट्टतोऽखिल 6, 3
कूटः कोटिलुपाग्रकल्पित 6, 9
कूपं शोभनमन्तरिक्ष पद 7, 37
केतुयोनिरभिवाञ्छिता 2, 27
केतूत्थं तुल्यताराततिजल 5, 5
केवलनाहेऽद्रिहृते त्रिघ्ने 3, 41
कोणगृहोत्तरयोगः सन्धि 4, 18
कोणेषु सर्वनिलयोत्तर 4, 21
क्वचिच्चतुःशालगृहे 4, 26
कृत्वा दिङ्नवनागवर्ग 7, 31
कृत्वाधिष्ठानमेवं दृढतर 5, 21
कृत्वा वेदाङ्गुलाब्ध्य 6, 24
क्षेत्रफले व्यययुक्ते 3, 42
क्षेत्रेऽत्यल्पे तु मध्येऽङ्गण 2, 18
क्षेत्रस्य कोणगतरज्जुम 7, 34
क्षेत्रस्यैशादिखण्डे नव 2, 13
क्ष्मां खात्वामघटं निधाय 1, 32

ग

गत्यङ्गुलानि निजदिग्व 5, 11
गर्तप्राङ्गणतारतोऽधिक 5, 4
गेहाधिष्ठानोच्चतुल्यो 5, 3
गेहे क्षेत्रफलं वितान 3, 37
गोमर्त्यैः फलपुष्पदुग्ध 1, 17
गोशालेन्द्रजलेश्यो 7, 33
ग्रामाद्यखिलं द्विजभवना 3, 20

च

चत्वारोऽत्र तु दिग्गृहाः 4, 10

चूली वा क्वचिदल्पमन्दिर 7, 1

ज-

जानीयात् स्थापनार्हं 1, 13

त

तत्पत्रमानमसमं च समं 5, 8

तत्सूत्रद्वितयेऽथ दिक्षु 2, 6

तत्र क्रमेण बहुधा धरणी 1, 16

तत्र सप्तदशभिर्यवैः 7, 6

तत्तद्त्तरविस्ताराह्णुपा 4, 3

तद्देवपादकमलैकसमा 1, 4

ता देवता वास्तुशरीर 2, 32

तालाद्यैः प्रतिमादिकं खलु 3, 14

तुल्यातानवितानङ्गण 4, 25

द

दण्डात् प्राङ्गणमध्यो 7, 24

दण्डान्तं समतीत्य 7, 43

दिक्कोणालयभेदकृन्ति 5, 12

दिग्गेहोत्तरपृष्ठसंहित 4, 15

दीर्घव्यासाद्यभावे 4, 19

देवेन्द्रांशिनि कुट्टिमे 5, 19

द्वारव्यासपयोधिबाण 7, 18

द्वारव्यासाब्धिबाणोर्म्य 7, 16

द्वाराण्यङ्गणगेहमध्य 7, 9

द्वारोर्ध्वपट्यूर्ध्वमथो गणेश 7, 11

द्विजभवनादिबहुत्वाद् 3, 15

द्वेधा योनिश्चतर्धा व्यय 3, 34

ध

धात्रीतलेऽब्ध्यंशिनि 2, 8

धुर्धूप्रसवोपमोऽष्टनृप 6, 10

ध्वजधूमसिंहकुक्कुरवृष 3, 26

ध्वजसूत्रस्योभयतो द्व्य 6, 23

न

नगरस्य सहस्रादि द्वि 3, 17

नन्दघ्ने परिधौ च 3, 40

नन्दद्वन्द्वपुटेन वा 2, 16

नवधेत्युदिताङ्गुलि 3, 11

नाड्यः प्रागुदगग्रगा 2, 21

नाहं केतुजमेवमत्र 4, 20

नाहाङ्घ्र्यंशेन दीर्घो 4, 6

नाहार्धे द्वादशाद्यैस्त्रिभि 4, 8

नाहार्धे शिवभक्ते 4, 9

निरङ्गसाङ्गादिविभिन्न 7, 41

निसर्गसंसिद्धसमस्त 1, 6

नीप्रव्यासे विभक्ते 7, 4

नीप्रव्यासे शरांशिन्यथ 7, 3

नृणां धामनि पादमान 5, 13

नृसिंहयादवाकारतेजो 1, 1

प

पत्रमानवशतोऽङ्गुल 7, 27

पत्रोत्तरे चेद् वितताङ्घ्रि 5, 30

पर्जन्यकोष्ठे च भृशे च 7, 25

पर्जन्ये पचनालयं 7, 35

पर्यन्तध्वजमादधीत 4, 22

पादाधिको मनुजसद्मनि 4, 7

पादुकयुगलावधिको 3, 22

पार्श्वप्राप्तलुपाग्रयोग 6, 8

पुरमिति नरवरभवन 3, 18

पूर्वस्यां वकुलो वटश्च 1, 22

पूर्वं त्रिघ्नचतुर्दशाप्त 3, 38

पूर्वापरेद्युः प्रभवाङ्क 2, 4

प्रवासदा मध्यनता 1, 20

प्राक्पाश्चात्यविहीनके 4, 29

प्राक्शालारहितं 4, 28

प्रागादि क्रमशः स्याद् 2, 12

प्राग्वत् प्राङ्गणपत्रमान 4, 24

प्राग्वोदक्पदभास्करांश 2, 22

प्राचीनेऽग्निसमर्चनादिक 7, 30

प्राच्यां केतुर्विधेयः स तु 3, 30

प्राजापत्यं च वैदेहं 3, 6

प्रायः सर्वलुपाघनोन्मित 6, 11

प्राहुर्गेहचतुष्कपादुक 5, 9

ब

बाणांशिन्यखिलोत्तर तु 5, 35

बालत्वं कौमारं यौवन 3, 33

ब्रह्मा मध्यपदेऽथ शर्व 2, 26

भ

भक्तेऽस्मिन् पादमाने 5, 14

भिन्नाभिन्नवशाद् द्विधैव 4, 11

भूगर्ते जलपूरितेऽत्र 1, 33

भूपादिवर्णनियमेन यमो 2, 10

भूयः पुष्पादिदंतं वरुण 2, 25

भूसुरकार्ये निलये 3, 5

म

मर्त्यो विप्रादिवर्णेष्विह 1, 9

मध्योच्चायां धरित्र्यां 1, 21

मनुयवचतुरश्रं द्व्यङ्गुल 7, 5

मयमतयुगलं प्रयोगमञ्जर्यपि 1, 7

महीधरार्यौ कुचयो 2, 31

माता वामगता कवाट 7, 17

मात्राख्याङ्गुलिपञ्चविंशति 3, 2

मानाद् बाह्यान्निजेष्टाद् 4, 23

मार्कण्डेययुगं पराशर 1, 8

मासूरमानानि चतुर्दशैवं 5, 15

मित्रे दक्षिणपश्चिमे 4, 13

मिथः समस्तेष्वपि 2, 14

मीने कूपमतीव मुख्य 7, 36
मुखसहितायतभवने 6, 14
मूर्ध्नीशोऽस्य तु संस्थितो 2, 29
मूलप्रदेशविलसत्कबली 6, 15

य

यद्वा कपोतवलभी 5, 40
यन्त्रेणावनतादिना च 2, 1
यवोदरैरष्टाभिरुन्मितं 3, 9
यानाङ्गादिषु केतुरेव 3, 23
यावत् कल्पितभङ्गणं 2, 17
यावत् प्राङ्गणदैर्ध्यमान 2, 19
युग्मास्तुला: स्तम्भ 7, 29
येषां श्रुतिप्रणयिनी धिषणा 1, 5
योगादङ्‌घ्र्यग्रिभागाधिक 7, 10
योजनमितचतुरश्रं भूभागं 3, 16
योनि: प्राणा एव धाम्नां 3, 31

र

रक्षाशोभौच्छ्रयार्थं सकल 5, 2
रसांशिते वाञ्छितकुट्टि 5, 17
राज्ञां धामनि भूसुरस्थिति 7, 39

ल

लक्षणहीने धामनि वसताम् 1, 15
लम्बोऽयं विहितादध 6, 4
लोष्टैराच्छाद्यते चेदखिल 7, 7

व

वंशाग्रमूलशिखया यदि 6, 13
विना स्थापत्यादिचतुष्टयेन 1, 14
विन्यस्येत् पादपीठं 5, 22
विप्रादिक्रमत: कुशेषुवन 1, 29
विप्राणां भूरवागुन्नतधन 1, 30
विष्कम्भपादं तु तदङ्ग 6, 2
विष्णो: पृष्ठे च वामे 1, 27
विस्तारेण धनेन वापि 6, 5
विस्तारे पुनरुत्तरस्य 7, 2
वीथीविस्तृतिकल्पनासु 2, 15
व्रीहिक्षेत्रादिदेवालय 1, 28
वृत्तादयस्ते चरणास्त्रयो 2, 26
वृत्तार्धेन्दुनिभा त्रिपञ्चरस 1, 18
वेदागमादिविहितान्य 1, 10
वैदेहं नवविंशतिप्रति 3, 4
व्यासेऽङ्घ्रांशिन्यधोऽब्धि 6, 22

श

शङ्कुच्छायाग्रभागे त्ववहित 2, 3
शङ्कुदीर्घयुगसम्मित 2, 2
शालास्त्वन्योन्यभिन्ना 4, 12
शिम्बि: साष्टतिलैर्यवोदर 3,1
शिर:प्रदेशस्त्वभिधान 7, 8
श्रीमङ्गलास्पदसदाश्रय 1, 3
श्रीमत्कुण्डपुरे विराजति 1, 2

ष

षड्ढस्तादिनिजेष्टदीर्घकर 4, 4

षाष्टिकशाल्युदरैरप्यष्टाद्य 3, 10

स

सङ्कीर्णरूपा वसुधात्र 1, 31

सङ्ख्या: कोट्युपकोटिका 6, 18

सम्प्रोक्ताङ्गुलि सप्तविंशति 3, 3

समस्तगेहाङ्गणकूपवापी 2, 14

सर्वत्रापि च कोणगेह 4, 16

सर्वत्रेष्टाब्ध्यश्रे तिर्यगध: 6, 16

सर्वत्रोत्तरतारतुल्य 6, 20

सर्वत्रोत्तरबाह्यपार्श्वविहिता 5, 7

सर्वव्याप्तेऽप्यमुष्मिन्नतनु 2, 28

सर्वशास्त्रविहितक्रिया 1, 12

सर्वागारे प्रधानोत्तर 3, 36

सामान्यं परिणाहत: 3, 35

सायकांशिनि तु कुट्टिमो 5, 18

सिंहो दक्षिणदिक्स्थित: 3, 28

सुरालये समस्तान्यप्यभीष्टानि 3, 8

सुश्लक्ष्णे फलकातले 6, 17

सूत्रस्य रज्जोरपि चाग्र 2, 11

सूत्रै: प्राङ्गणगेहमध्य 5, 10

सूत्रे प्रागुदगग्रके क्षिति 2, 7

सेवितकुलदैवतधामेश 7, 40

सौख्यार्थं धरणीभृतां 7, 42

सौमुख्यासौम्यत्वे विरोध 3, 43

स्तम्भमूर्धनि निधाय 5, 36

स्तम्भाग्रोत्तरतारयोगदल 5, 29

स्तम्भाधस्तारभेदप्रकथन 5, 31

स्तम्भाधस्तारतो वोच्छ्रय 7, 26

स्तम्भा: स्वविस्तारहुताश 5, 23

स्तम्भास्तन्मूलतारश्रुति 5, 25

स्तम्भोच्चाब्धीषुषड्भूधर 5, 24

स्थपति: सूत्रग्राही तक्षक 1, 11

स्थाप्या मन्दिरपार्श्वपृष्ठ 1, 24

स्वत्र्यंशेन युते तथेक्षण 3, 39

स्वद्रव्यैरेव वेदीरिह 7, 28

स्वस्वोक्तमानादुपरि 3, 7

स्वाभीष्टदीर्घहस्ते द्विघ्न 4, 5

स्वाभीष्टालयदीर्घमङ्गण 4, 1

ह

हस्तेनैव गृहाद्यमुक्तमुदितं 3, 13

*****

पारिभाषिक शब्दावली

(अकरादिक्रमानुसार)

GLOSSARY OF TERMS

Abdhyasra (अब्दश्र) : Square.

Abja (अब्ज) : A lotus.

Acarya (आचार्य) : Learned preceptor; advisor to the owner and sthapti on matters relating to vastusthapana.

Achala Sopan (अचल सोपान) : A flight of stationary or immorble steps.

Adhisthana (अधिष्ठान) : Basement of a building.

Adhama (अधम) : Least; minimum.

Adhomula (अधोमूल) : Bottom down as opposed to urdhwamulam bottom up.

Agama (आगम) : Literature relating to the system of worshiping gods in iconic form; generally agamas refer to Saiva worship, samhita to Vaisnava and tantra to sakti worships.

Agni (अग्नि) : Fire god; regent to south east direction; also manifested as sikhi in the north east direction.

Agra (अग्र) : Front; top.

Ajayuddhasandhi (अजयुद्धसन्धि) : Goat fight joint, similar to the scarfed joint.

Aksh (अक्ष) : The base of coloumn, the eye, a die.

Alinda (अलिन्द): Terrace, Balcony, Corridor; verandah; passage; Gallary.

Alpaksetra (अल्पक्षेत्र) : Small plot generally of width less than 32 hasta.

Angula (अङ्गुल) : A finger, a finger- breadth; Linear measurement equal to 1/64 of vyama; also equal to 8 yava; standard angula is 3cm.

Ankana (आङ्कन/आङ्गन) : Courtyard. Bahyankana: outer yard; Madhyankana: central yard; Gartankana : depressed yard.

Antaral (अन्तराल) : Cupola.

Apidhana (अपिधान) : Top plank of the roof placed above the ridge to blind the joints with the rafter; also known as avasanaphalaka.

Arama (अरमा) : Vertical piece of the door latch through the cut of which the horizontal pieces called argala slide.

Ardhadhika (अर्द्धाधिक) : Ratios of length to width which are obtained by adding 1/2 to integers eg. 1½, 2½ etc

Argala (अर्गला) : A bolt or pin for fastening a door.

Arudhothara (अरुधोत्तर) : Additional horizontal support for the rafters between wall plate and ridge; elevated uttara, similar to purlin.

Avalamban (अवलम्बन) : -Pendant, Plinth of a railing.

Avanata (अवनत) : A-shaped frame used for checking levels of ground or floors.

Avayava (अवयव) : Limb; element.

Acchadan (आच्छादन) : Canopy.

Ayana (अयन) : The apparent movement of the sun from tropic of capricorn to tropic of Cancer and back over one year; The former is uttarayana (north ward movement) and the latter is daksinayana(southerly movement).

Aya (आय) : One of the six varga formula for ascertaining

the right propotion of measurment; Income; The first of the six acnons known as ayadisadvarga; others being vyaya (expenditure) , ṅaksatra (star) tithi (phase of the moon) vara (week), vayas (age).

Ayama (आयाम) : Elongation; the frontal elongation is called mukhayama.

Bahupamsu (बहुपांशु) : Excess soil.

Balakuta (बालकूट) : Additional, decorative pendent.

Bramhansh (ब्रह्मांश/ब्रह्मस्थान) : The central part of a building.

Bhinna (भिन्न) : Separate.

Bharak (भारक/भारतुला) : Support; Beam.

Bhitti (भित्ति) : Wall, a partition, a support.

Bhuja (भुज) : Base of triangle. koti is the altitude of a right angled triangle. Karna is the hypotenuse.

Bhumi (भूमि) : Earth; land; one of the classifications of vastu.

Bhuparikshai (भूपरीक्षा) : Testing the site and soil where a building is constructed.

Bindu (बिन्दू) : Point; a mandala of 0*0 grid; also refered as nabhi, the focus of mandala.

Bharamanaka (भारमानक) : Pinion and socket hinge.

Carana (चरण) : Pillar.

Caturasrikarana (चतुरस्रीकरण) : Squaring the plot.

Catussala (चतुश्शाला) : A combination of four ekasalas with or without the corner aslas; a structure with halls on four sides around a central courtyard.

Citra (चित्र) : Painting; also used to dnote all depictions including relief and sculptre.

Culi (चूली) : Bressumer, or beam supported on columns.

Danda (दण्ड) : Linear measurement equal to 4 hasta pr 96 angula; also called purusadanda; the unit or module in the proportional system of measurement; literally danda means a rod, similar to the ranging rod used in modern survey.

Dhanalaya (धनालय) : Treasury, store for valuables.

Dhanurgraha (धनुर्ग्रह) : Hasta measure of length equal to 27 standard uttamangula.

Dhanurmusti (धनुर्मुष्टी) : Hasta measure of length equal to 26 standard uttamangula.

Dhanyabhavana (धान्यभवन) : Barn.

Dhavajarekha (ध्वजरेखा) : Pitch line; reference line on a rafter.

Dhyanasloka (ध्यानश्लोक) : Meditational chanting generally depicting the characteristic features of the deity; basis for painting and sculpture.

Dingnirnaya (दिङ्निर्णय) : Fixing the cardinal direction; see also sankusthapana, dik (4 cardinal directions) vidik (corner directions).

Dik (दिक्) : Cardinal directions - 4 in number; see vidik for other direction.

Dipamala (दीपमाला) : Rows of oil lamps fixed on the exterior of temple walls of on special wooden framed structure (vilakkumatam) beyond the wall.

Druhina (द्रुहिण) : Brahama; supreme creator.

Dwarshakha (द्वारशाखा) : Doorlintel, Door frame, Jamb, Door post.

Dvisala (द्विशाला) : A combination of two ekasalas -6 possibilities exist.

Ekasala (एकशाला) : Unitary building, put up in any one cardinal direction with reference to the central point Brahmanabhi of a vastu; it gets its name depending on its position in relation to this point eg. purvasala, dakasinasala, pascimasala and uttarasala respectively located to the E, S, W and N of this focus.

Gala (गल/गला) : Neck of recess in a basement; also refers to the recess above the prastara (entablature) of a building and sikhara (roof) portion.

Galamancaka (गलमञ्चक) : Specific pattern of moulding of basement with a neck (gala).

Gamana (गमन) : Shift; offset.

Ganita (गणित) : Square mandala of 19×19 grid; mathematics; computation.

Garbhagrha (गर्भगृह) : The sanctum sanctorum; the womb chamber.

Gopura (गोपुर) : Gate, tower; also Monumental Gateway of Dravadian temple, Main entrance of Dravadian temple.

Grama (ग्राम) : Village settlements; large gramas are called mahagramas; other types of rural settlements are khetaka, kharvataka; smaller villages are also of vidambaka, nigama, and agrahara categories.

Grihamukha (गृहमुख) : Facade.

Grihaprevesa (गृहप्रवेश) : First intrance in the house.

Grihavinyas (गृहविन्यास/पदविन्यास) : Location of various rooms in houses, temples, place, plan of a house.

Griva (ग्रीवा) : Neck of building.

Gunamsa (गुणांश) : Fraction; the rule according to which the semiperimeter of a rectangle is divided by integers from 9 to 32 and 4 parts are taken for width and the rest for length.

Harmya (हर्म्य) : Building; harmyadivastu means building for different activities.

Hasta (हस्त) : Anthropometric linear measurement equal to length of arm; the standard and most commonly used hasta is 24 angula and is called kisku; 8 measurements of hastas varying from 24 angula and is called kisku; 8 measurements of hastas varying from 24 angula to 31 angula with variations of 1 angula are known by different names; the other words for hasta are kara, bhuja, aratni, dormana, kol (Mal.).

Istadirgha (इष्टदीर्घ) : Desired length; selected length.

Istadevata (इष्टदेवता) : Deity of one's choice.

Istika (इष्टिका, ईंट) : Brick.

Jagati (जगती) : The vertical part of basement above paduka.

Jalagar (जलागार, जलाश्रय) : Tank. Sacres pool.

Janaka (जनक) : Creator or origin; that which is derived is janya.

Jayanti (जयन्ती) : Cross beams.

Kalasadma (कालसद्म) : Farm house.

Kalari (कलारी) : Training place.

Kalka (कल्क) : A paste used as plaster or cement, also called 'yoga'.

Kanda (कन्द) : The shaft of the column; the portion between base and capital.

Kapota (कपोत) : The projecting portion of entablature with an S shape; A pigeon, a section or circular moulding made in the form of a peigeon's head.

Karnapramana (कर्णप्रमाण) : Pramana or reference measurement.

Karna (कर्ण) : A moulding, any side object, a corner tower.

Karnavedha (कर्णवेध) : The affliction of any reference line of part of the building with a diagonal in the mandala.

Kavata (कवाट/किंवाड़) : Leaf or pnael of the door.

Kilika (कीलिका, कील) : Nail.

Khanada (खण्ड) : Sector.

Kisku (किष्कु) : A measure, standard hasta equal to 24 uttamangula; 72cm.

Koti (कोटि) : Diagonal (obique line); also the hip rafter.

Ksetra (क्षेत्र) : Plot of land, alpaksetra is small plot or small temple, Ksetravastu, architecture of temples.

Kumbha (कुम्भ) : Vase.

Kumuda (कुमुद) : The part of the basement above jagati with octagonal or circular section; Convex moulding or trans moulding or Torus moulding; also water lily.

Kuta (कूट): Pendant; solid wooden piece to which the top ends of all the rafters of a kostha type of roof or the top ends of slarting rafters and the end of ridge piece of a sabha type of roof are connected.

Laksmi (लक्ष्मी) : Goddess of wealth and prosperity. According to Visnudhamottara- Laksmi is described as the mother of the whole world and the wife of Vishnu. Laksmi when depiced near Hari has two hands. She has celestial beauty. She carries lotus in her hand and she is adorned with all sorts of ornaments. Her colour is white(gaura) and wears a white garment. She is matchless in beauty (Ad 82).

Lupa (लुपा) : Rafter; kotilupa is hip rafter; rjulupa or prakrtilupa is Straight rafter, upakotilupa is the inclined rafter other than hip rafter, also known as vikrtilupa; lupalamba is drop of the rafter, also known as vikrtilupa; lupalamba is drop of the rafter from the wall plate.

Madhyapraruddha (मध्यप्ररुद्ध) : System of center line measurement of uttara.

Mallikakuttima (मल्लिकाकुट्टिम) : Platform for the jasmine plant.

Mana (मान) : Measurement; specifically the horizontal measurement; mana is divided into pramana the measurement of width, diameter etc. and parimana the measurement of circumference or perimeter.

Manangula (मानाङ्गुल) : The standardised measure of angula, by equating it to the grain size-6 7 or 8 in number denoting the minimum, median or maximum width, adhama, madhyama and uttama, angulas are obtained.

Mancaka (मञ्चक) : Specific pattern of horizontal moulding of basement.

Mandala (मण्डल) : Demarkated area; generally of circular shape but also used to describe any area defined by a perimeter, regular or irregular.

Mandapa (मण्डप) : Pavilion.

Mangalaphalaka (मङ्गलफलक) : Ornamental decorative plank between the door head and wall plate.

Manusyapramana (मनुष्यप्रमाण) : Anthropometric standard; measurement system based on the size and propertions of human body.

Marma (मर्म) : Intersection of orthogonal and diagonal lines of a grid;vulnerable point; nodes.

Marmavedha (मर्मवेध) : Intersection with vulnerable points,

Masura (मसूर) : Synonym of adhisthana.

Matrangula (मात्राङ्गुल) : Measurement of angula related to the body measure, varies with ethnic groups.

Musti (मुष्टि) : Fist, a measure of 3 angulam; also known as parva.

Nadi (नाडी) : Orthogonal line in a mandala; also refered as sira.

Nadika (नाडिका) : 1/60 of a day i.e. 24 minutes; also the distance that can be covered in 1 nadika by walking whichis 1000 danda.

Nagara (नगर): Town; capital towns are called rajadhani, commercial forms are pattanas, harbour town are dronimukha. Forts are durgas.

Naksatra (नक्षत्र/र्क्ष) : Star any one of the 27 constellations in the sky.

Nimitta (निमित्त) : Cause; omen.

Nivra (नीव्र) : Eave; nivraphalaka is eave-reaper.

Oma (ओमा) : Base or padapidtha of the column.

Pada (पद) : Square cell, also cell of any shape in a mandala Padavinyasa is analysis by dividing the area into cells by means of grids linear measurement equal to 8 angula or 1/8 of vyama.

Padadevatas (पददेवता) : The deities presiding over the cells of a mandala; ; there are 45 padadevatas inside the mandala and 8 outside.

Padadhika (पादाधिक) : Ratios of length to width which are obtained by adding 1/4 to integers.

Padamana (पदमान) : The height between the top of foundation to the bottom of wall plate.

Padayoni (पादयोनि) : A rule for proprotioning rectangle, or determining the right dimension of linear elements to satisfy the yoni rule.

Padona (पादोन) : Ratios of length to width which are obtained by subtracting 1/4 from intergers above 1.

Paduka (पादुका) : Ground course; the lowest course of the basement.

Paksa (पक्ष) : 15 days denoting the lunar phases of waxing and waning of moon; waxing phase is suklapaksa and waning phase is krsnapaksa.

Pancaprakara (पञ्चप्रकार) : The five defined boundaries of temple.

Paramanu (परमाणु) : The smallest linear measurement equal to the diameter of the minute aerosol seen in a dark room when sun's rays creep into it through crevices; 8^{-6} of 1 angula.

Paramasayimandala (परमशायिमण्डल) : Square mandala of 9×9 grid divisions.

Parva (पर्व) : Linear measurement equal to 3 angula; 1/8 part of Hasta, also known as musti.

Paryantasutra (पर्यन्तसूत्र) : Bounding Perimeters.

Patramana (पत्रमान) : The horizontal distance from outside of uttara to the outside of the basement; offset of plinth from the plane of uttara.

Patta (पट्ट) : belt; also patti.

Pitha (पीठ) : seat; elevated square seat; also a square mandala of 3×3 grid.

Potika (पोतिका) : Same as bodhika, decorated bracket of pillar.

Pracya (प्राच्य) : Hasta measure of length equal to 28 standard uttamangula.

Prajapatya (प्राजापत्य) : Hasta measure of length equal to 25 standard uttamangula.

Prakara (प्राकार) : Boundary; boundary wall classically 5 in number viz- antarmandala, antahara, madhyahara, bahyahara,

and maryada. starting from the inner altar line to outer wall of temple; same as pancaprakara or pancakosthi; in Vaisnavism, the prakaras are 7 with madhyamaryada and mahamaryada added.

Prakirna (प्रकीर्ण) : Hasta measure of length equal to 31 standard uttamangula.

Prasada (प्रासाद) : That which is pleasing; large building like temple, palaces etc; the word is also used to denote the vimana of temple.

Prasadavastu (प्रासादवास्तु) : Temples, palaces or any symbolic building; literally means a vastu (artfact) which pleases the mind of the on-looker or user.

Prati :(प्रति) Stereobate, the topmost course of plinth.

Puccha (पुच्छ) : Tail, rear.

Purusanjali (पुरुषाञ्जलि) : Reach of standard purusa; 10 pada; 80 angula.

Rajju (रज्जु) : Rope; also diagonal in mandala.

Randhra (रन्ध्र) : Hole, mortice.

Rasi (राशि) : Stellar constellation; 12 numbers from Aries(mesa), to pisces(mina).

Sala (शाला) : Rectangular hall with gable roof.

Samatata (समतात्) : A rectangle with length equal to an integer multiple of its width.

Samhita (संहिता) : Compilation (e.g. Brhtsamhita, Marichi, Vashistha, Narad, Harisamhita); a generic name for Vaisnava agamas, also Tantrik traditional treatise.

Samikarana (समीकरण) : Levelling operation.

Sandhipala (सन्धिपाल) : Reaper placed to conceal the gaps between the door panels.

Sanku (शङ्कु) : Gnomon; pole; Sankusthapana; fixing gnomon for marking the centre of the vastu and/or finding the cardinal directions.

Santikarma (शान्तिकर्म) : The traditional rites to propitiate the deities in mandala; also refered to as vastupuja.

Sargaprakriya (सर्गप्रक्रिया) : Job of creation.

Sayana (सायन) : Literally means a couch or bed stead, but is used to denote all furniture.

Silakarm (शिलाकर्म) : Masonry; the art of building in stone.

Silastamba (शिलास्तम्भ) : Stone column or Pillar.

Silpasastra (शिल्पशास्त्र) : Science of sculpture; iconography.

Silpin (शिल्पिन) : Building craftsmen generally divided into 4 divisions; sthapati, sutragrahi, vardhaki and taksaka.

Slista (श्लिष्ट) : Combind.

Sthapaka (स्थापक) : One who establishes or builds. Sthapana is the act of building.

Sthapati (स्थपति) : The architect-engineer of master builder occupying the highest position among the 4 division of silpins; one who is empowered to design and build a vastu (sthapanarhah sthapatih).

Sthapatyaveda (स्थापत्यवेद) : Upaveda of Atharvaveda dealing with building science.

Sutra (सूत्र) : Thread line; sutravistara is thickness of line; sutra also means formula, theory etc.

Sutragrahi (सूत्रग्राही) : One of the four tiers of silpins; superviser of works;literally means 'one who holds the thred'(for measurement).

Taksaka (तक्षक) : One of the four divisions of silpins; shapes the building components; literally taksaka means 'one who reduces.

Tala (ताल) : Palm of the hand; modular unit of dimension in iconogrphy in terms of face length which is equal to length of palm; talamana is the proportionate system of measurement using tala as a module.

Tantra (तन्त्र) : Ritualistic practice generally related to worship of sakti; applied knowledge.

Tejas (तेजस) : Lustre; splendour, energy.

Tila (तिल) : The diameter of the til oil seed; 1/64 of angula; 0.47mm.

Tiryak (तिर्यक्) : Cross wise(placing of members).

Trisala (त्रिशाला) : A combitnation of 3 ekasalas.

Tulapada (तुलपाद) : Projecting end of joist.

Ubharankan (उभराङ्कन) : Engraving.

Upan (उपान) : Pedestal, Rectangular moulding, Fillet.

Upanaha (उपानह) : Course below the paduka, shose.

Upapitha (उपपीठ): Course or platform below the basement; Upper pedestal of a temple.

Urdhvapatti (ऊर्ध्वपट्टी) : Lintel; plank kept above the door frame to support the mesonry portion above it.

Uttama (उत्तम) : Best maximum.

Uttamanga (उत्तमाङ्ग) : Head.

Uttara (उत्तर) : North; also wall plate, categorised as khandottara, pattrottara, rupottara; kshudrottara is purlin supporting the roof and bearing on the uttara; ankanottara is purlin at the eave.

Utthana (उत्तान) : Face up position.

Vaideha (वैदेह) : Hasta measure of length equal to 29 standard uttamangula.

Vaipulya (वैपुल्य) : Hasta measurement of length equal to 30 standard uttamangula.

Vajana (वाजन) : Fillet; projection from the vertical plane; wing-like treatment on basement, walls or roof elements; derived from vaji, meaning horse.

Vajra (वज्र) : Bent, Curved.

Vajralep (वज्रलेप/चिक्कण) : Pilaster, also called 'yoga'.

Valabhi (वलभी) : Decorative moulding fro beams, door frames etc.

Vamsa (वंश) : Ridge to which all rafters join; literally mean clan; also called agradhani.

Vapra (वप्र) : Rampart; wall; Plinth; Moulding of the base.

Vardhaki (वर्धकी) : One of the 4 divisions of silpins who assembles the different building componets; literally vardhaki means 'one who increases or joins.

Varna (वर्ण) : Class of people, the four classes being brahamana, ksatriya, vaisya and sudra; also colour.

Vastu (वास्तु) : Dwelling place; derived from the Samskrt word vas meaning "to dwell".

Vastumandala (वास्तुमण्डल) : Specified region for the planning of building and other artefacts.

Vastupurusa (वास्तुपुरुष) : The mythological being which is belived to occupy all Vastumandala. The symbolic figure of a man overlaid or depicted on vastu.

Vastupurusamandala (वास्तुपुरुषमण्डल) : The Vastumandala with the figure of Vastupurusa superimposed on it indicating the position of padadevatas.

Vastusastra (वास्तुशास्त्र) : The prescriptions for building; generally, the term is used to denote traditional Indian building technology.

Vastuvidya (वास्तुविद्या) : The knowledge of building science; the term is used to denote traditional Indian architecture; a book.

Vastusthapana (वास्तुस्थापना) : Design and construction of vastu.

Vayu (वायु) : God of wind; regent of norht-west direction, also called anala.

Vedha (वेध) : Intersection; affliction.

Vedi (वेदी) : Plateform.

Vidik (विधिक) : Corner direction, generally inclined at 45^0 the cardinal directions: Analysis is taken up to 32 divisions of a circle.

Vimana (विमान) : Structure of the sanctum snctorum; vehicle used for the procession of deities; literally means that which is measured proportionately.

Viskambha (विष्कम्भ) : Intermediate beam in a roof section; viskambhapada is the strut supporting viskambha.

Vitanarekha (वितानरेखा) : horizantal line, used to denote the sloping width of a rafter.

Vithi (वीथी) : Path; enveloping shell; vastumandala is generally divided into 4 vithis but in an 18×18 grid, 9 vithis are given as in Manusyalayachandrika.

Vrksa (वृक्ष) : Tree; it include all plants; classified traditionally into antassara, (hard core inside), sarvasara(hard wood thoughout), bahissara (hard wood outside) and nissara (hard wood nowhere).

Vyama (व्याम) : Anthropometric measure between the tips of the middle fingers with hands outstretched to two sides; 8 pada or 64 angula.

Yajamana (यजमान) : Owner of building; patron; one who leads yajna.

Yana (यान) Vehicle used for travel, A conveyance.

Yama-surya (यमसूर्य) : A type of building, as Brihatsamhita, a house with western and northern hall.

Yava (यव) : Grain of barley; a linear measurement equal to 1/8 of angula, approximately 3.75mm; yavodara is widthof yava.

Yupa-Stambh (यूप-स्तम्भ) : The sacrifical pillar.

Yojana (योजन) : Linear measurement equal to 1000 rajju or 8000 danda.

Yoni (योनि) : Architectural formula for orientation; literally yoni means 'origin'.

*****

ग्रंथोक्त विषय से सम्बन्धित चित्र

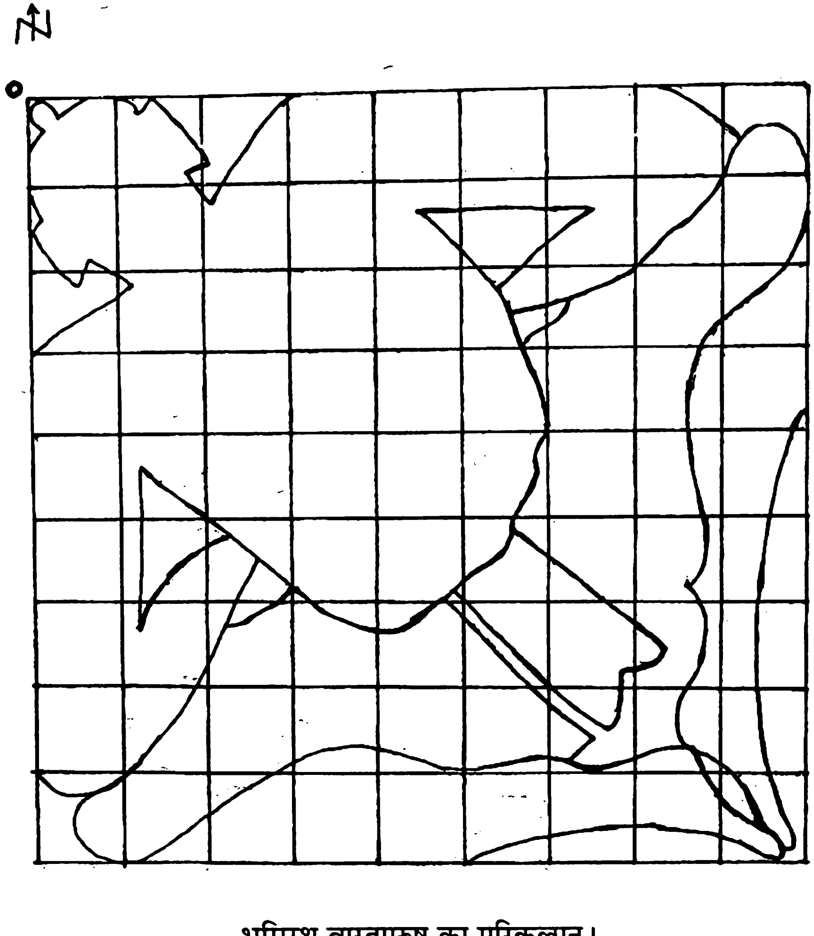

भूमिस्थ वास्तुपुरुष का परिकल्पन।

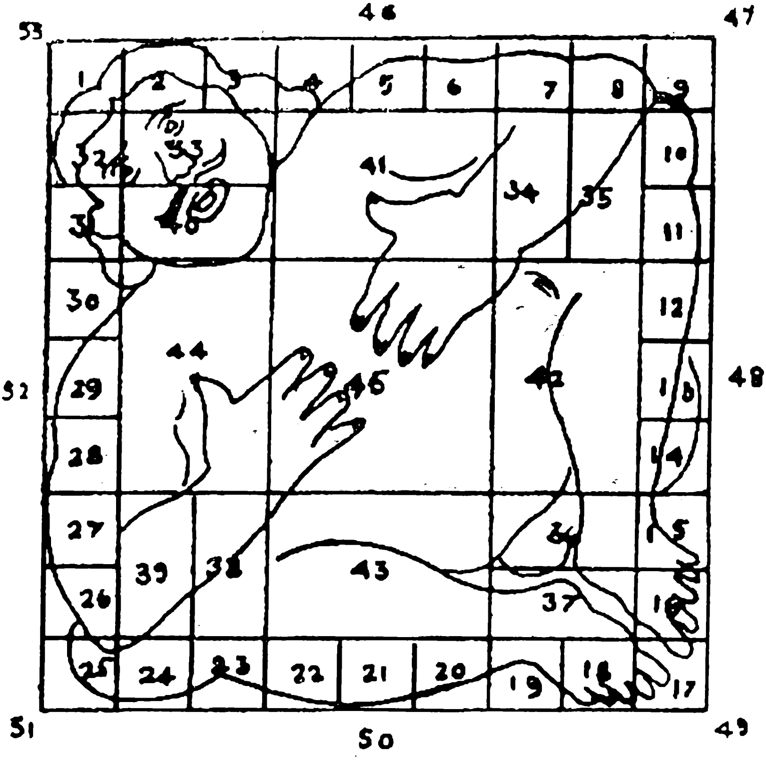

– वास्तुपुरुषानुसार यमसूत्र एवं कर्णसूत्रानुसार बाह्यपद के देवता क्रमश: 1. ईशान 2. पर्जन्य 3. जयन्त 4. इन्द्र 5. आदित्य 6. सत्यक 7. भृश 8. अन्तरिक्ष 9. अग्नि 10. पूषा 11. वितथ 12. गृहक्षत 13. यम 14. गन्धर्व 15. भृङ्ग 16. मृग (मृष) 17. नैर्ऋति 18. द्वारपाल (दौवारिक) 19. सुग्रीव 20. पुष्पदन्त 21. वरुण 22. असुर 23. शोष 24. रोग 25. वायु 26. नाग 27. मुख्य 28. भल्लाट 29. सोम 30. उरग (मृग) 31. अदिति 32. दिति। आन्तरिक पद के देवता 33. आप 34. आपवत्स 35. आर्यक 36, सविता 37. सावित्र 38. विवस्वान् 39. इन्द्र 40. इन्द्रजित् 41. मित्रक 42. रुद्र 43. रुद्रजित् 44. भूभृत (पृथ्वीधर) 45. ब्रह्मा (द्रुहिण)। अन्य क्षेत्रीय देवी-देवता 46. सर्वस्कन्द 47. अर्यमा 48. जृम्भक 49. पिलिपिच्छा 50. पापयक्ष्मा 51. चरकी 52. विदारी एवं 53. पूतनिका।

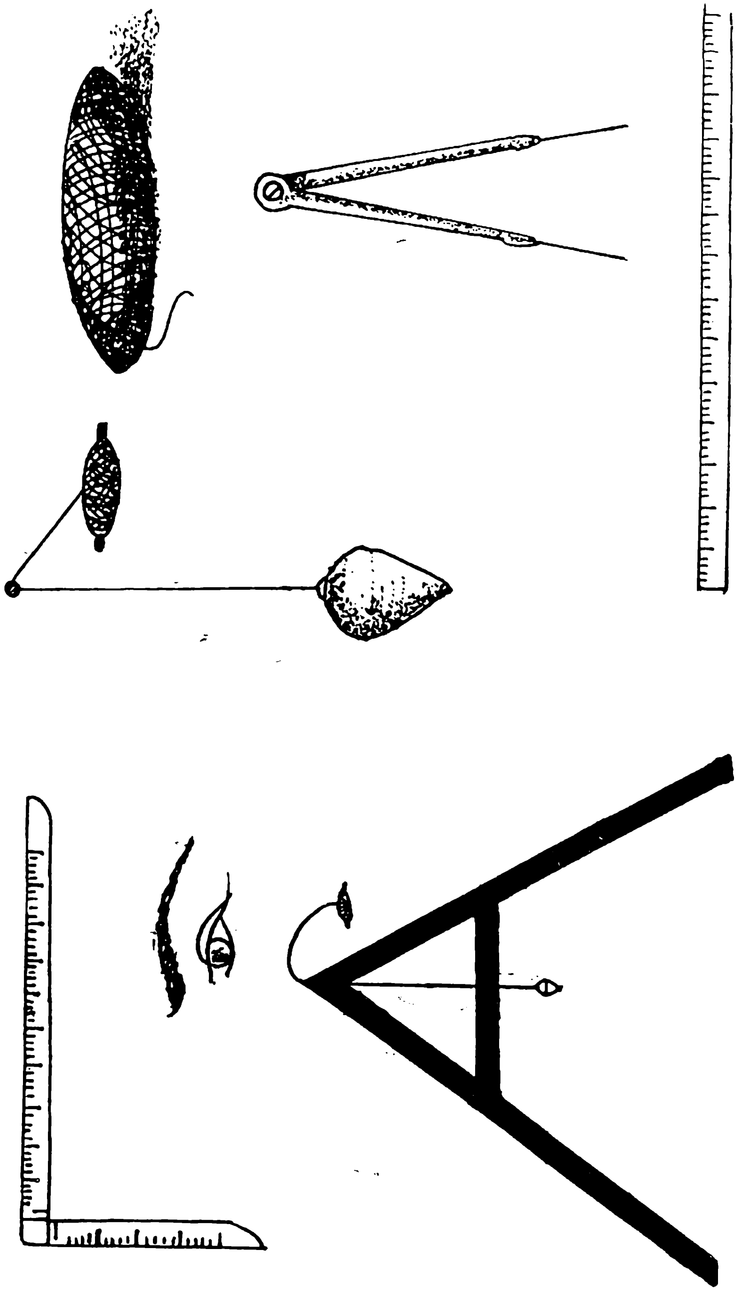

सूत्राग्रहक : शिल्पियों के लिए आवश्यक औजार।

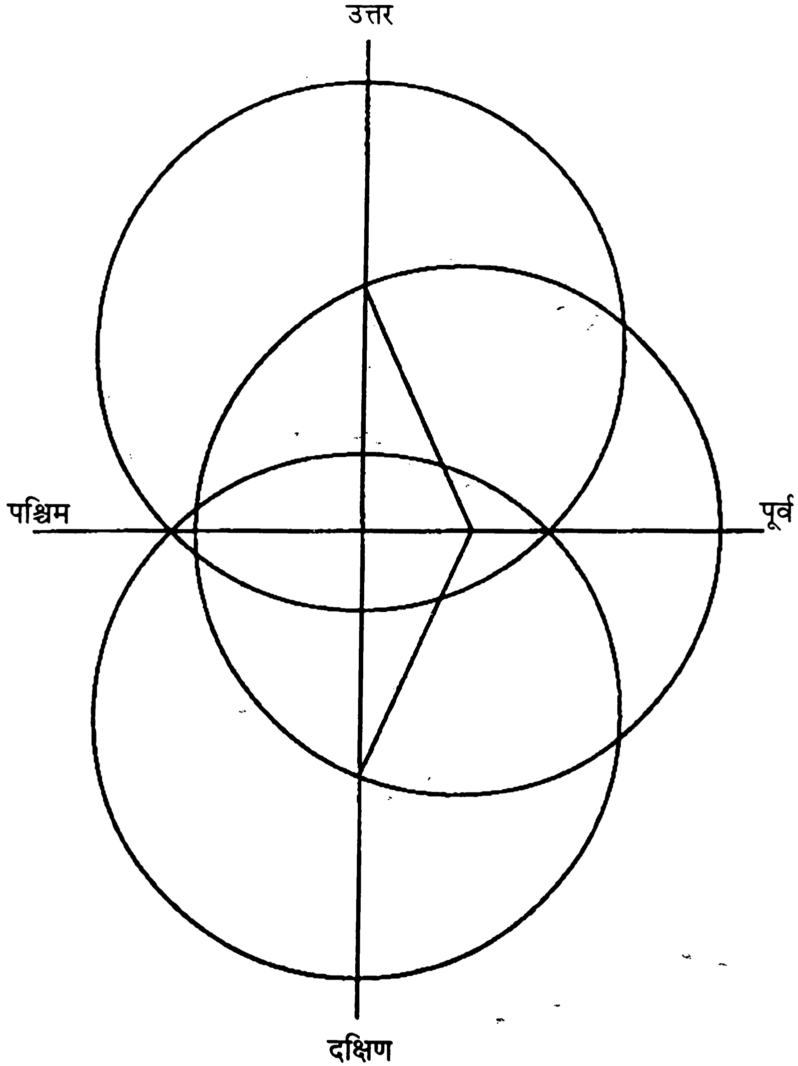

दिक्साधन के लिए परकाल से वृत्त रचना से मत्स्यरेखा के आधार पर पूर्वादि दिशाओं के ज्ञान की विधि।

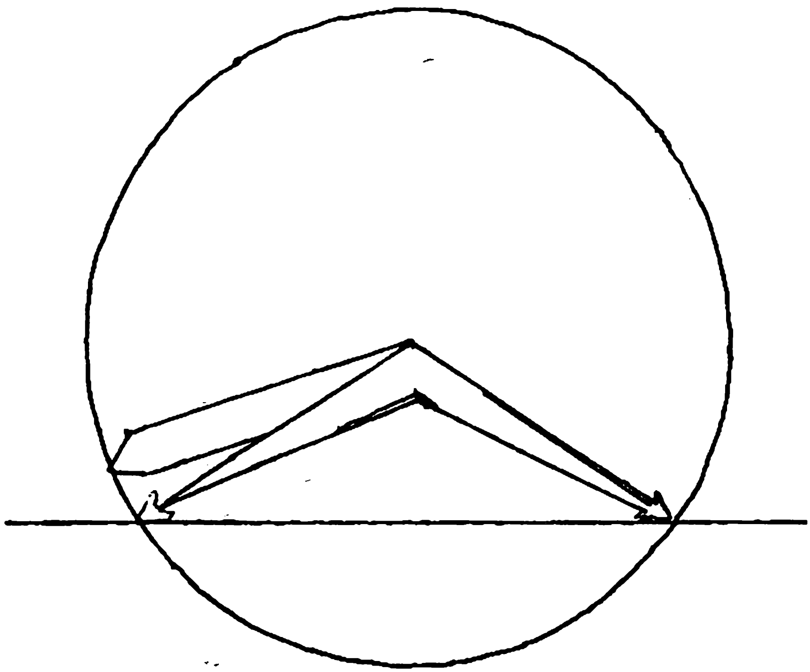

परकाल से वृत्तादि की रचना का कार्य।

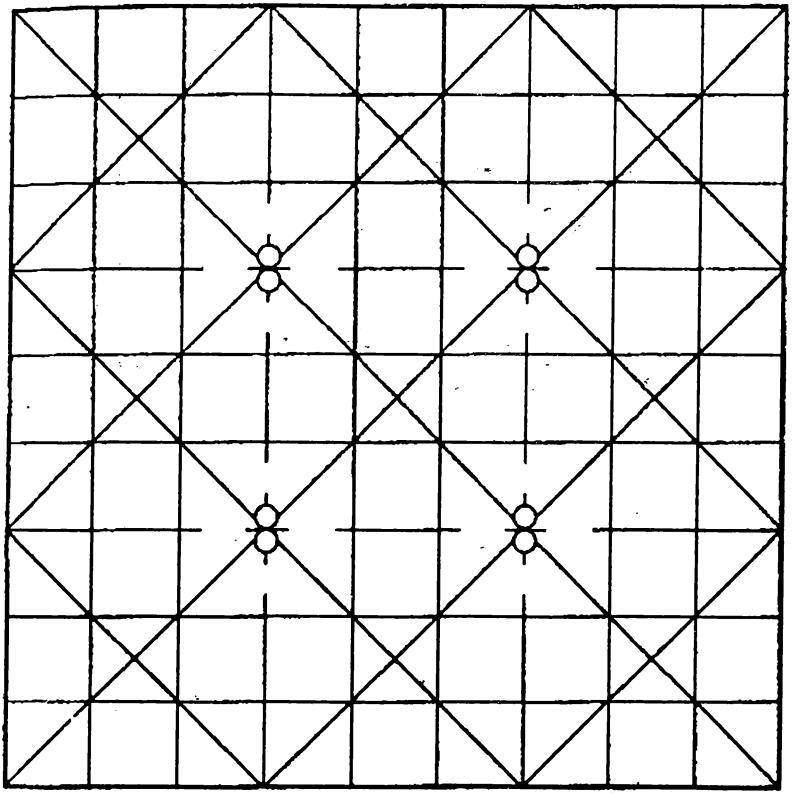

भवन में मर्मस्थान दिग्दर्शन।

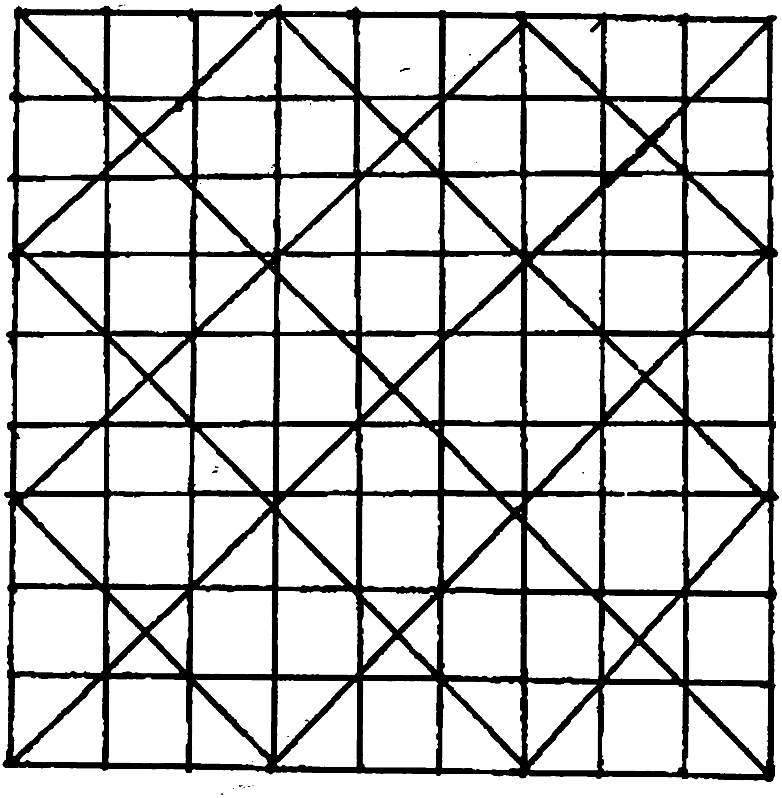

इक्यासीपद वास्तु में मर्म स्थान।

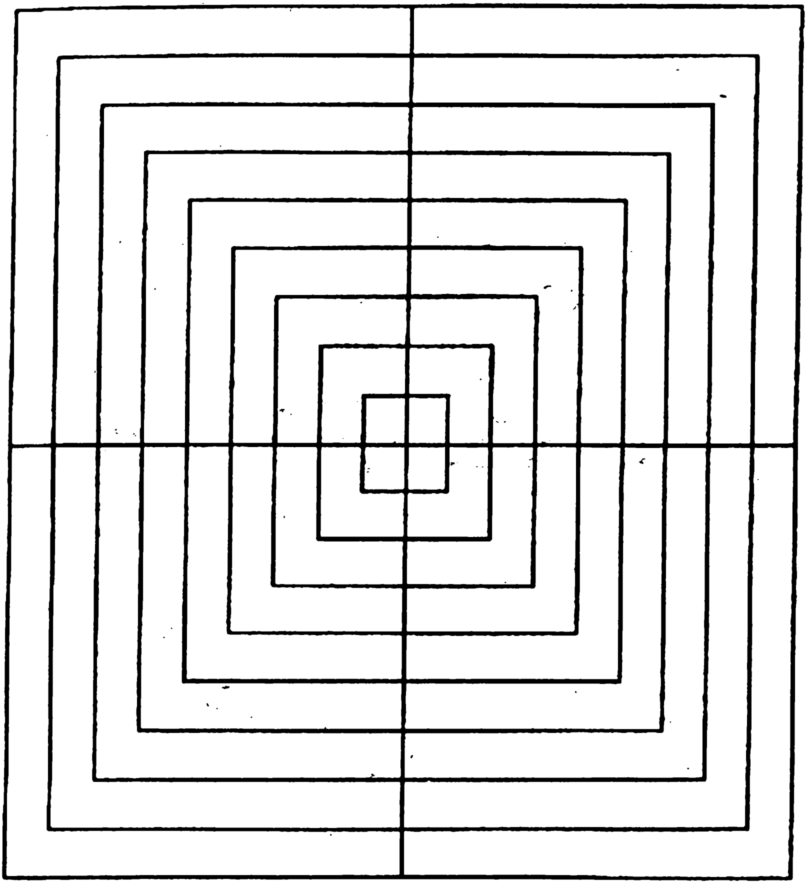

भवन में प्रयोजनीय वीथियाँ। अन्दर से बाहर की ओर क्रमशः 1. ब्रह्मवीथी 2. गणेशवीथी 3. अग्निवीथी 4. जलवीथी 5. नागवीथी 6. यमवीथी 7. कुबेरवीथी 8. देववीथी तथा 9. पिशाचवीथी।

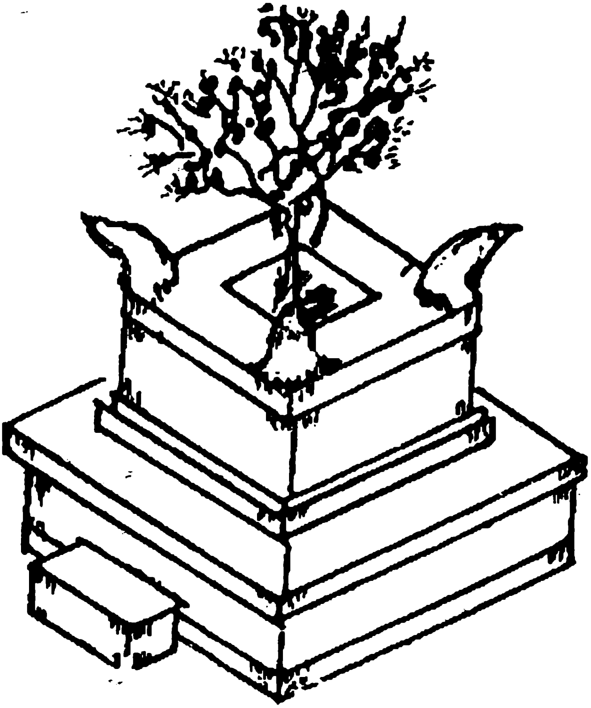

गृहयोग्य मल्लि-कुट्टिम या तुलसी क्यारा (वृन्दावन)।

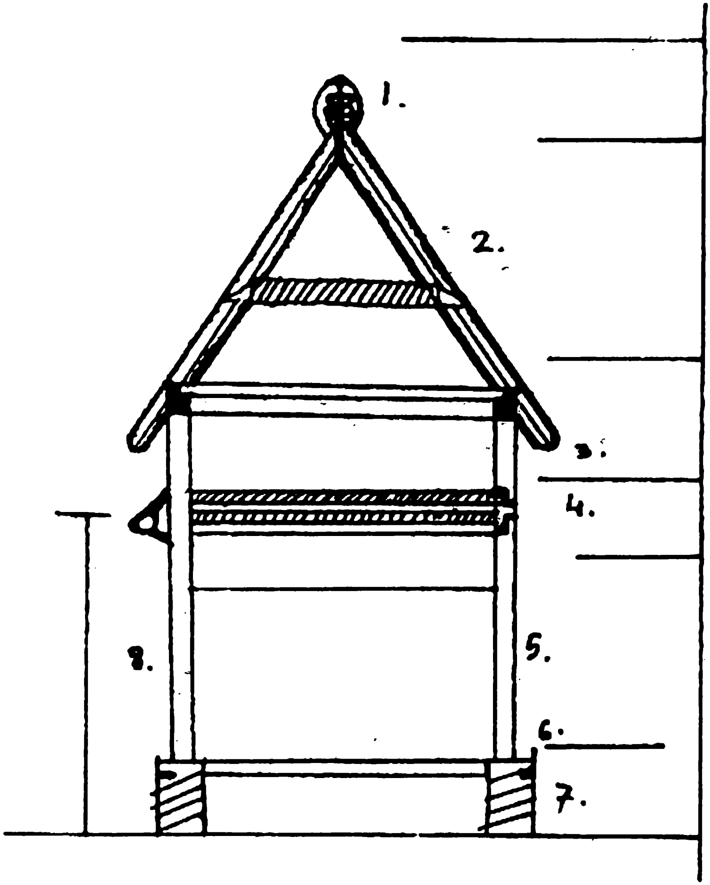

भवन के विभिन्न अङ्ग। ऊपर से क्रमशः 1. स्तूपी 2. शिखर 3. गला 4. प्रस्तर 5. स्तम्भ 6. अधिष्ठान 7. पत्रमान तथा 8. पादमान।

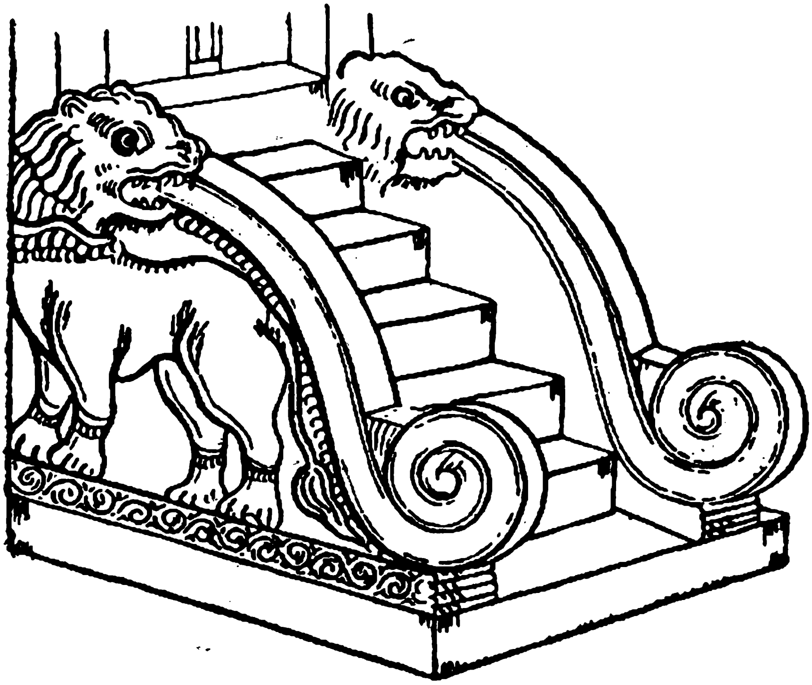

भवन में मुख सोपान रचना और अलङ्करण।

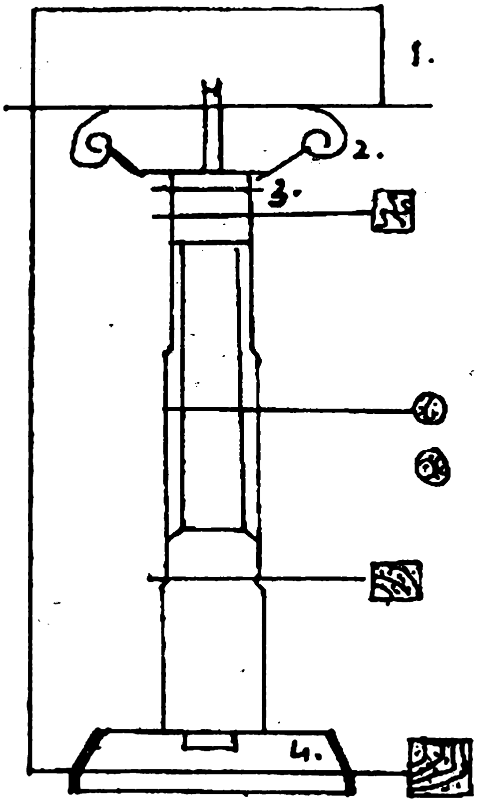

गृह में स्तम्भ की रचना और उसके अङ्ग। ऊपर से क्रमशः 1. उत्तर 2. दण्ड 3. पोतिका 4. ओमा (आधारक)

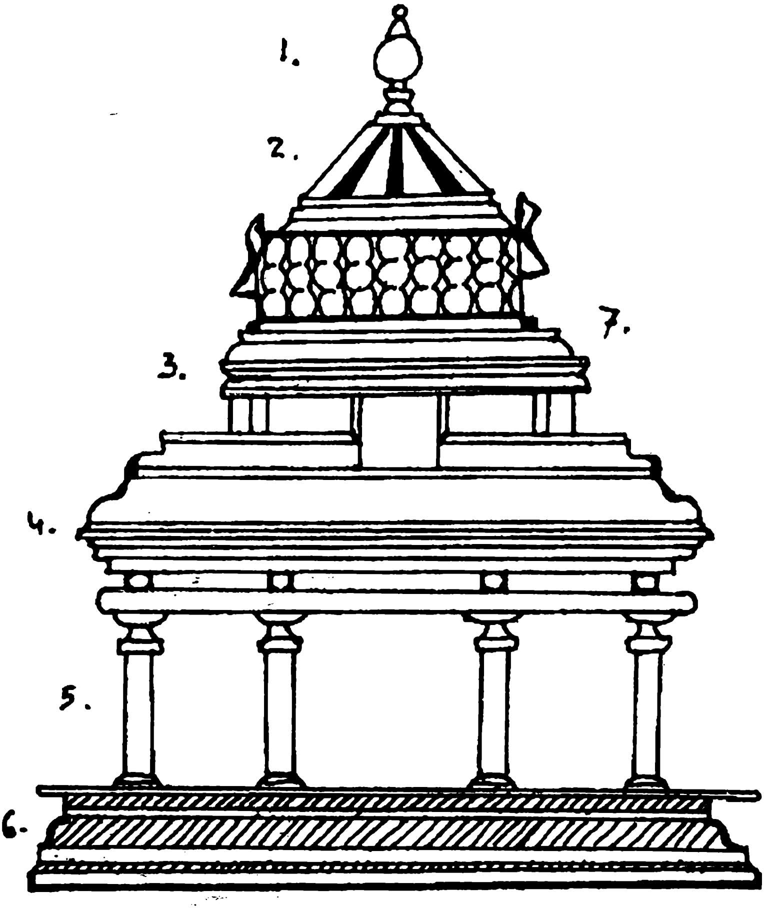

एकभूमिज भवन और उसके विभिन्न अङ्ग। ऊपर से क्रमशः 1. शिखा 2. अपिधान या शिरोप्रदेश 3. कन्धर या गला 4. प्रस्तर 5. स्तम्भ 6. अधिष्ठान या मसूर तथा 7. वेदिका।

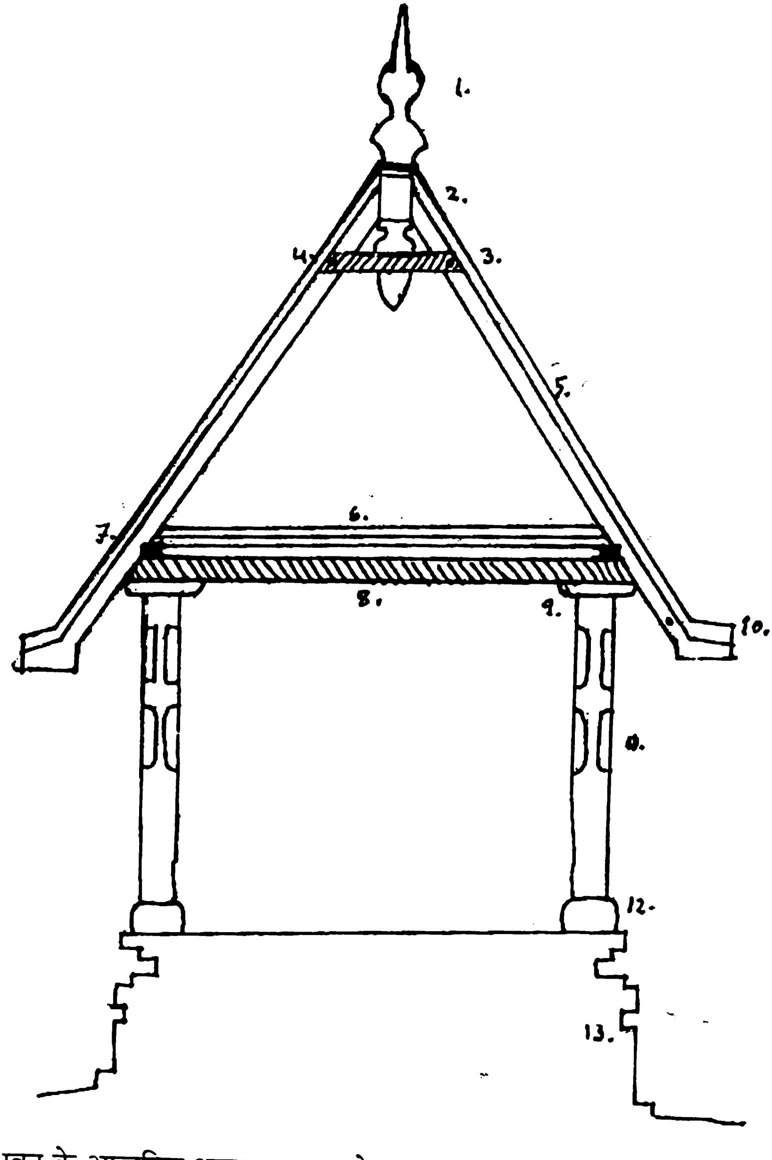

भवन के आन्तरिक अवयव। ऊपर से क्रमशः 1. स्तूपिका 2. कूट 3. वलय 4. बन्ध 5. लुपा 6. फलक 7. क्षुद्रोत्तर 8. तुला 9. पोतिका 10. नीव्र 11. स्तम्भ 12. पीठ 13. अधिष्ठान।

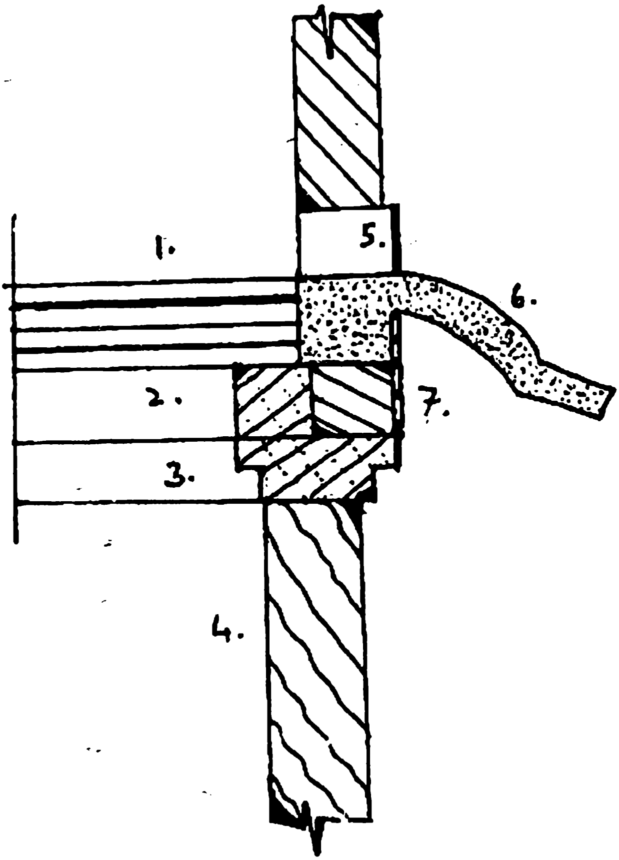

भवन में छत की रचना के अवयव। ऊपर से क्रमशः 1. छत 2. तुला 3. उत्तर 4. भित्ति 5. प्रति 6. कपोत 7. वलभी।

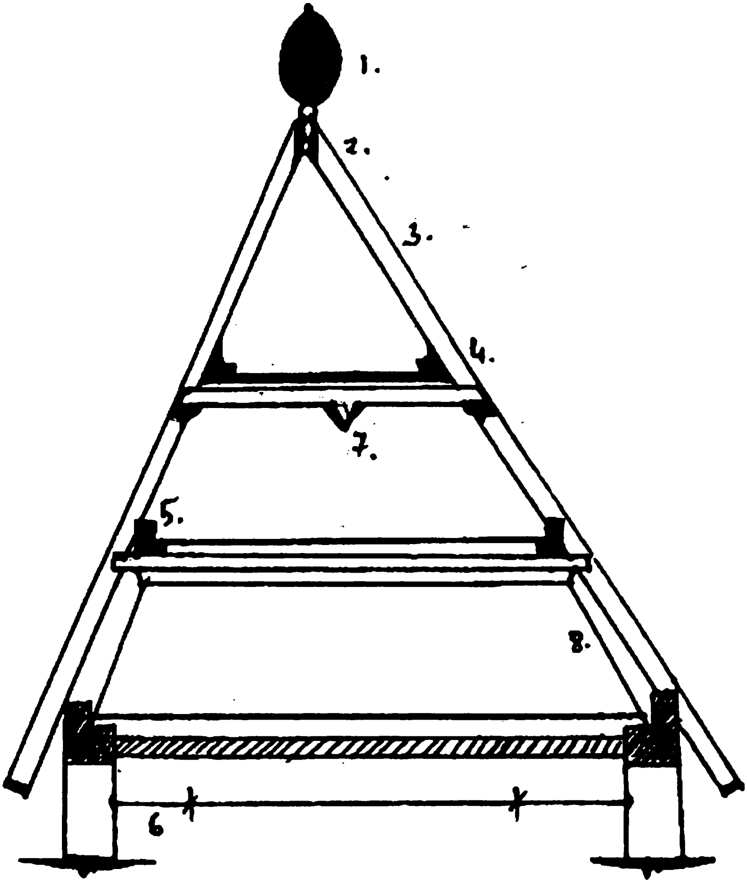

शिखर के अन्य अवयव। ऊपर से क्रमशः 1. कूट 2. वंश 3. लुपा
4. आरूढ़ोत्तर 5. क्षुद्रोत्तर 6. अलिन्द या अलिन्द्र 7. विष्कम्भ
8. विष्कम्भपाद 9. उत्तर।

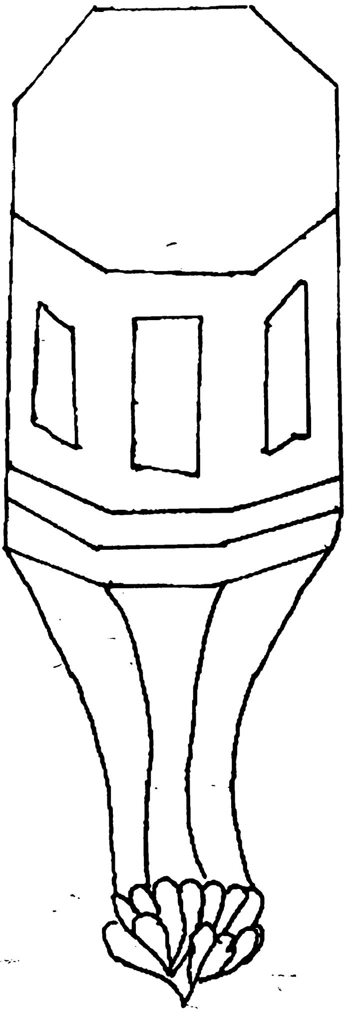

कूट और उसका धत्तूर-आकार।

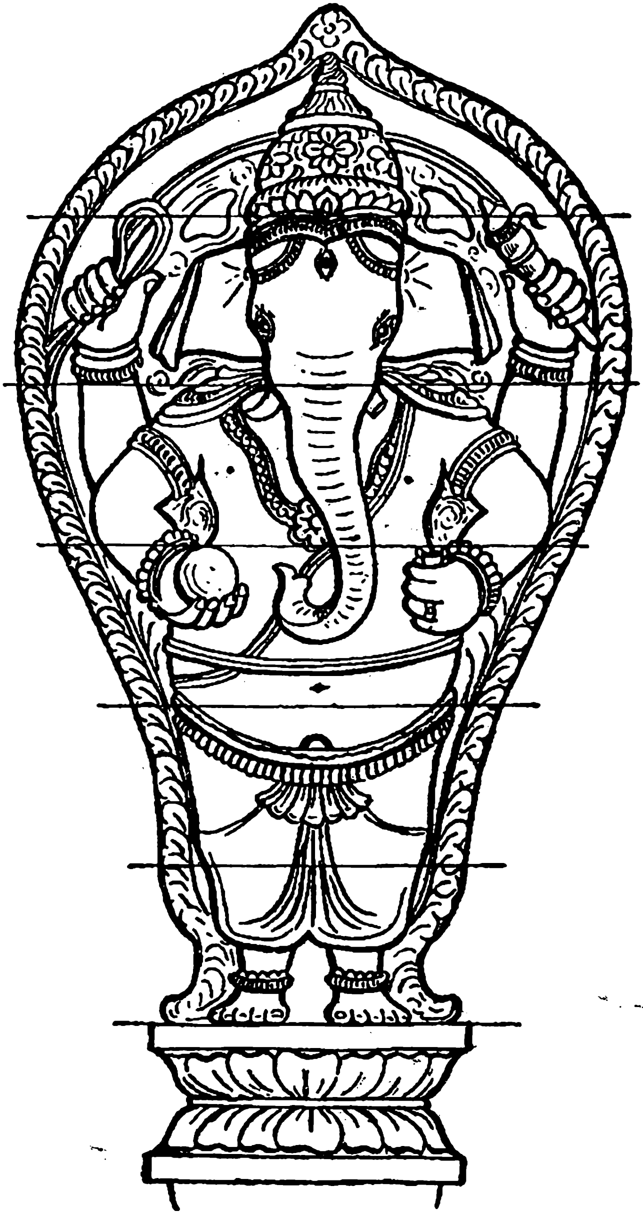

मङ्गलपट्ट पर बनाने योग्य स्थानक गणपति की प्रतिमा का भागानुसार विभाजन।

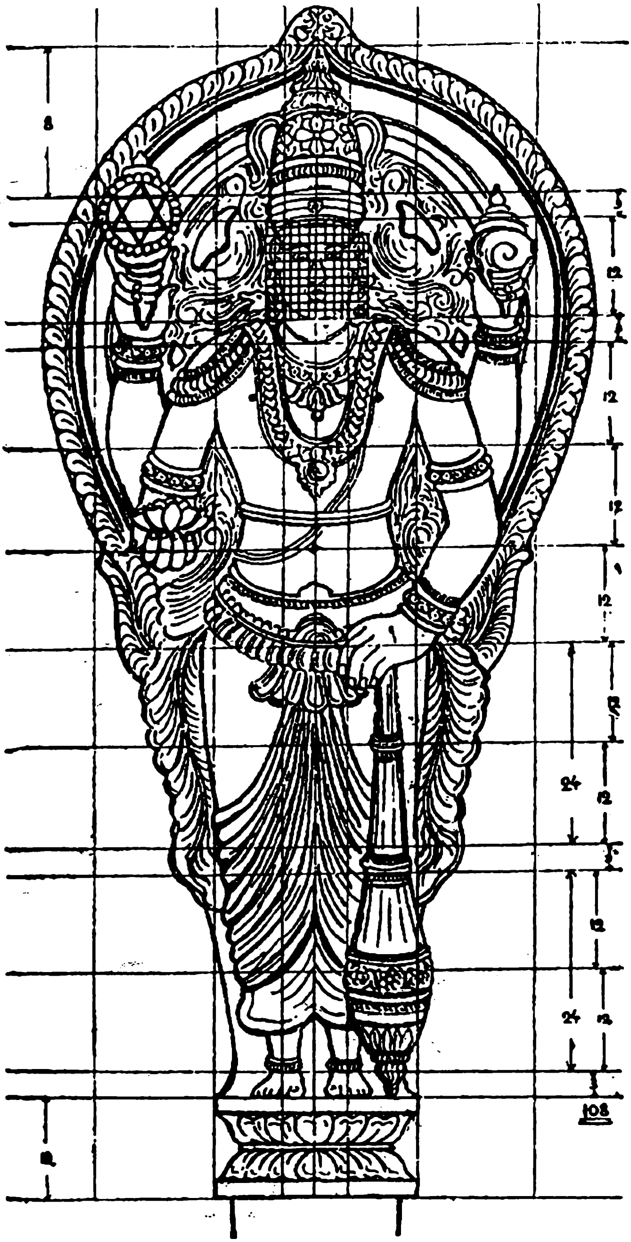

मङ्गलपट्ट पर बनाने योग्य यादव या विष्णु का स्वरूप और तालादि का प्रमाण।

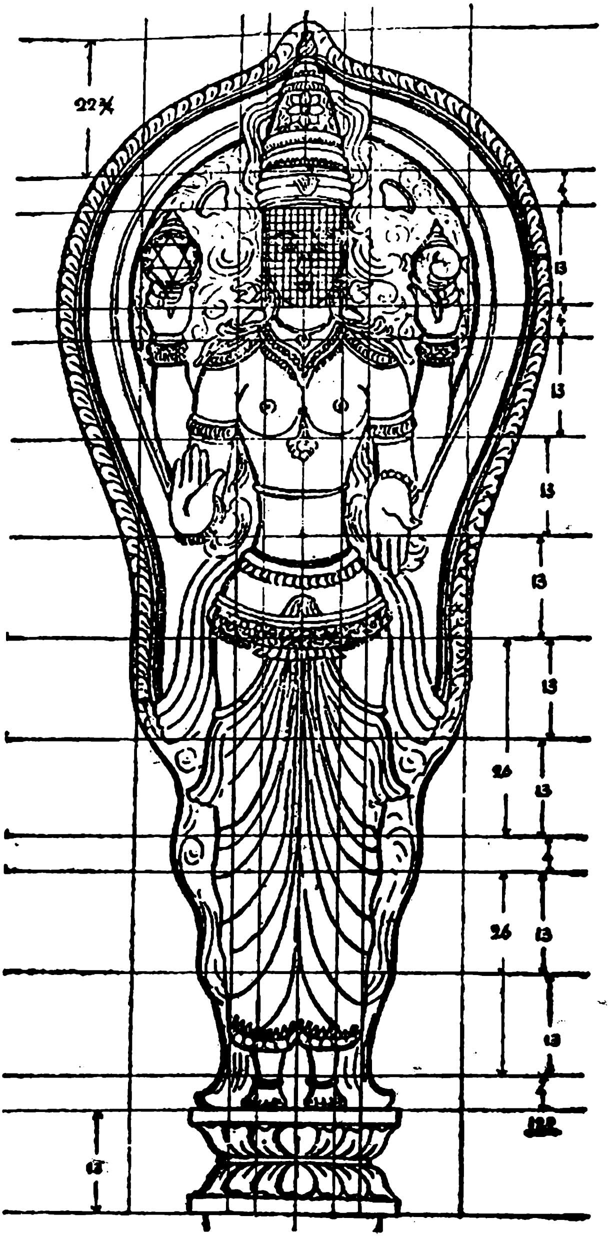

मङ्गलपट्टयोग्य पद्मालया की प्रतिमा और तालादि का प्रमाण।

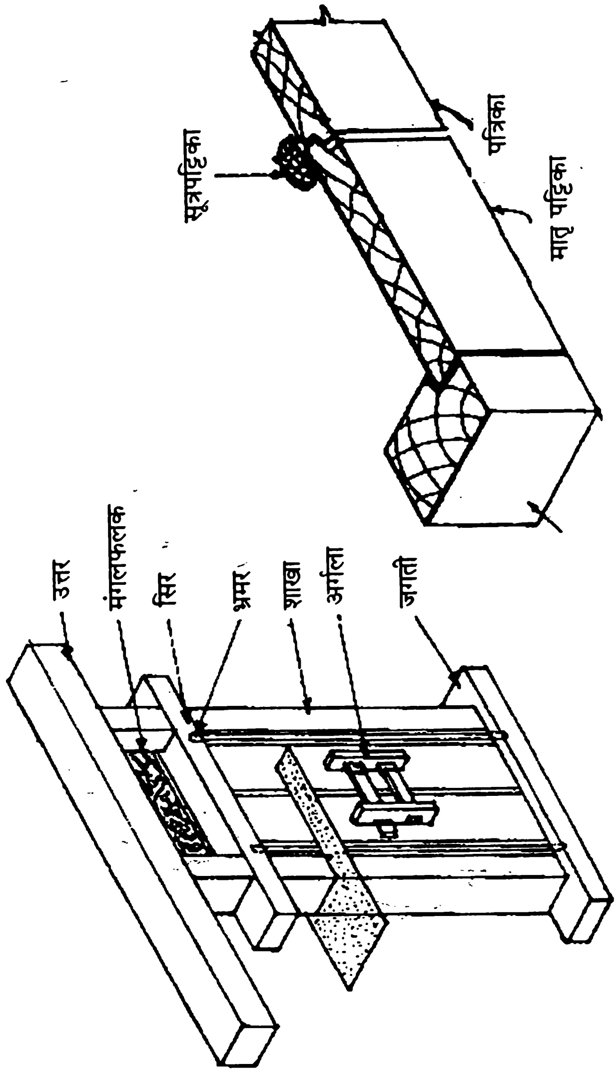

अंदर से किवाड़

किवाड़ों का संयोजन

द्वार पर किंवाड़ का आन्तरिक संयोजन।

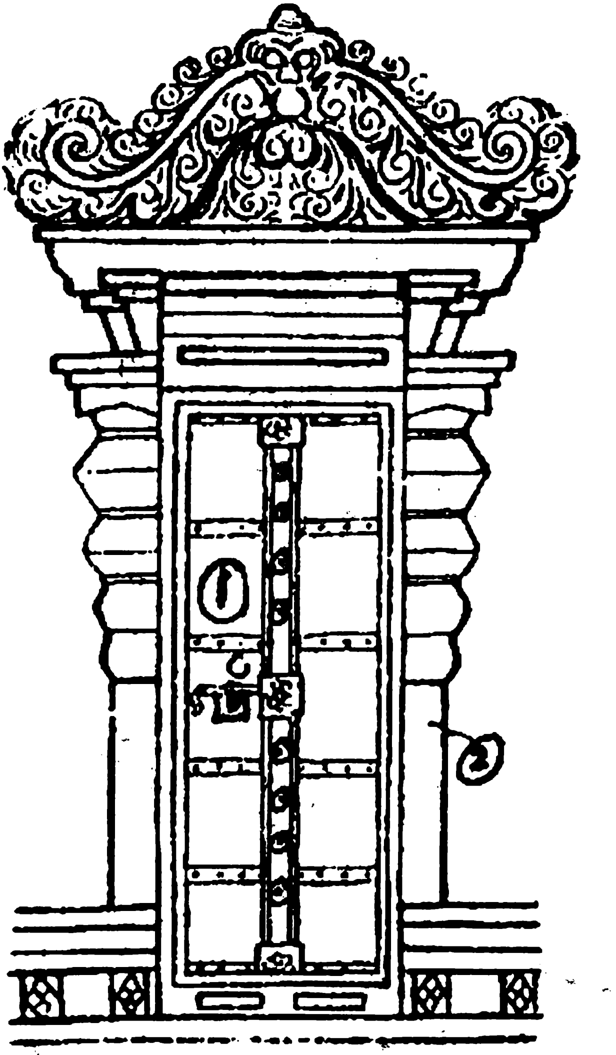

द्वार का बाह्य भाग और उसका संयोजन।

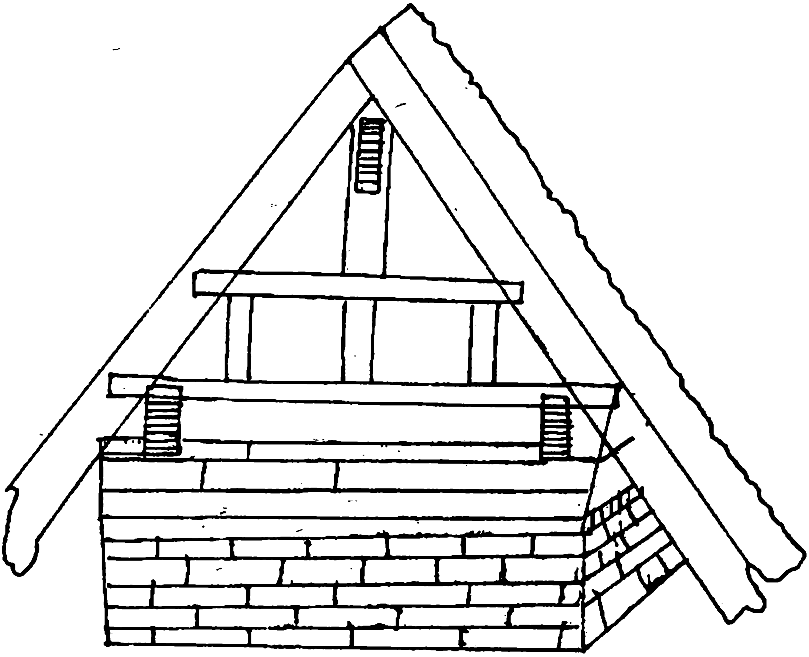

भवन में लुपा पङ्क्ति का संयोजन।

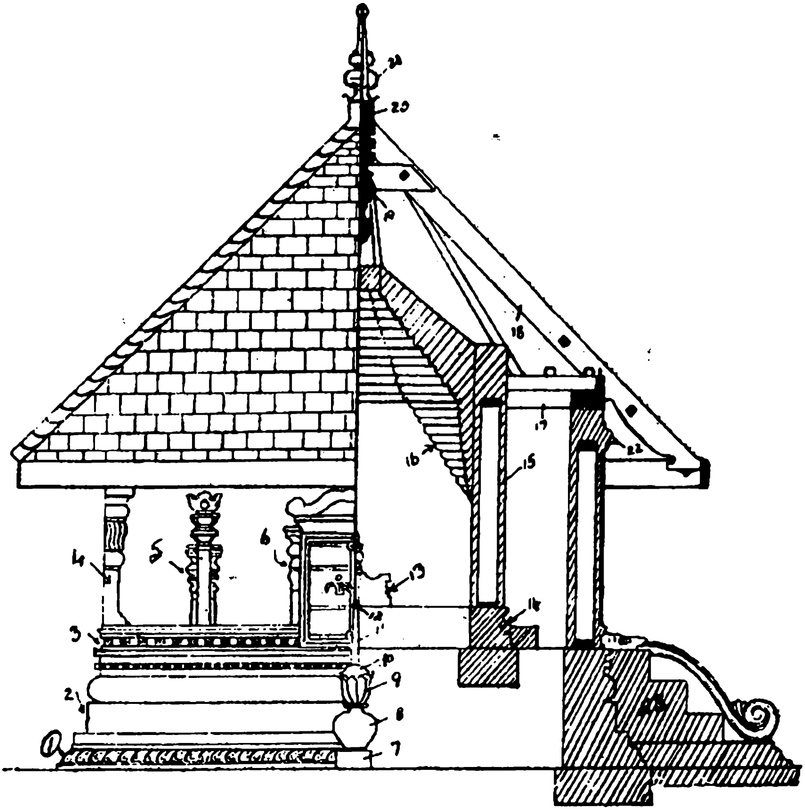

भवन में बाह्य और आन्तरिक रचनाओं का संयोजन।

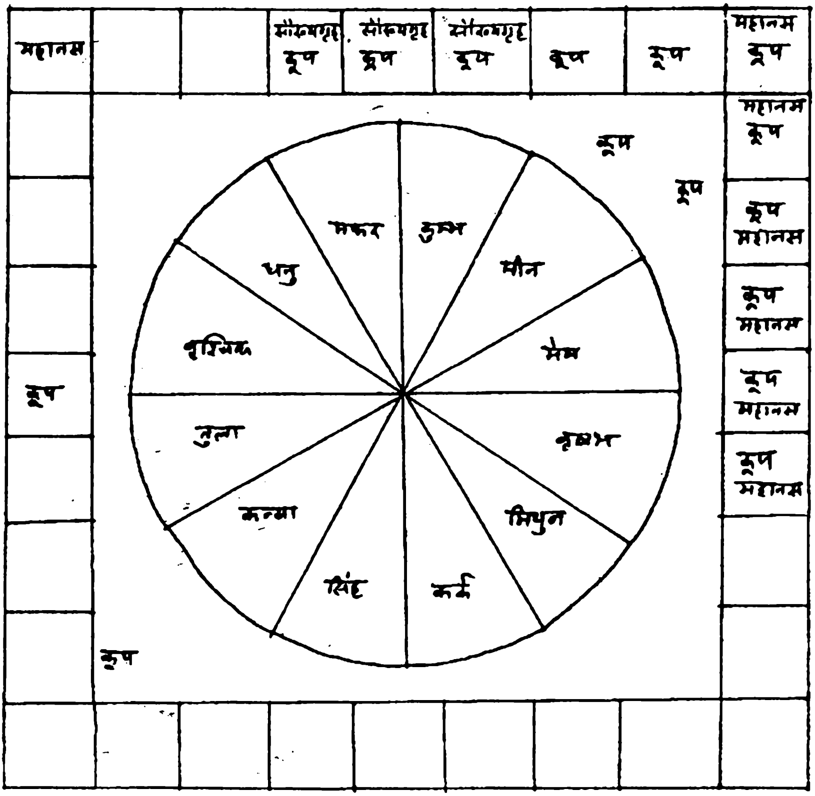

भवन में राशि व देवपदानुसार महानस व कूप का स्थान।

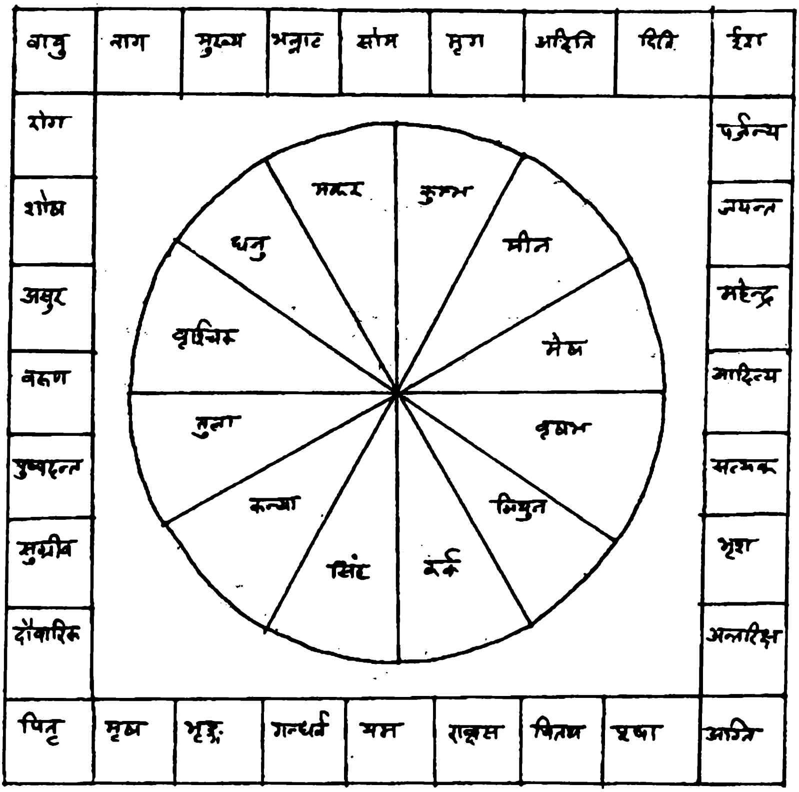

पद देवता और राशिगत स्थान।

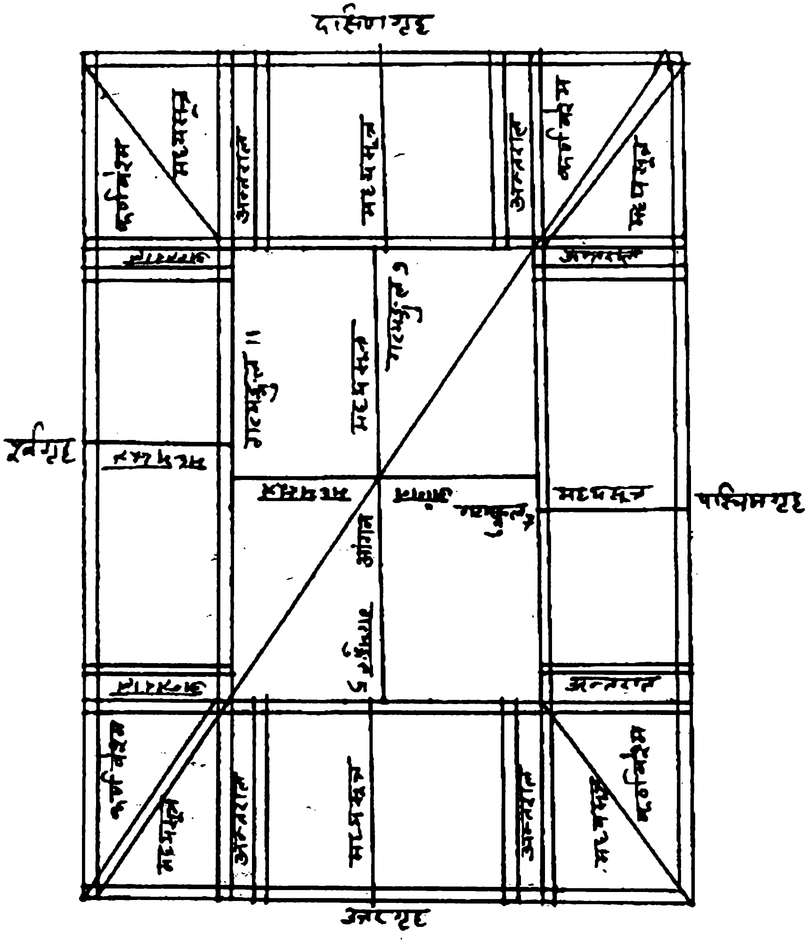

अष्टगृह निवेशन की विधि।

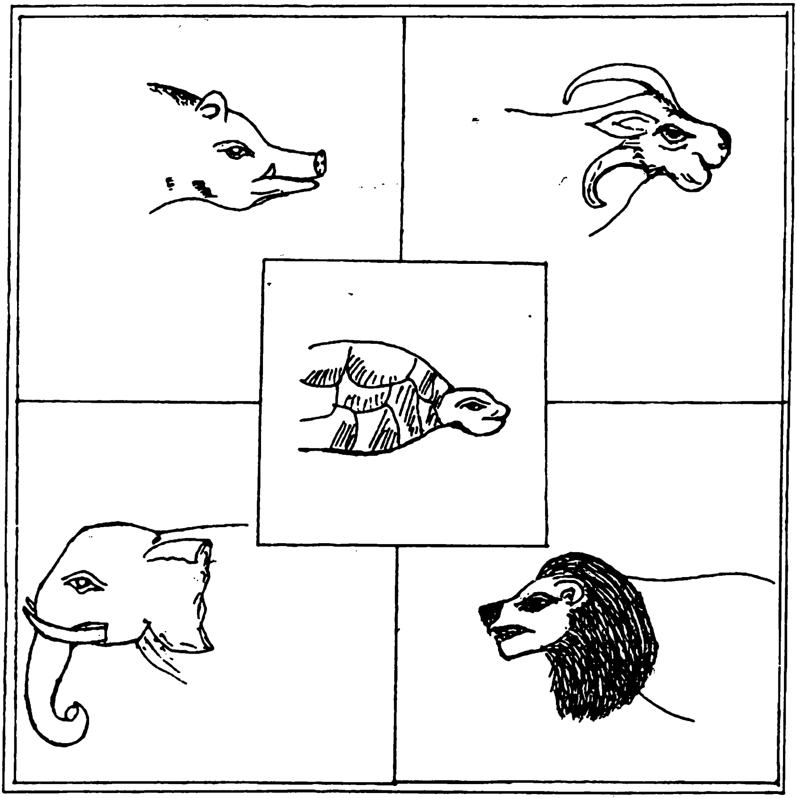

वास्तुदोष के निवारण के लिए लगाया जाने वाला पञ्चप्राणीमुखपत्र।

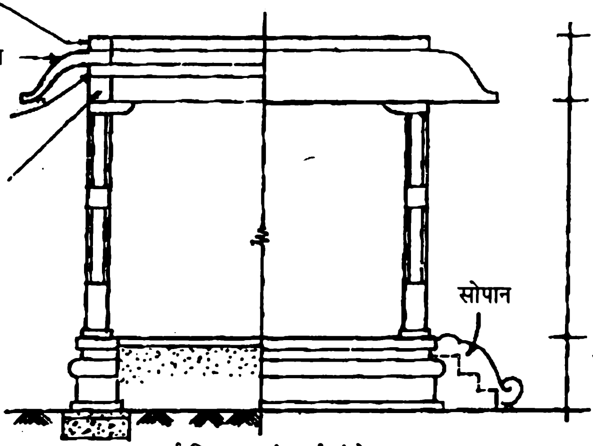

अर्द्ध विभाग एवं अर्द्ध संयोजन

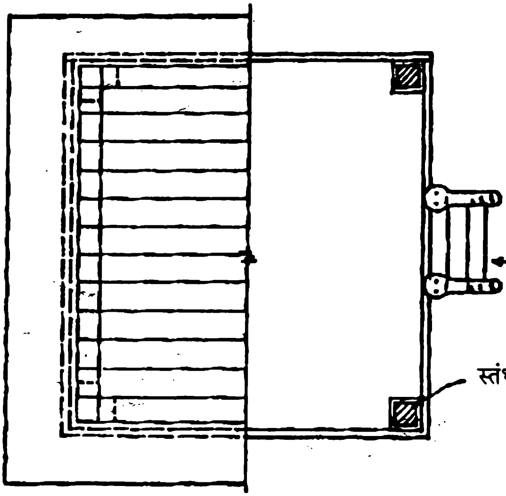

अर्द्ध आधार योजना और तलछंद

भवन में निर्माण योग्य मण्डप की रचना विधि।

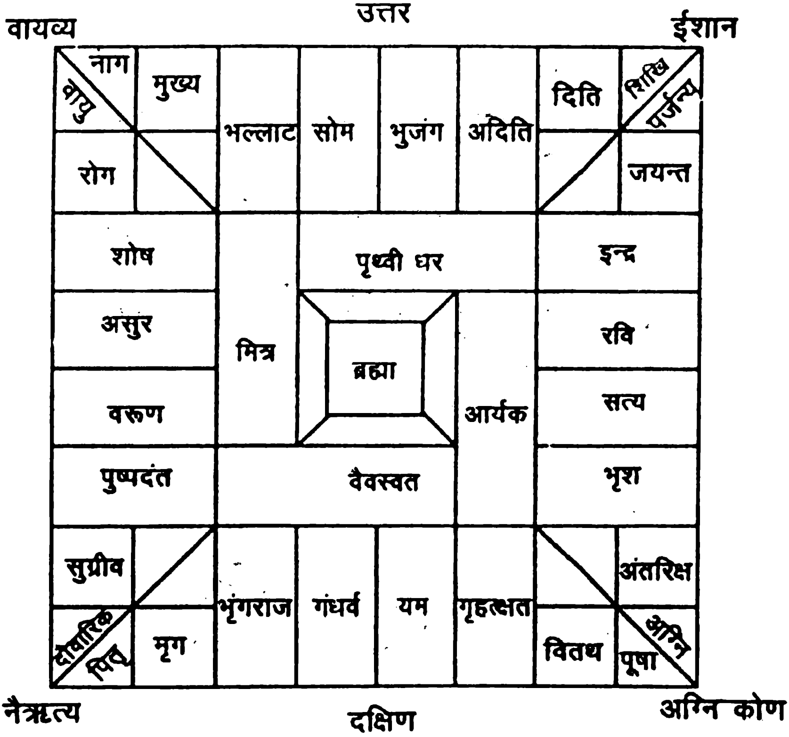

मयमतोक्त चतुषष्ठिपद वास्तुविन्यास

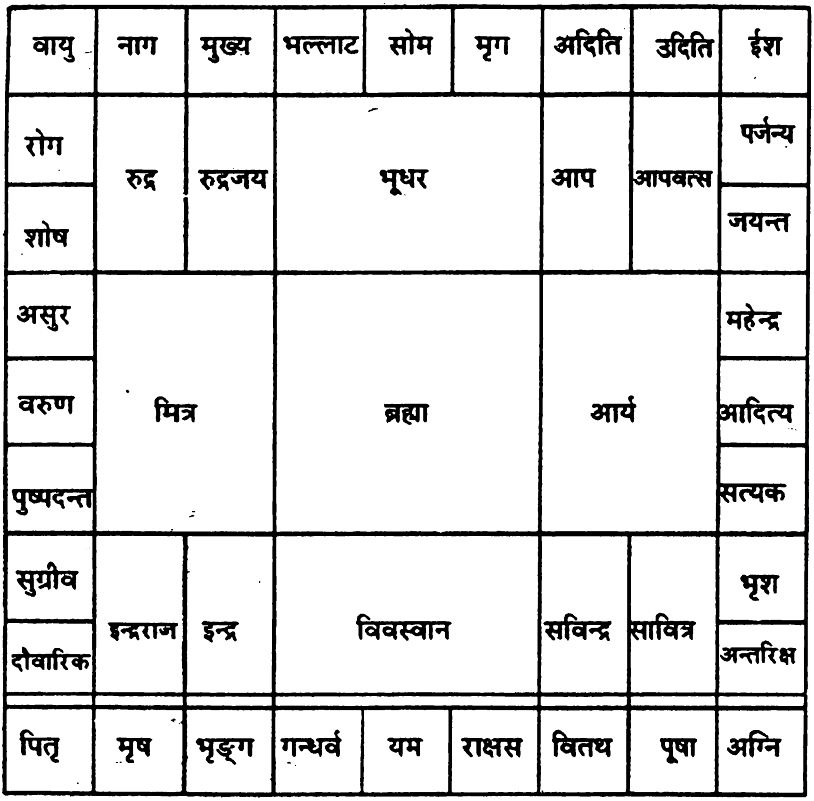

मयमतोक्त परमशायिक वास्तुपद विन्यास

द्विशाल भवन

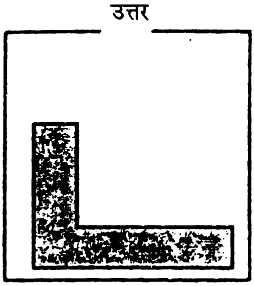

सिद्धार्थ
धनप्रद, शुभ

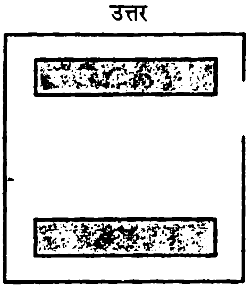

काच
जाति विरोध

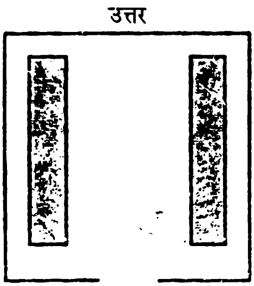

गृह चुल्ली
धन नाश

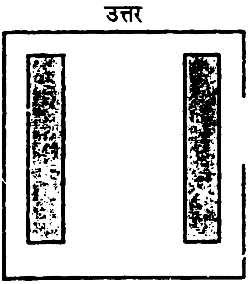

वात
कलह

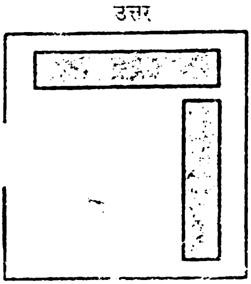

दण्ड
दण्ड व भय

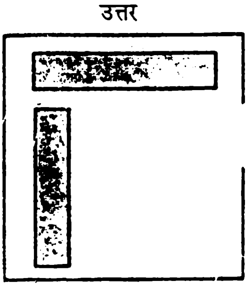

यमसूर्य
मृत्यु

त्रिशाल भवन

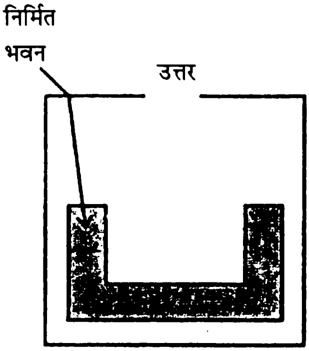

हिरण्य नाभ
अत्यंत शुभ

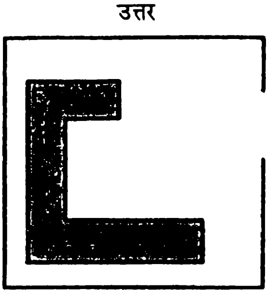

सुक्षेत्र
शुभ

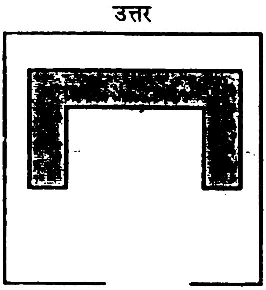

चुल्ली त्रिशालक
धन नाश

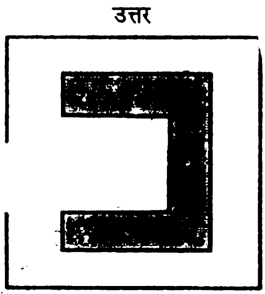

पक्षघ्न
सुतनाश, बैर

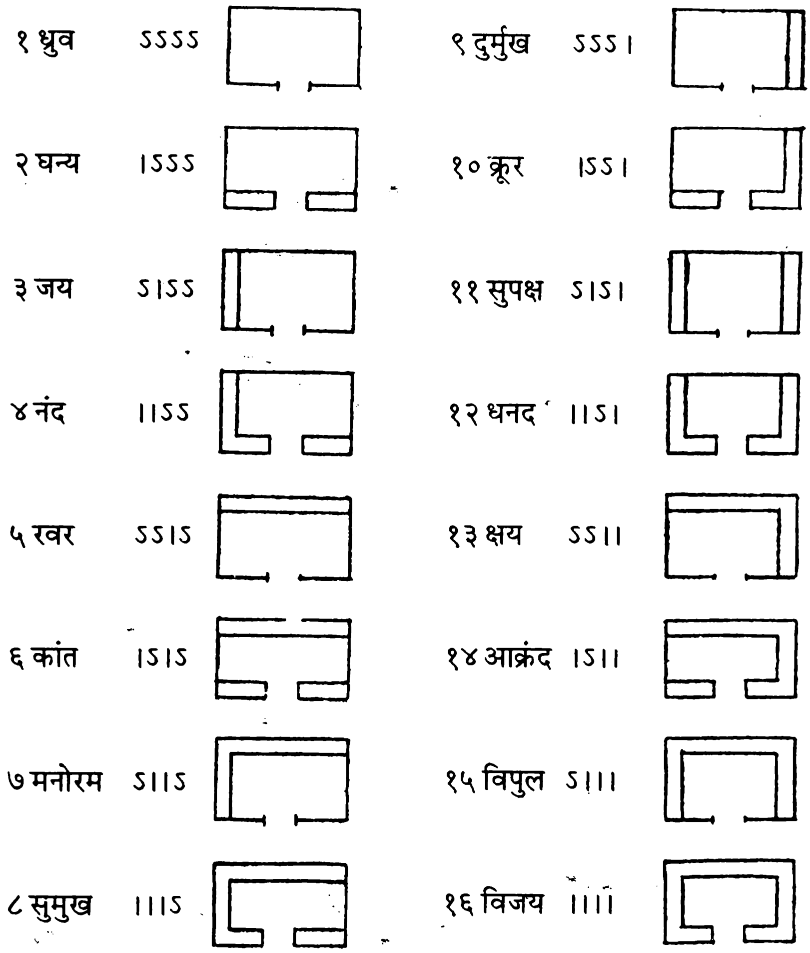
१ ध्रुव ऽऽऽऽ
२ धन्य ।ऽऽऽ
३ जय ऽ।ऽऽ
४ नंद ।।ऽऽ
५ खर ऽऽ।ऽ
६ कांत ।ऽ।ऽ
७ मनोरम ऽ।।ऽ
८ सुमुख ।।।ऽ
९ दुर्मुख ऽऽऽ।
१० क्रूर ।ऽऽ।
११ सुपक्ष ऽ।ऽ।
१२ धनद ।।ऽ।
१३ क्षय ऽऽ।।
१४ आक्रंद ।ऽ।।
१५ विपुल ऽ।।।
१६ विजय ।।।।

षोडश गृह स्वरूप

ओड्रसूत्रधारबउरीमहाराणाविरचितः विश्वकर्मीय

शिल्पशास्त्रम्

(भवन-स्थापत्य विषयक प्राचीन वास्तुग्रन्थ)

डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू'

'शिल्प' असामान्य अर्थसत्ता वाला शब्द है। इससे 'शास्त्र' शब्द का सम्पृक्त होना इस विषय को गंभीरता तो देता ही है, कला क्षेत्र के नाना रूपों को भी परिलक्षित करता है। शिल्प में कई विषय और तद्विषयक रूप आ जाते हैं। वाल्मीकि ने राम के लिए 'वैहारिकाणां शिल्पानां ज्ञाता' जैसी वैयक्तिक विशेषताओं का सङ्केत शिल्प के नाना, गूढ़ार्थों को दर्शाने के लिए किया है। शिल्प के विषयों में इस महाकाव्य में चित्रकला, तक्षणकला, वास्तुकला, सङ्गीत, रङ्गकर्म, नृत्य और स्थापत्य जैसे कई क्षेत्रों का चयन किया गया है और प्रमाण बताते हैं कि भारतीयों ने शिल्प के क्षेत्र में ब्राह्मणकाल में बहुत उन्नति कर ली थी।

इसी शिल्प में वास्तुकला का स्थान बहुत महत्वपूर्ण माना गया है। इसे वास्तुतत्त्व भी कहा गया है—इसमें सिद्धांत और व्यवहार दोनों समाविष्ट रहे हैं। शिल्पियों, स्थपतियों ने क्षेत्रीय स्थिति, देशाचार, आवश्यकता और महत्व को ध्यान में रखकर वास्तु-निवेशन किया। उनके सामने सिद्धांत के साथ ही व्यवहार ही रहे। इन सिद्धांतों में विश्वकर्मा ही नहीं, मयादि अट्ठारह और कभी-कभी इससे भी अधिक आचार्यों के मत भी दृष्टिगत रखे गए थे। वाल्मीकि सङ्केत देते हैं कि उस काल तक तक्षणमय स्थापत्य के लिए विश्वकर्मा का महत्व प्रतिष्ठित था और प्रतिमादि के लिए मय की कला उपमेयवत् थी।

इस ग्रन्थ का पहली बार संपादन और अंग्रेजी अनुवाद 1927 में शांतिनिकेतन में प्रोफेसर फणीन्द्रनाथ बोस ने किया था। उन्हें 1923-24 ई. में मयूरभञ्ज के भ्रमण के दौरान एक शिल्पी बड़ीया पाथर से इसके संबंध में जानकारी मिली थी। वह परंपरा से शिल्पशास्त्रों को लिए हुए स्थापत्य प्रविधियों के शिक्षण का कार्य करता था। उसी से प्रो. बोस को कटक प्रिंटिंग कम्पनी लिमिटेड से 1923 ई. में ही प्रकाशित 'शिल्पसार' नामक पुस्तक मिली जो उड़ीया लिपि में थी। यह भी शिल्पशास्त्रम् का ही एक पाठ था। उन्हें इसकी मातृकाओं के साथ ही प्रकाशित पाठ से मदद मिली थी।

उक्त पाठ में कई त्रुटियाँ थीं, षोडश-वास्तुभूमि के नाम भी त्रुटिपूर्ण थे। कई श्लोकों के अर्थों में तालमेल का भी अभाव था। अधिकांश श्लोकों पर उपशीर्षकों का भी अभाव था। फिर, उस समय तक विश्वकर्मा-मताधारित अधिकांश ग्रन्थों का प्रकाशन ही नहीं हुआ था, इस कारण श्लोकों, विषय-वस्तु की तुलना भी नहीं हो सकती थी। इस पाठ इन सभी कमियों की पूर्ति का विनम्र प्रयास किया गया है। मुहूर्त, आयगणित के अङ्गों, उपाङ्गों सहित अन्य विश्वकर्मीय और शिल्प ग्रन्थों की विशेषताओं के आलोक में इसके विभिन्न श्लोक-मतों की तुलना करने का प्रयास किया गया है। यथावश्यकता विश्वकर्मीय ग्रन्थ मतों को भी देकर छूटे पाठ को पूर्णता देने का उपक्रम किया है। यही नहीं, यथास्थान चक्र, रेखाचित्रादि भी देकर लघुकाय ग्रन्थ को बहुपयोगी बनाने और विषय को स्पष्ट करने का प्रयास भी किया है।

Also can be had from : **Chowkhamba Sanskrit Series Office,** Varanasi.

ISBN : 81-218-0200-8 Price : Rs. 175.00

designed by Shreyashi GRAPHICS, mo. 9839814784